'वतिप्' प्रत्यय के ग्रहण किये जाने पर भी उपमा श्रौती ही होती है।

'तेन तुल्यं मुखम्' इत्यादावुपमेये एव 'तत्तुल्यमस्य' इत्यादौ चोपमाने एव 'इदं च तच्च तुल्यम्' इत्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात्तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी तद्वत् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इत्यनेन विहितस्य वतेः स्थितौ।

'तेन तुल्यं मुखम्' अर्थात् उस (कमल) के तुल्य (कामिनी का) मुख है, इस प्रकार के वाक्य में तुल्य शब्द के व्यापार का विराम उपमेय मे ही होता है, 'तत्तुल्यमस्य' अर्थात् वह (कमल) इस (कामिना के मुख) के तुल्य है इस प्रकार के वाक्यों में तुल्य शब्द के व्यापार का विराम उपमान ही में होता है और 'इद च तच्च तुल्य' अर्थात् यह (कमल) और वह (कामिनी का मुख) तुल्य है। इस वाक्य मे तुल्य शब्द के व्यापार का विराम उपमान और उपमेय दोनों मे होता है। अतः इन उक्त उदाहरणों में तुल्य इत्यादि शब्दों के व्यापार का विराम उपमान ही में, उपमेय ही मे, अथवा दोनों ही में होता है। इस कारण साधारण धर्म सम्बन्ध के समता की प्रतीत का अनुसन्धान करने से तुल्यता का ज्ञान उत्पन्न होता है, अतएव ऐसे प्रकरणों में साधर्म्य का बोध अर्थ द्वारा होता है। तदनुसार तुल्यादि शब्दों के उपयोग स्थल में उपमा आर्थी मानी जाती है, वैसे ही 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५।१।११५) इस पाणिनि सूत्र द्वारा प्रयुक्त 'वतिप्' प्रत्यय के ग्रहण करने पर भी उपमा आर्थी ही होती है।

'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इति नित्यसमासे इवशब्दयोगे समासगा। क्रमेणोदाहरणम्।

'इव' इस उपमावाचक शब्द के साथ आये हुए शब्दों का नित्य समास बना रहता है, विभक्तियों का लोप भी नहीं होता और पूर्व पद में प्रकृति (समासाभाव की अवस्था) का ही स्वर बना रहता है। कैयट के उक्त वार्त्तिक के प्रमाणानुसार 'इव' शब्द के साथ नित्य समास

श्रेय स्वर्गीय श्रीमान् बड़ौदा नरेश महोदय को है। उनका यह हिन्दी प्रेम भारत के अन्य हिन्दी-प्रेमी श्रीमानों के लिए अनुकरणीय है।

प्रयाग

अप्रैल २५, १९४३

रामचंद्र टंडन

साहित्य मंत्री।

किया और पुस्तक को अधिकाधिक उपयोगी बनाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की। आज इस रूप मे काव्यप्रकाश को पाठकों के हाथों में समर्पित करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। यहाँ स्वर्गीय मिश्र जी के बारे मे चार शब्द बतला देना अनुचित न होगा।

स्वर्गीय श्री हरिमंगल जी मिश्र का जन्म पौष कृष्ण १, शनिवार संवत् १९३२ विक्रमी को काशी से ३ कोस दक्षिण गंगा जी के तट पर मिर्जापुर नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता पं० सरयूप्रसाद जी मिश्र संस्कृत के प्रौढ विद्वान् थे। मिश्र जी की शिक्षा प्रयाग में हुई। म्योर सेंट्रल कालेज से बी० ए० तथा एम० ए० की डिग्रियाँ उन्होंने प्राप्त कीं। और ट्रेनिंग कालेज की पढ़ाई समाप्त कर कुछ दिन मथुरा हाई स्कूल तथा इसके बाद काशी के क्वीस कालेज मे अध्यापक नियुक्त हुए। वहाँ से प्रयाग के नार्मल स्कूल मे इनकी नियुक्ति हुई और जीवन के अधिकांश दिन इन्होंने यहीं बिताये। मृत्यु के ४ वर्ष पूर्व पुनः क्वींस कालेज में इनकी नियुक्ति हो गई थी। मिश्र जी मे विद्या का व्यसन बाल्यकाल से ही था, बँगला एवं संस्कृत की अनेक पुस्तकों के अनुवाद इनके किये हुए हैं, जिनमे उत्तररामचरित, उन्मत्तराघव, महिम्नस्तोत्र, कुमारसम्भव, हंसदूत तथा उद्धवसन्देश आदि उल्लेखनीय हैं। जीवन के अंतिम दिनों तक ये परीक्षार्थी विद्यार्थियों को निःशुल्क रूप से अपने घर पर पढ़ाया करते थे। सादगी के तो आदर्श थे। आधुनिक होते हुए भी सरकस, सिनेमा, थियेटर आदि कभी नहीं देखने गये। आज अपनी कृति इस रूप में पाठकों के हाथो मे देख अवश्य उनकी आत्मा सन्तुष्ट होगी।

स्वर्गीय श्रीमान् बड़ौदा नरेश महाराज सयाजीराव गायकवाड़ महोदय ने बम्बई के सम्मेलन में स्वयं उपस्थित होकर पाँच सहस्र रुपये की सहायता सम्मेलन को प्रदान की थी उसी सहायता से सम्मेलन एक 'सुलभ साहित्य माला' के प्रकाशन का कार्य कर रहा है। इस 'माला' के द्वारा हिन्दी साहित्य की जो ठोस सेवा एवं श्रीवृद्धि हो रही है उसका

श्रेय स्वर्गीय श्रीमान् बड़ौदा नरेश महोदय को है। उनका यह हिन्दी प्रेम भारत के अन्य हिन्दी-प्रेमी श्रीमानों के लिए अनुकरणीय है।

रामचद्र टंडन
साहित्य मंत्री।

प्रयाग
अप्रैल २५, १९४२

विषय-सूची

—०—

प्राक्कथन

इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत साहित्य परम गहन और मनोरञ्जक है। परन्तु कुछ क्लिष्ट होने के कारण साधारण योग्यतावाले आलसी और निरुत्साह मनुष्यों की समझ मे नहीं आता। पर अब भी ससार मे इस विषय के समझनेवाले विद्यमान हैं। उनकी सख्या चाहे क्रमशः घट रही हो।

काव्यप्रकाश के रचयिता वाग्देवतावतार पण्डितशिरोमणि मम्मटाचार्य जी उसी काशीपुरी के निवासियो के शिष्य हैं, जिनके बीच सस्कृत-साहित्य तथा दर्शन शास्त्र का प्रचार सनातन से चला आ रहा है। मम्मट भट्ट जी ने काशीपुरी ही मे निवास करके तर्कसग्रह नामक न्याय की पुस्तक के रचयिता अन्नंभट्ट की भाँति, विद्याध्ययन किया था। जान पड़ता है कि मम्मट भट्ट काश्मीर देश के निवासी थे। क्योंकि इनका नाम जैयट, कैयट, वज्रट, उव्वट, उद्भट, रुद्रट, धम्मट, अल्लट, कल्लट, भल्लट, लोल्लट, कल्हण, विल्हण, शिल्हण इत्यादि प्राचीन कश्मीरी पण्डितों के नाम के समान सुनाई पड़ता है। मम्मट भट्ट ने काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास मे सन्धि की अश्लीलता के उदाहरण मे जो निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः।
अयमुत्पतते पत्री ततोऽत्रैवरुचिङ्कुरु॥

इससे प्रकट होता है कि वे काशी और कश्मीर दोनों स्थानों की प्रचलित भाषाओं से परिचित थे और अनुपम विद्वान् थे। विशेपकर इनकी व्याकरण शास्त्र में असाधारण व्युत्पत्ति थी। सस्कृत साहित्य का रसिक ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो काव्यप्रकाश का नाम न जानता हो?

लोग कहते हैं कि खण्डनखण्डखाद्य तथा नैषधीयचरित के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष मम्मट भट्ट के भागिनेय थे। यदि यह बात

सत्य हो तो स्वीकार करना पड़ेगा कि मम्मट भट्ट उत्तरी भारतवर्ष के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। क्योंकि श्रीहर्ष कवि कान्यकुब्ज ही थे; और ब्राह्मणों में अन्यदेश तथा जातिवालों के साथ परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध असम्भव है। श्रीहर्ष उन पाँच कान्यकुब्ज ब्राह्मणों मे से हैं जो राजा आदिशूर के समम में बङ्गदेश भेजे गये थे। अतएव बहुत सम्भव है कि इन्हीं के कुछ सम्बन्धी कश्मीर में जा बसे हों और मम्मट भट्ट जी भी उन्हीं कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में से रहे हों। प्राचीन इतिहासों से इस बात का पता चलता है कि एक बार श्रीहर्ष कवि कश्मीर भी गये थे। परन्तु वे कश्मीरी भाषा नहीं जानते थे। संस्कृतज्ञों मे ऐसी भी प्रसिद्धि है कि जब मम्मट भट्ट काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में काव्य विषयक दोषों के उदाहरण प्रदर्शन का विषय समाप्त कर चुके तब श्रीहर्ष ने अपने मातुल को स्वरचित नैषधीयचरित काव्य दिखलाया। मम्मट भट्ट जी ने उस काव्य को देखकर खेद प्रकट किया कि यह ग्रन्थ मुझे पहले ही देखने को क्यों न मिला? यदि पहिले ही मिल गया होता तो मुझे काव्य विषयक दोषों का उदाहरण खोजने के लिये अनेक ग्रन्थों के अध्ययन का परिश्रम न उठाना पड़ता। भट्ट जी के कथन का तात्पर्य यह था कि नैषध काव्य में काव्य सम्बन्धी प्रायः सभी दोषों के उदाहरण वर्तमान थे। मम्मट भट्ट ने दृष्टान्त की रीति से नैषधीयचरित काव्य के द्वितीय सर्ग के ६२वें श्लोक को उठाया था। वह श्लोक यह था—

तव वर्त्मनि वर्तता शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीया समये वयं वयः॥

यहाँ पर 'तव वर्त्मनि वर्तता शिवं' (अर्थात् हे हंस! मार्ग में तुम्हारा कल्याण होता रहे) इस भाग को 'तव वर्त्म निवर्तताां शिवं' (अर्थात् तुम्हारे मार्ग से कल्याण निवृत्त हो) इस प्रकार पलटकर उससे विपरीत और अमङ्गलसूचक अर्थ प्रकट किया। निस्सन्देह दोषज्ञो (पण्डितों) का यही नैपुण्य है कि किसी की कैसी भी भूल उनकी आँखों के गोचर

हुए विना नहीं रहती।

वास्तव मे मम्मट भट्ट जी ने काव्यप्रकाश में उल्लिखित प्रत्येक विषय के लिये उदाहरण चुनने में बहुत अधिक परिश्रम किया है। इसमें अनेक प्राचीनतम अलङ्कार ग्रन्थों के रचयिता लोगों के मतों का उल्लेख किया गया है। जिनमे से मुख्य-मुख्य ग्रन्थकारों के नाम यहाँ दिये जाते हैं—(१) भट्ट लोल्लट; (२) श्री शङ्कुक; (३) भट्टनायक; (४) अभिनवगुप्ताचार्य, (५) ध्वनिकार (आनन्दवर्धन); (६) वामन; (७) रुद्रट; (८) भट्टोद्भट; (९) जैमिनि, (१०) कात्यायन; (११) पतञ्जलि; (१२) भरतमुनि; (१३) भामह; (१४) भर्तृहरि; (१५) कुमारिल भट्ट; (१६) अमरसिंह; (१७) वामन और (१८) राजा भोज।

उदाहरण के लिये जो श्लोक काव्यप्रकाश में उद्धृत हैं वे जिन ग्रन्थकारों वा ग्रन्थों से चुने गये हैं उनकी भी सूची यहाँ पर दे दी जाती है।

हाल कृत गाथासप्तशती; भवभूति कृत महावीरचरित, और मालतीमाधव; कालिदास कृत रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, अभिज्ञान-शाकुन्तल और विक्रमोर्वशीय; राजशेखर कृत बालरामायण, विद्धशाल-भञ्जिका और कर्पूरमञ्जरी; दामोदर मिश्र कृत हनुमन्नाटक वा महानाटक; आनन्दवर्द्धन कृत ध्वन्यालोक; दामोदरगुप्त कृत कुट्टनीमतं; वेदव्यास कृत महाभारत और विष्णु पुराण; भारवि कृत किरातार्जुनीय; भट्टनारायण कृत वेणीसंहार ; दण्डी कृत काव्यादर्श ; भर्तृहरि कृत नीति,शृङ्गार और वैराग्य शतक ; मेण्ठ कृत हयग्रीववध ; महाराज श्रीहर्ष कृत रत्नावली और नागानन्द ; अमरु कृत अमरुशतक ; माघ कृत शिशुपालवध ; विष्णु शर्मा वा चाणक्य कृत पञ्चतन्त्र ; मयूर कृत सूर्यशतक ; बाणभट्ट कृत हर्षचरित ; भट्टिकृत भट्टिकाव्य वा रावणवध।

यह निश्चय है कि मम्मट भट्ट जी ने उक्त ग्रन्थों का भली भाँति अनुशीलन किया था; क्योंकि उक्त ग्रन्थों के पद्य काव्यप्रकाश में उदाहरण रूप से इतस्ततः उद्धृत दिखाई पड़ते हैं। एक बात बड़े

आश्चर्य की है कि मम्मट भट्ट ने काव्यप्रकाश में भवभूति विरचित उत्तररामचरित नाटक का कोई भी अंश उदाहरण रूप से नहीं उठाया है। क्या इसका यह कारण है कि उत्तररामचरित सर्वथा निर्दोष है। अथवा मम्मट को यह ग्रन्थ मिला ही नहीं ? जैसे वीरचरित तथा मालतीमाधव के कतिपय श्लोकों को उठाकर उन्होंने भवभूति की रचना को काव्य के गुणों वा दोषों से युक्त सिद्ध किया है वैसे ही गुणदोषयुक्त गद्य पद्य के भाग उत्तररामचरित में भी पाये जाते हैं। उत्तररामचरित सर्वथा निर्दोष है—ऐसा तो सहसा प्रतीत नहीं होता। दोहद शब्द का पुँल्लिङ्ग में उपयोग और प्राण शब्द का एकवचन में प्रयोग, निर्ऋति शब्द मे ऋ अक्षर का व्यञ्जन सदृश व्यवहार—ये सब अप्रयुक्त दोष के ज्वलन्त उदाहरण हैं। करुण रस की पुनः पुनः उद्दीप्ति भी एक और दोष है। तथा दृश्यकाव्य मे दीर्घ-समास घटित वाक्यावलियाँ भी उसके सदोष होने की प्रमाणस्वरूप हैं। तथापि मम्मट के ग्रन्थ मे इन बातों का उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसे ही कालिदास विरचित मालविकाग्निमित्र, राजशेखर कृत बालभारत, वेदव्यास रचित (विष्णु पुराण को छोड) के अन्यान्य पुराण, दण्डी विरचित दशकुमारचरित, महाराज श्रीहर्ष कृत प्रियदर्शिका, विष्णु शर्मा का हितोपदेश, बाणभट्ट की कादम्बरी कथा आदि ग्रन्थों का उल्लेख काव्य-प्रकाश में न मिलने से उनके निर्दोषप्राय होने वा भट्ट जी के हस्तगत न होने का सन्देह उपस्थित होता है। शीला-भट्टारिका और विज्जिका नाम्नी स्त्री कवियों के रचित पद्य भी काव्य प्रकाश में उद्धृत मिलते हैं; जिनसे प्रतीत होता है कि मम्मट भट्ट ने स्त्री विरचित पद्यों का भी पाठ किया होगा। भास नामक एक कवि कालिदास से भी पूर्व में हो चुके हैं। अब उनके नाम से कई ग्रन्थ स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, पञ्चरत्नम्, अविमारकम् इत्यादि हाल में प्रकाशित हुए हैं। परन्तु भास कवि विरचित जो कुछ स्फुट श्लोक काव्यप्रकाश में उद्धृत हैं वे इन नवीन प्रकाशित ग्रन्थों में

से किसी में नहीं मिलते। इसी कारण से इन नवीन प्रकाशित ग्रन्थों के भासरचित होने मे सन्देह होता है।

काव्यप्रकाश के अतिरिक्त 'शब्द-व्यापार विचार' नाम की एक और पुस्तक भी मम्मट भट्ट विरचित देखने में आती है। उनकी लेखनी अत्यन्त प्रौढ़, गम्भीर और क्लिष्ट विषयों को भी अत्यन्त सक्षिप्त शब्दो में लिखने के लिये समर्थ थी। काव्यप्रकाश सदृश बृहद् ग्रन्थ की तुलना में 'शब्द-व्यापार विचार' एक बहुत छोटी-सी पुस्तिका प्रतीत होती है।

भीमसेन जी दीक्षित ने स्वरचित सुधासागर नामक काव्यप्रकाश की टीका में मम्मट भट्ट जी को कश्मीरी जैयट पण्डित का ज्येष्ठ पुत्र लिखा है। और कैयट तथा उव्वट को मम्मट का कनिष्ठ भ्राता बतलाया है। इनमे से कैयट तो पतञ्जलि विरचित व्याकरण महाभाष्य के टीकाकार हैं और उव्वट ने अवन्तीपुरी में राजा भोज की अधीनता मे निवास करके वाजसनेयी संहिता (शुक्ल यजुर्वेद) का भाष्य रचा। भाष्य की समाप्ति में उव्वट ने अपने को वज्रट का पुत्र लिखा है। अतएव सन्देह होता है कि जैयट ही का नामान्तर वज्रट है। अथवा वज्रट जैयट के सगोत्र ही कोई और व्यक्ति हैं; जिनके पुत्र को जैयट ने गोद ले लिया हो अथवा ये उव्वट जैयट के पुत्र से भिन्न ही कोई व्यक्ति हों, इत्यादि। कुछ लोगों का अनुमान है कि मम्मट भट्ट जी शैव मतानुयायी थे। ये उच्चकोटि के वैयाकरण और दर्शनादि शास्त्रों के पारङ्गत तो थे ही, परन्तु साहित्य मे इनके असाधारण ज्ञान का परिचायक काव्यप्रकाश नामक अद्वितीय ग्रन्थ ही है।

काव्यप्रकाश के तीन अंश हैं।—(१) कारिका वा सूत्र (२) वृत्ति और (३) उदाहरण के श्लोक। इनमें से उदाहरण के श्लोक तो प्रायः अन्य कवियों के रचित हैं, जिनमें से बहुतेरे ग्रन्थकारों का ऊपर उल्लेख हो चुका है। कतिपय श्लोकों के विषय में पता नहीं चलता कि ये किसके रचे और किस ग्रन्थ से उद्धृत किये गये हैं। तथापि प्रायः

मम्मट ने अन्य कवियों ही की रचना को उदाहरणार्थ उठाया होगा —यही प्रतीत होता है। उनके निज रचित श्लोक तो कदाचित् ही कोई हों। हाँ, वृत्ति तो स्वयं उन्हीं की लिखी हुई है, जो अत्यन्त क्लिष्ट, संक्षिप्त और पाण्डित्य पूर्ण है। इसके लिखने में मम्मट भट्ट ने अपनी विद्वत्ता की पराकाष्ठा दिखला दी है। काव्यप्रकाश की कारिकाएँ भी अवश्य मम्मट भट्ट ही की बनाई होंगी। परन्तु ऐसा भी जान पड़ता है कि भट्ट जी ने कहीं-कहीं औरों की रचित कारिका भी (कहीं-कहीं पूरी और कहीं-कहीं अधूरी) उठाकर अपने ग्रन्थ में संनिविष्ट की है। काव्यप्रकाश की सभी कारिकाओं को पण्डित विद्याभूषण जी ने भी स्वरचित साहित्य कौमुदी में उठाया है। लोग यह भी अनुमान करते हैं कि मम्मट भट्ट तथा विद्याभूषण ने किसी प्राचीन व्यक्ति की रचित कारिकाओं को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। परन्तु ध्यान देने की बात है कि यदि ऐसा होता तो भट्ट जी अथवा विद्याभूषण जी उस प्राचीन व्यक्ति का नामोल्लेख क्यों न करते ?

काव्यप्रकाश की संस्कृत मे कई टीकाएँ रची गई हैं; जिनमें से कतिपय प्रकाशित भी हो चुकी हैं। बहुत-सी अभी हस्तलिखित रूप में ही पड़ी हैं। पण्डितवर श्रीयुत वामनाचार्य जी झलकीकर ने अपनी बालबोधिनी नामक काव्यप्रकाश की टीका की भूमिका मे उनका उल्लेख किया है और टीकाकारों के निवासस्थान, प्रादुर्भाव काल आदि के विषय में अपनी सम्मति भी प्रकट की है। यहाँ पर संक्षेप में उनका उल्लेख समय-क्रम के अनुसार किया जाता है—

माणिक्यचन्द्र कृत संकेत टीका, संवत् १२१६ विक्रमीय; सरस्वती तीर्थ कृत बालचिन्तानुरञ्जनी टीका, १४वीं शताब्दी विक्रमीय; जयन्त भट्ट कृत दीपिका टीका, संवत् १३५० विक्रमीय; सोमेश्वर कृत काव्यादर्श वा संकेत टीका, विश्वनाथ कृत काव्यप्रकाशदर्पण, १४वीं शताब्दी विक्रमीय। चक्रवर्ती कृत विस्तारिका टीका; आनन्द कवि कृत निदर्शना वा सारसमुच्चय टीका, श्रीवत्सलाञ्छन कृत सारबोधिनी टीका; १७वीं

शताब्दी की समाप्ति, गोविन्द ठक्कुर कृत काव्यप्रदीप नामक छाया व्याख्या, १७वीं शताब्दी; कमलाकरभट्ट कृत काव्यप्रकाश टीका, सं० १६६८ विक्रमीय, महेश्वर भट्टाचार्य कृत आदर्श, १७वीं शताब्दी विक्रमीय; नरसिंह ठक्कुर कृत नरसिंहमनीषा टीका प्रायः सं० १७४० विक्रमीय; वैद्यनाथ कृत उदाहरण चन्द्रिका और काव्यप्रदीपप्रभा टीका सं० १७४० विक्रमीय; भीमसेन दीक्षित कृत सुधासागर टीका, सं० १७७६ विक्रमीय; नागोजी भट्ट कृत काव्यप्रदीप बृहदुद्योत तथा काव्यप्रदीप लघूद्योत, १६वीं शताब्दी विक्रमीय; महेशचन्द्र न्यायरत्न कृत काव्यप्रकाश विवरण टीका, सं० १६२३ विक्रमीय; वामनाचार्य झलकीकर कृत बालबोधिनी टीका, सं० १६३६ विक्रमीय।

सरस्वती तीर्थ का जन्म संवत् १२६८ वि० में हुआ था। उन्होंने कब बाल-चित्तानुरञ्जनी लिखी—इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। परन्तु वे अवश्य ही १४वीं शताब्दी विक्रमीय में प्रादुर्भूत लेखकों के बीच परिगणनीय हैं। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम काल में काशीपुरी में यह टीका रची थी। सोमेश्वर, चक्रवर्ती और आनन्द कवि के विषय में कुछ विशेष इतिहास विदित नहीं होता। माणिक्यचन्द्र जैनमतावलम्बी थे। विश्वनाथ ही ने साहित्य दर्पण की भी रचना की है। नागोजी भट्ट, भट्टोजी दीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित के शिष्य थे। उक्त सभी टीकाकार अपने-अपने समय के दिग्गज पण्डित थे।

अनेक प्राचीन पण्डितों ने काव्यप्रकाश की और-और टीकाएँ भी रची हैं। जिनमें से तत्त्वबोधिनी, कौमुदी, आलोक, गोविन्द ठक्कुर कृत उदाहरणदीपिका और किसी जैन पण्डित की बनाई अवचूरि नामक टीका का भी उल्लेख ग्रन्थों में मिलता है इनके अतिरिक्त और भी ६ टीकाओं के रचयिताओं का विवरण इस प्रकार है—

भास्कर कृत साहित्य दीपिका, रत्नपाणि भट्टाचार्य कृत काव्यदर्पण; रवि भट्टाचार्य कृत मधुमती; रुचक पण्डित कृत संकेत; रामनाथ कृत रहस्यप्रकाश; जगदीशकृत रहस्यप्रकाश; भास्कर कृत रहस्यनिबन्ध; राम-

कृष्ण कृत काव्यप्रकाश भावार्थ।

इन पण्डितों में से केवल काव्यदर्पणकार रत्नपाणि भट्टाचार्य के विषय में इतना ज्ञात है कि वे अच्युत के पुत्र और मधुमतीकार रवि भट्टाचार्य के पिता हैं। शेष १३ टीकाकार जिनके केवल नाम मिलते हैं निम्नलिखित हैं—

(१) श्रीधर (२) चण्डीदास (३) देवनाथ (४) सुबुद्धि मिश्र (५) पद्मनाभ (६) अच्युत (७) यशोधर (८) विद्यासागर (९) मुरारि मिश्र (१०) मणिसार (११) पक्षधर (१२) गदाधर और (१३) वाचस्पति मिश्र।

इस प्रकार से अब तक काव्यप्रकाश की अन्यून ४७ टीकाएँ संस्कृत में लिखी जा चुकी हैं। फिर भी यह ग्रन्थ अत्यन्त क्लिष्ट ही है जैसा कि महेश्वर भट्टाचार्य ने स्वरचित आदर्श में लिखा है :—

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे-गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।
सुखेन विज्ञातुमिमञ्च ईहते धीरः स एतां विपुलां विलोक्यताम्॥

अर्थात्—यद्यपि काव्यप्रकाश की टीकाएँ प्रत्येक घर में विलग-विलग रची गई हैं तथापि यह ग्रन्थ पहिले ही की भाँति दुरूह (कठिनाई से समझने योग्य) है। जो धीर विद्यार्थी इसे सहज में समझना चाहें वह इस आदर्श टीका को आद्योपान्त पढ़ जावे। काव्यप्रकाश का अंग्रेजी भाषा में भी अनुवाद महानुभाव गुरुवर डाक्टर पण्डित गंगानाथ जी झा एम० ए० ने पहिले अपनी विद्यार्थी दशा में और अब प्रौढावस्था में पुनः संशोधन करके फिर से दूसरी बार प्रकाशित कराया है, जिसके द्वारा अंग्रेजी भाषा से अभिज्ञ विद्यार्थियों को समय-समय पर बड़ी सहायता मिली और आगे भी मिलेगी।

काव्यप्रकाश की जो टीकाएँ अब तक प्राप्य हैं, उनमें माणिक्यचन्द्र की संकेत नामक टीका सब से पुरानी है और वह संवत् १२१६ वि० में लिखी गई है। अतएव यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि मम्मट भट्ट टीकाकार से प्राचीन काल के व्यक्ति हैं। काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में उदात्तालंकार के उदाहरण में राजा भोज की प्रशंसा उल्लि-

खित है, जिससे स्पष्ट विदित होता है कि राजा भोज मम्मट की अपेक्षा प्राचीन व्यक्ति हैं। राजा भोज का राज्यकाल सं० १०५३ से ११०८ वि० तक स्वीकार किया गया है। और उनका एक प्राचीन दानपत्र सं० १०७८ वि० का लिखा हुआ प्राचीन लेखमाला में उद्धृत है। जयन्त भट्टजी ने भी स्वरचित दीपिका नामक काव्यप्रकाश की टीका मे पञ्चम उल्लास के "अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः", इत्यादि प्रतीकवाले श्लोक के विषय मे लिखा है कि पञ्चाक्षरी नामक कवि ने इस श्लोक द्वारा राजा भोज की प्रशंसा की थी। निदान राजा भोज के समय से लेकर माणिक्यचन्द्र के समय के पूर्व अर्थात् १०५३ से लेकर स० १२१६ वि० तक के बीच मे मम्मट का प्रादुर्भाव काल सिद्ध होता है। अथवा विक्रम की ११वीं और १२वीं शताब्दी मे मम्मट का प्रादुर्भाव स्वीकार करना न्याय्य होगा।

काव्यप्रकाश दश उल्लासों में विभक्त है। प्रथम उल्लास में काव्य के फल, कारण और स्वरूप का निर्णय करके उसके उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीनों भेद उदाहरण सहित बतलाये गये हैं। द्वितीय में शब्द और अर्थ के विभाग, अभिधा और लक्षणा नामक व्यापार तथा अभिधा और लक्षणामूलक व्यञ्जकता की सिद्धि निरूपित की गई है। तृतीय में अर्थ की व्यञ्जकता के उदाहरण प्रदर्शित हुए हैं। चतुर्थ मे उत्तम काव्य के भेदों का विस्तार कथन करते हुए ध्वनि के १०४५५ भेद गिनाये गये हैं। मध्यम काव्य के ४५१५८४ भेद समझाकर युक्तियों द्वारा आर्थी व्यञ्जनावृत्ति की सस्थापना वा सिद्धि पञ्चम उल्लास में की गई है। षष्ठ उल्लास में अधम वा चित्रकाव्य के भेद कहे गये हैं। सप्तम उल्लास में उदाहरण सहित ७० प्रकार के काव्य-विषयक दोषों का निरूपण किया गया है, जिनमें से १६ पददोष, २१ वाक्यदोष, २३ अर्थदोष और १० रसदोष गिनाये गये हैं। प्रसङ्गवश कहीं-कहीं पर इन दोषों का निर्दोष होना अथवा गुणविशिष्ट होना भी प्रकट किया गया है। अष्टम उल्लास मे तीन प्रकार के गुणों (माधुर्य,

ओज और प्रसाद) का अलङ्कारों (वक्रोक्ति उपमादि) से भेद निरूपण करके बड़ी चतुराई से वामन निरूपित १० शब्दगुणों और १० अर्थ-गुणों का भी समावेश उक्त तीनों गुणों में किया गया है। नवम उल्लास मे तीनों रीतियों (वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली) समेत छहों प्रकारवाले (१ वक्रोक्ति, २ अनुप्रास, ३ यमक, ४ श्लेष, ५ चित्र, ६ पुनरुक्तवदाभास।) शब्दालङ्कारों के उदाहरण दिखाये गये हैं। और प्रकरणवश श्लेष अलङ्कार के शब्दगत तथा अर्थगत के भेद से दोनों प्रकार उपपत्ति समेत प्रकट किये गये हैं। दशम उल्लास में उपमा आदि ६१ प्रकार के अर्थालंकारों का निरूपणकर वामन द्वारा निरूपित अलङ्कारों के दोषों का सप्तम उल्लास में निरूपित दोषों के बीच समा-वेश युक्तियों द्वारा किया है। और इस प्रकार काव्यप्रकाश की समाप्ति की गई है।

कहाँ काव्यप्रकाश के समान अत्यन्त कठिन वज्र की भाँति ग्रन्थरत्न! और कहाँ मुझ सदृश अत्यन्त मन्दबुद्धि व्यक्ति—ऐसे कठिन ग्रंथ के भाषानुवाद को हाथ में लेना मेरा साहसमात्र है, परन्तु जब महानुभाव पाठकगण मेरी धृष्टता को क्षमा करके भूलों को सुधार कर मेरे कार्य को अनुकम्पा की दृष्टि से देखेंगे तो मैं अपने को कृतकृत्य और धन्य मानूँगा।

इस अनुवाद का भार मैंने अपने शिर पर इस आशय से उठाया है कि इसी व्याज मुझे वाग्देवतावतार मम्मट भट्ट जी की कठिन उक्तियों और युक्तियों का कुछ ज्ञान प्राप्त हो जायगा। गुरुगणों तथा नवीन और प्राचीन टीकाकारों की सहायता द्वारा संस्कृत ग्रन्थ के यथार्थ भावों को प्रकट करने में मैं कहाँ तक सफल हो सका हूँ इसका निर्णय सहृदय और सदय पाठकगण ही करें।

अनुवाद करने में मुझे वामनाचार्य झलकीकर की बालबोधिनी टीका और महामहोपाध्याय डाक्टर ०गङ्गानाथ जी झा एम० ए० के काव्यप्रकाश के अंग्रेजी अनुवाद से बड़ी सहायता मिली। उक्त

गुरुवर महामहोपाध्याय जी ने अपना बहुमूल्य समय व्यय करके ग्रन्थ के कतिपय दुरूह स्थलों को स्पष्ट करने का प्रयास भी समय-समय पर उठाया है; अतएव मैं झलकीकर महाशय तथा महामहोपाध्याय जी का परम कृतज्ञ हूँ। और उन्हें बहुशः धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

मुझे आशा है कि हिन्दी भाषा से विज्ञ विद्यार्थियों के काव्य-प्रकाशाभ्यास में मेरा यह परिश्रम कियदंश मे सहायक होगा। यदि एक भी विद्यार्थी इस पुस्तक के द्वारा लाभ उठा सका तो मैं अपने परिश्रम को सफल मानूँगा।

काशी
का० शु० ११ स० १९८३

हरिमङ्गल मिश्र

प्रथम उल्लास

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत्परामृशति—

इस काव्यप्रकाश नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार मम्मट भट्ट विघ्नों के विनाश के लिये यथोचित इष्टदेवता भगवती सरस्वती देवी का स्मरण करते हैं।

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥१॥

अर्थ—नियति (भाग्य) विरचित नियमों से जो बद्ध नहीं, हर्ष ही जिसका एक मात्र सर्वस्व है, जो किसी अन्य कारण आदि के परतन्त्र नहीं, और शृंगार आदि नवसंख्यक रसों के होने से जिसका निर्माण परम मनोहर है, वैसी कवियों की वाणी (सरस्वती देवी) सबसे उत्कृष्ट (विजयशीला) है।

नियतिशक्त्या नियतरूपा सुखदुःखमोहस्वभावा परमाण्वाद्युपादान कर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा षड्रसा न च हृद्यैव तैः तादृशी ब्रह्मणो निर्मितिर्निर्माणम्। एतद्विलक्षणा तु कविवाङ् निर्मितिः। अत एव जयति। जयतीत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत इति तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते॥

ऊपर की कारिका का अर्थ विशद करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं कि नियति[1] की शक्ति से जिसका रूप नियत (सीमाबद्ध) है, जिसके स्वभाव में सुख दुःख और मोह (अज्ञान) सम्बन्धी तीनों गुण मिश्रित हैं, जो परमाणु आदि उपादान अथवा कर्म इत्यादि सहायक कारणों के परतन्त्र (वशवर्ती) है, और जिसमें केवल छः ही रस हैं, और वे भी सब के सब मनोज्ञ नहीं, ऐसे तुच्छ गुणों से युक्त जो विधाता की सृष्टि

---

[1]कुछ लोगों का मत है कि नियति धर्म अर्थात् स्वाभाविक गुण के अर्थ मे है।

रचना है उससे बहुत ही विलक्षण (भिन्न) कवियों के वचनों की रचना होती है। इन कारणों से कवियों की सरस्वती विधाता की सृष्टि से उत्कृष्ट है। मूल कारिका मे जो 'जयति' शब्द कहा गया है उससे नमस्कार (प्रणाम) का आक्षेप होता है। तात्पर्य यह है कि मैं (ग्रन्थकार) कवि की उस वाणी को (सरस्वती देवी को) प्रणाम करता हूँ।

इहाभिधेयं सप्रयोजनमित्याह—

इस ग्रन्थ का वर्णनीय विषय प्रयोजन विशिष्ट है। अतएव आगे के श्लोक में काव्य निर्माण का प्रयोजन बतलाया जाता है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥२॥

अर्थ—यश की प्राप्ति, सम्पत्तिलाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि विपत्तियों का विनाश, तुरन्त ही उच्च कोटि के आनन्द का अनुभव, और प्यारी स्त्री के समान मनभावन उपदेश देने के लिये काव्य ग्रन्थ उपादेय (प्रयोजनीय) है।

कालिदासादीनामिव यशः श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्, राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्, आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्, सकल प्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम् प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।

मूल कारिका का अर्थ विशद करने के लिये ग्रन्थकार लिखते हैं— काव्य रचना द्वारा कालिदास आदि कवियों को यश, श्रीहर्ष आदि कवियों को सम्पत्ति, राजा आदि के साथ कैसा आचरण करना उचित है इसका ज्ञान, सूर्य आदि देवताओं द्वारा मयूर आदि कवियों को विपत्ति का विनाश प्राप्त हुआ है। जो संसार के सभी प्रयोजनों में मुख्य

है, जो प्राप्त होते ही तुरन्त अपने रस का स्वाद चखाकर ऐसे अपूर्व आनन्द का अनुभव कराता है कि शेष ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान उसके आगे तिरोहित हो जाते हैं, जो प्रभु अर्थात् स्वामी के द्वारा प्रकट किये गये शब्द-प्रधान वेदादि शास्त्रों से विलक्षण तथा मित्रों द्वारा कहे गये अर्थ-तात्पर्यादि-प्रधान पुराण इतिहास आदि ग्रन्थों से भी भिन्न है, प्रत्युत शब्दों और अर्थों को गौण (अप्रधान) बनाकर रसादि के प्रकट करनेवाले उपायों की ओर प्रवण कराने के कारण जो उक्त प्रभु-समित और सुहृत्समित वाक्यावलियों से भिन्न है ऐसे रचना विशेष को काव्य कहते हैं। अर्थात् यह चतुर कवि की विचित्र वर्णनात्मक रचना है। ऐसा काव्य प्यारी स्त्री की भाँति अपनी उक्ति में अनुराग उत्पन्न कराकर लोगों को अपनी ओर इस प्रकार खींचता है कि श्री रामचन्द्रादि के सदृश व्यवहार कीजिये, रावण आदि की भाँति नहीं, ऐसे उपदेश भी पात्रानुसार कवि तथा समझनेवाले व्यक्ति को यह देता है। निदान लोगों को सभी प्रकार से इस काव्यज्ञान प्राप्ति के लिये यत्नशील होना चाहिये।

एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह—

इस प्रकार काव्य का प्रयोजन वर्णन करके अब उसके कारण को निम्नलिखित कारिका द्वारा प्रकट करते हैं—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥३॥

अर्थ—एक तो कविता रचने की शक्ति, दूसरे लोक और शास्त्र आदि के अवलोकन की चतुराई, तीसरे काव्य जाननेवालों द्वारा शिक्षा पाकर उसका अभ्यास, ये तीनों बातें काव्य (ज्ञान) की उत्पत्ति में हेतु (कारण) हैं।

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः। यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य। शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षण-

ग्रन्थानां। काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम्। आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद्व्युत्पत्तिः। काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिताः न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्नतु हेतवः।

मूल कारिका का अर्थ विशद करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं कि शक्ति से तात्पर्य किसी विशेष संस्कार (प्रतिभा) से है, जो कवित्व का बीजरूप (मूल कारण) है, जिसके बिना काव्य बन ही नहीं सकता; अथवा यदि बनाया भी जावे तो हँसी के योग्य हो, यह एक हेतु है। लोक शब्द से तात्पर्य उन सभी व्यापारों से है जो स्थावर और जङ्गम अर्थात् चराचर पदार्थों से सम्बन्ध रखते हैं। शास्त्रों से तात्पर्य उन ग्रंथों से है जो छन्द, व्याकरण, अभिधान, कोष, कला, चतुर्वर्ग, (चारों पुरुषार्थ) हाथी, घोड़े, खड्ग आदि के लक्षण बतानेवाले और महाकविविरचित काव्यादि हैं। आदि शब्द के कथन का यह भाव है कि इतिहासादि ग्रथों की गणना भी शास्त्रों मे की जावे। इन ग्रन्थों के भलीभाँति अध्ययन करने से काव्य विषयक व्युत्पत्ति प्राप्त होती है, यह एक अन्य हेतु है। जो लोग काव्यों की रचना और आलोचना करना जानते हैं, उनके बनाने और उचित रीति से शब्दयोजना करने में बारबार की प्रवृत्ति, यह एक तीसरा हेतु है। इन तीनों हेतुरूप गुण अर्थात् शक्ति चातुर्य और अभ्यास के सम्मिलित होने पर—न कि विलग-विलग किसी एक के रहने पर—काव्यरचना का उत्कर्ष प्रकट होता है। अतएव ये तीनों मिलकर काव्योत्कर्ष के साधक हेतु हैं। न कि इनमे से प्रत्येक पृथक्-पृथक् भी कारण होते हैं।

एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह—

उक्तरीति से काव्यनिर्माण के कारणों का निरूपण करके उनका स्वरूप श्लोकार्ध द्वारा प्रकट किया जा रहा है।

(सू० १) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

अर्थ—काव्य का स्वरूप यह है कि उसके शब्दों और अर्थों में दोष

तो नहीं ही हों; किन्तु गुण अवश्य हों, चाहे अलङ्कार कहीं-कही पर न भी हों।

दोषगुणालङ्काराः वक्ष्यन्ते। क्वापीत्यनेनैतदाह यत्सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यथा—

काव्य सम्बन्धी दोषों, गुणों और अलङ्कारों का निरूपण आगे किया जावेगा। कहीं कही कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य प्रायः सर्वत्र अलङ्कारविशिष्ट ही होता है; परन्तु किसी स्थान पर यदि स्फुट (प्रकट) अलङ्कार न भी हो तो काव्यत्व की हानि नहीं मानी जाती है। जैसे निम्नलिखित श्लोक में—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ,
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥१॥

अर्थ—यद्यपि हमारा वर वही है जिसने हमारे कुमारीपने को छीन लिया, ये वे ही चैत्र की रात्रियाँ हैं, खिले हुए मालती पुष्प की सुगन्धि से भरे कदम्ब वृक्षों की ओर से आनेवाले ये वे ही प्रचण्ड पवन के झकोरे भी हैं, और मैं भी वही हूँ, तथापि उस सुरत-व्यापार-विषयक क्रीडा के लिये मेरा चित्त नर्मदा नदी के किनारे वाले बेत के वृक्ष के नीचे ही पहुँचने के लिए उत्सुक हो रहा है।

अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता।

यहाँ पर कोई अलङ्कार स्फुट (प्रकट या शीघ्रतया प्रतीयमान) नहीं है। और रस के ही मुख्य होने के कारण (रसवदादि कोई गौण) अलङ्कार भी नहीं है।

तद्भेदान् क्रमेणाह—

आगे काव्य के भेदों का वर्णन क्रमशः किया जाता है। प्रथम उत्तम काव्य के लक्षण निम्नलिखित श्लोकार्ध में कहते हैं।

(सू० २) इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥४॥

अर्थ—जब वाच्यार्थ (मुख्य अर्थ) की अपेक्षा व्यग्य (प्रतीयमान) अर्थ अधिक चमत्कारकारक हो तो इस प्रकार के काव्य को पण्डितों ने उत्तम काव्य (ध्वनि) कहा है।

इदमिति काव्यं। बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य। यथा—

मूलकारिका मे 'इद' (यह) शब्द काव्य के लिये प्रयुक्त हुआ है। बुधों (पडितों) से तात्पर्य व्याकरण शास्त्र के जाननेवालों से है। उन वैयाकरणों ने ध्वनि उस शब्द का नाम रखा है जो प्रधानभूत स्फोट रूप[1] व्यंग्य का व्यञ्जक (अर्थ बोधक) है। उन वैयाकरणो के ही मत के अनुसार और लोगों ने भी वाच्यार्थ को गौण बना व्यंग्य अर्थ को प्रकट करनेवाले शब्द तथा अर्थ इन दोनों को उत्तम काव्य माना है। जैसे—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो,
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे,
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥२॥

अर्थ—हे अपने प्रियजनों की पीड़ा का ज्ञान न रखनेवाली और झूठ बोलनेवाली दूति! तू तो यहाँ से बावली मे स्नान करने गई थी, न कि उस अधम व्यक्ति के समीप गई थी। क्योंकि तेरे स्तनों की कोरसे चन्दन के चिह्न नितान्त धुल गये हैं, निचले ओठों की ललाई भी पुँछ गई है, आँखों के किनारों का काजल भी बह गया है, और तेरा शरीर भी रोमाञ्चित हो रहा है।

[किसी नायिका ने अपनी दूती को नायक को बुला लाने के लिए

---

[1] किसी शब्द के अक्षर, जो क्रमपूर्वक उच्चारण किये जाते हैं, ज्ञान के साथ अन्तिम अक्षर के ज्ञान समेत जो कुछ अर्थ व्यक्त होता है उसे स्फोट कहते है।

भेजा था परन्तु उस दूती ने स्वयं नायक के साथ समागम किया और लौटकर अपनी स्वामिनी (नायिका) से कहा कि मैंने बारबार उससे यहाँ आने के लिये कहा, परन्तु वह नहीं आया। नायिका ने उसके लक्षणों से उसका अनुचित व्यापार ताड़ लिया और बावली मे स्नान करने के बहाने मे उसे नायक के साथ उपभोग करने का उलाहना इस श्लोक में दिया है।]

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति प्राधान्येनाऽधमपदेन व्यज्यते।

इस श्लोक मे 'अधम' पद ही मुख्य है। उससे यह व्यग्य अर्थ प्रतीत होता है कि तू उसी के पास रमण कराने के लिये गई थी।

[इस श्लोकार्ध द्वारा मध्यम काव्य का लक्षण कहा जाता है।]

(सू० ३) अतादृशि गुणीभूत व्यङ्ग्यम् व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।

अर्थ—जब कि व्यग्य अर्थ वैसा न हो अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारकारी न हो; किन्तु गुणीभूत अर्थात् अप्रधान रूप से प्रतीयमान हो तो उस काव्य की मध्यम सज्ञा होगी।

अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि। यथा—

मूल कारिका में 'अतादृशि' शब्द का अर्थ है वाच्यार्थ से बढ़कर नहीं। मध्यम काव्य का उदाहरण—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥३॥

अर्थ—अशोक पुष्प की नवीन मञ्जरी को हाथ में लिए हुए गाँव के युवा पुरुष को बारबार देख कर तरुणी स्त्री के मुख की कान्ति बहुत अधिक उतर (फीकी पड़) जाती है।

अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतं तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात्।

उक्त श्लोक मे 'तुमने अशोक के लताभवन में मुझ से भेंट करने का संकेत किया था, परन्तु तुम वहाँ नहीं आई' यह अर्थ व्यंग्य है। परन्तु यह अर्थ गौण (अमुख्य) हो गया है; क्योंकि इस व्यङ्ग्य अर्थ की

अपेक्षा श्लोक का वाच्यार्थ ही, जो ऊपर लिख गया है, विशेष चमत्कारजनक विदित होता है।

[आगे अधम काव्य का लक्षण लिखते हैं—]

(सू० ४) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥५॥

अर्थ—जिस काव्य में शब्दचित्र और वाच्यचित्र हों और व्यङ्ग्य अर्थ न हो तो उसको अधम काव्य कहते हैं।

चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम्। अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। अवरमधमम्। यथा—

मूल कारिका में 'चित्र' शब्द का अर्थ गुण या अलङ्कार है। उनसे विशिष्ट या युक्त। 'अव्यङ्ग्य' शब्द का अर्थ है, जिसका कोई शीघ्र प्रतीयमान अर्थ न निकलता हो। 'अवर' शब्द का अर्थ है अधम (नीच कक्षावाला)। शब्दचित्र वाले अधम काव्य का उदाहरण—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा—
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम—
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥४॥

अर्थ—जिस गङ्गा जी का जल अपने आप उछलता है और जो स्वच्छ जल से भरे भागों के बिलों में वेग से बहनेवाली धारा द्वारा महर्षियों के अज्ञान का निवारण करती है, अतएव वे महर्षि लोग जिसके तट पर सानन्द स्नानादि दैनिक कृत्य सम्पादन करते हैं, तथा जिसकी घाटी में बड़े-बड़े मेंढक विद्यमान हैं और जिसका गर्व बड़े-बड़े घने वृक्षों को उखाड़ फेंकनेवाली बड़ी-बड़ी लहरों से पुष्ट हो रहा है, वह गङ्गा जी शीघ्र ही तुम्हारे अज्ञान को हर लें।

[इस श्लोक में अनुप्रास नामक शब्दालङ्कार रूप शब्दचित्र का उदाहरण दिखलाया गया है।]

[वाच्य (अर्थ) चित्र के उदाहरण का प्रदर्शक अधम काव्य निम्नलिखित श्लोक द्वारा दिखाया जाता है—]

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम् ।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती ॥५॥

अर्थ—शत्रुओं के मान खडनकर्ता (अथवा मित्रो को मान देने-वाले) जिस (हयग्रीव) के इच्छानुसार ही अपने घर के बाहर निकलने मात्र का समाचार पाकर, जिसके व्योड़े को इन्द्र घबराहट के कारण शीघ्रतापूर्वक नीचे गिरा देते हैं, सो वह अमरावती पुरी मारे भय के मानो आँखे मूँदे हुई-सी जान पडती है ।

इस पद मे 'निमीलिताक्षीव' (आँखें मूँदे हुई-सी) इस पद से उत्प्रेक्षा नामक अर्थालङ्कार रूप वाच्यचित्र अर्थात् अर्थचित्र प्रकट होता है ।

द्वितीय उल्लास

क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह —

अब ग्रन्थकार क्रम से शब्द और अर्थ इन दोनों के स्वरूप का कथन इस कारिका द्वारा कर रहे हैं—

(सू० ५) स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।

अर्थ—यहाँ पर वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक, ये तीन प्रकार के शब्द होते हैं ।

अत्रेति काव्ये । एषां स्वरूपं वक्ष्यते ।

मूलकारिका मे 'अत्र' (यहाँ पर) इस शब्द से तात्पर्य है 'काव्य में' । इन शब्दों के स्वरूप आगे कहे जावेगे ।

(सू० ६) वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः ।

अर्थ—वाच्य आदि उन शब्दों के अर्थ होते हैं ।

वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्याः ।

मूलकारिका में वाच्य आदि से तात्पर्य वाच्य, लक्ष्य और व्यग्य इन तीनों प्रकार के अर्थों मे है ।

(सू० ७) तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥६॥

अर्थ—किसी-किसी के मत मे तात्पर्य भी एक प्रकार का अर्थ है ।

आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनाम्मतम् । वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः ।

वाक्य मे कहे गये कतिपय पदों के यथार्थ अर्थ बोध' के लिये जो (शब्दों का) परस्पर सम्बन्ध रहना है उसे आकाक्षा कहते हैं । आकाक्षा-रहित वाक्य प्रामाणिक नहीं होता । जैसे—हाथी, घोडा, ऊँट, बैल आदि पदों से युक्त वाक्य अप्रामाणिक है, क्योंकि यहाँ पर हाथी आदि पदों का विना किसी क्रियापद के साथ सम्बन्ध जोड़े अर्थ ज्ञान नहीं होता ।

इस कारण यह वाक्य आकाङ्क्षा की अपेक्षा रखनेवाला कहा जाता है। सम्यक् अर्थ-बोध न करा सकने के कारण आकाङ्क्षा विहीन वाक्य अप्रमाण गिना जाता है।

वाक्य मे कहे गये कतिपय पदों के परस्पर सम्बन्ध घटित होने में किसी प्रकार की बाधा का न होना योग्यता कहलाती है। योग्यता से विहीन वाक्य भी अप्रामाणिक होता है। जैसे 'अग्नि से सींचता है' यह वाक्य प्रामाणिक न माना जायगा, क्योंकि वाक्य मे कहे गये पदों अर्थात् अग्नि इस संज्ञापद तथा सींचना इस क्रियापद के साथ सम्बन्ध का संघटन नहीं होता, किन्तु बाधा पड़ती है। अग्नि का कार्य जलाना, पकाना इत्यादि भले है, सींचना नहीं। सींचना कार्य जल आदि पदार्थों का है।

वाक्य में कहे गये कतिपय पदों के बीच अर्थबोध मे व्यवधान करनेवाले पदों का अनुपस्थित रहना सन्निधि है, सन्निधि रहित वाक्य भी अप्रामाणिक है। जैसे—'पहाड़ खाता है अग्निमान् है देवदत्त'। यहाँ पर "पहाड़" और "अग्निमान् है" इन पदों के बीच मे "खाता है" व्यवधान है तथा "खाता है" और "देवदत्त" के बीच मे "अग्निमान् है" यह व्यवधान है। अतः यह पद भी प्रामाणिक नहीं हुआ।

अभिहितान्वयवादियों (कुमारिल भट्ट मतानुयायी मीमासकों) का मत है कि आकाङ्क्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण जिन पदार्थों का स्वरूप वर्णन इसी ग्रन्थ में आगे किया जावेगा उन पदार्थों के परस्पर भलीभाँति अन्वय हो जाने पर, उन पदों मे से प्रत्येक के अर्थ से भिन्न, किन्तु अन्वय के कारण प्रकट वाक्यार्थ नामक एक विशेष रूप अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है, इसी को तात्पर्यार्थ कहते हैं।

अन्विताभिधानवादी (प्रभाकर भट्ट मतानुयायी मीमासक लोग) कहते हैं कि पदों के वाच्यार्थों ही से वाक्यार्थ का बोध होता है (अतः उनसे भिन्न किसी विशेष रूप अर्थ वा तात्पर्यार्थ के स्वीकार करने की कोई आवश्यकता है)।

[आगे ग्रन्थकार कहते हैं—]

(सू० ८) सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते।

अर्थ—प्रायः सभी प्रकार के अर्थों के साथ कुछ न कुछ व्यग्य अर्थ भी रहा ही करता है। [उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—]

तत्र वाच्यस्य यथा—

वाच्यार्थ के साथ इष्ट व्यग्य अर्थ का उदाहरण—

माए घरोवअरणं अज्जहु णत्थित्ति साहिअं तुम ए।
ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाइ ॥६॥

[संछाया—मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया।
तद्भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी॥]

अर्थ—हे माता! तुम तो निश्चय करके कह चुकी हो कि आज के लिये घर की सामग्री (अन्न, लकड़ी, भाजी इत्यादि) नहीं है तो अब बताओ कि क्या किया जाय? (अर्थात् अन्न आदि सामग्री की व्यवस्था करने के लिए मुझे बाहर जाने की आज्ञा दो।) क्योंकि यों ही तो दिन ठहरा न रहेगा (किन्तु बीत ही जावेगा)।

अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते।

उक्त श्लोक में यह व्यङ्ग्य अर्थ इष्ट है कि इस वाक्य को कहनेवाली स्त्री स्वैरविहारार्थिनी (मनमानी घरजानी) है।

लक्ष्यस्य यथा—

लक्ष्य अर्थ के साथ इष्ट व्यग्य अर्थ का उदाहरण—

साहेन्ती सहि सुहअं खणे खणे दूमिआसि मज्झकए।
सब्भावणेह करणिज्ज सरिसअं दाव विरइअं तुम ए ॥७॥

[संछाया—साधयन्ती सखि सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद्विरचितं त्वया॥]

अर्थ—हे सखि! मेरे लिये उस सुन्दर नायक को मनाने के कार्य में तुम प्रतिक्षण परिश्रम से विकल हो रही हो। तुम ने वैसा ही उचित कार्य किया है जैसा कि सद्भाव तथा स्नेह विशिष्ट व्यक्ति को करना

चाहिये था ।

अत्र मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यम् तेन च कामुकविषय सापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम् ।

यहाँ पर लक्ष्य अर्थ यह है कि मेरे पति (नायक) से रमण कराने के कारण तुमने मेरे साथ शत्रुता का व्यवहार किया है । और इस लक्ष्य अर्थ द्वारा व्यंग्य यह है कि मेरा कामी पति (नायक) सापराध है ।

व्यङ्ग्यस्य यथा—

जहाँ पर एक व्यंग्य अर्थ के साथ और-और व्यंग्य अर्थ भी प्रकट हों, ऐसे पद्य का उदाहरण—

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ सङ्खसुत्ति व ॥८॥

[**छाया—पश्य निश्चल निष्पन्दा विसिनीपत्रे राजते बलाका ।**
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥]

अर्थ—कोई नायिका अपने जार से कहती है कि देखो इस कमलिनि के पत्ते पर पड़ी बगुली न तो हिलती है, न डोलती है। अतः ऐसी शोभित हो रही है मानो स्वच्छ नीलमणि के पात्र पर शङ्ख की बनी सुतुही रखी गई हो ।

अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वं । तेन च जनरहितत्वम् । अतः सङ्केतस्थानमेतदिति कयाचित्कञ्चित्प्रत्युच्यते । अथवा मिथ्या वदसि न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते ।

यहाँ पर 'न डोलती है' इन शब्दो से प्रकट होता है कि यह एकान्त स्थान बेखटके का है । तथा यह द्योतित होता है कि यह निर्जन प्रदेश है । अतएव नायिका अपने जार को सूचना देती है कि यही हमारे तुम्हारे (समागम के) लिये सकेत स्थान है । अथवा कोई नायिका अपने जार को उलाहना देती है कि तुम झूठ बोलते हो; तुम यहाँ नहीं आये थे (क्योंकि इस निश्चलता एव निस्तब्धता से प्रकट होता है कि इस स्थान पर इसके पूर्व कोई नहीं आया था) ।

इत्यादि व्यंग्य अर्थ भी प्रकट होते हैं।

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह—

अब क्रमशः वाचक आदि—अर्थात् वाचक, लक्षक और व्यञ्जक शब्दों तथा वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों का स्वरूप कह रहे हैं।

[वाचक शब्द का लक्षण निम्नलिखित कारिका मे दिया गया है।]

(सू० ९) साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥७॥

अर्थ— साक्षात् सकेत किये गये अर्थ को जो शब्द अभिधा व्यापार द्वारा बोधित कराता है वही वाचक कहलाता है।

इहागृहीतसङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात्सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते स तस्य वाचकः।

सासारिक व्यवहार मे अमुक अर्थ का बोध हो, इस प्रकार की कल्पना को सङ्केत कहते हैं। जिस शब्द का सङ्केतरूप व्यवहार नहीं समझा गया है उस शब्द से किसी अर्थ का बोध नहीं होता, अतः सङ्केत ही की सहायता से शब्द किसी विशेष (साङ्केतिक) अर्थ का बोध कराता है। इस कारण से जिस शब्द के द्वारा विना व्यवधान के किसी विशेष अर्थ का सङ्केत द्वारा बोध हो तो वह शब्द उस बोध्य अर्थ का वाचक कहा जाता है।

[सकेत द्वारा अवगत होनेवाले अर्थ को अब विभागपूर्वक आगे दिखलाते हैं।]

(सू० १०) सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।

अर्थ —सङ्केत द्वारा अवगत होनेवाला अर्थ जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा के भेद से चार प्रकार का होता है। अथवा केवल जातिमात्र ही होता है।

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव तथाऽप्यानन्त्याद्व्यभिचाराच्च तत्र सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव सङ्केतः।

यद्यपि कार्यसिद्ध करने की उपयोगिता के कारण ले आने या ले जाने रूप कार्य की योग्यता व्यक्ति ही में होती है तथापि व्यक्तियों के अनन्त होने, और व्यक्ति विशेष मे नियत किये जाने से प्रयोग दशा मे अशुद्ध हो जाने के कारण, व्यक्ति में (शब्दार्थ का) सङ्केत रखना उचित नहीं है। निदान डित्थ (इस नाम वाला) शुक्ल (रङ्ग का) बैल (सञ्ज्ञा चलता है (क्रिया) इत्यादि वाक्यों में शब्दों के समानार्थ बोधक होने से विषयों मे विभाग का पता ही न चल सकेगा। इसलिए उपाधि ही मे अर्थ बोध के लिये सङ्केत गृहीत होता है।

उपाधिश्च द्विविधः। वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च। वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः। सिद्धः साध्यश्च। सिद्धोऽपि द्विविधः। पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। तत्राद्यो जातिः। उक्त हि वाक्यपदीये "न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः" इति। द्वितीयो गुणः। शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते।

उपाधि भी दो प्रकार की होती है। एक तो वस्तुधर्म और दूसरे वक्तृयदृच्छा सनिवेशित (वक्ता ने स्वेच्छा से किसी वस्तु का कोई एक नाम रख दिया हो)। वस्तु-धर्म भी दो प्रकार का होता है। एक सिद्ध और दूसरा साध्य। सिद्ध के भी दो विभाग हैं। एक तो पदार्थ का प्राणप्रद (व्यवहार की योग्यता का निर्वाह करनेवाला) और दूसरा विशेषाधान हेतु (सजातीयों से विलग करके प्रतीति उत्पन्न करानेवाला कारण) जैसा कि भर्तृहरि विरचित वाक्यपदीय में कहा गया है—न हि गौः स्वरुपेण गौः नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धातु गौः। अर्थात् गौ न तो अपने स्वरूप से गो ही है, अथवा गौ नहीं ही है, (किन्तु) गोत्वरूप विशेष ज्ञान उत्पन्न कराने के कारण वह गौ है। इस प्रकार पहिला अर्थात् पदार्थ का प्राणप्रद कारण जाति कहलाता है। दूसरा जो विशेषाधानहेतु है वह गुण कहलाता है। शुक्ल आदि गुणो ही से सत्ता विशिष्ट वस्तु की विशेषता का ज्ञान लोगों को होता है।

साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः।

साध्य उस क्रियारूप पदार्थ को कहते हैं जिसके अवयव (भाग) क्रम से एक दूसरे के पीछे हुआ करते हैं।

डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यत इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति। "गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः" इति महाभाष्यकारः। परमाण्वादीनान्तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम्। गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद्भेद इव लक्ष्यते। यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात्।

बुद्धि डित्थ आदि संज्ञा शब्दों के उच्चारण किये जाने पर अन्तिम अक्षर के श्रवण द्वारा जिसे भलीभाँति ग्रहण करे तथा जिसमें अक्षरों के क्रम का ध्यान छूट जावे, ऐसे स्फोटात्मक शब्द के स्वरूप को बोलने वाला स्वेच्छानुसार डित्थादि शब्दों में नाम अथवा विशेषण द्वारा जो कल्पना कर लेता है वही (स्वेच्छानुसार कल्पित) शब्द संज्ञा कहलाता है। 'डित्थ (नामक) शुक्ल (श्वेतवर्ण विशिष्ट) गौ (बैल) चलता है' इत्यादि वाक्यों में शब्द व्यवहार के कारण चार प्रकार के (संज्ञा, गुण, क्रिया और जाति रूप) शब्द हैं। ऐसा महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि कहते हैं। परमाणु (अणु परिमाण) आदि की गणना जो गुणों में की गई है वह वैशेषिक शास्त्रानुसार केवल परिभाषा के लिए है। यथार्थ में नित्य गुण होने के कारण ये पदार्थ के प्राणपद ही हैं। यद्यपि गुण, क्रिया तथा स्वेच्छापूर्वक रखे गये नाम, ये तीनों शब्द वास्तव में एक ही स्वरूप के हैं तथापि वे अपने-अपने आधार के भेद से भिन्नवत् प्रतीत होते हैं, जैसे कि एक ही मुख का प्रतिबिम्ब खड्ग, दर्पण वा तैल आदि में पड़ने से भिन्न-भिन्न-सा प्रतीत होता है।

हिमपयःशङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यम्। गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि। बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां

जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये । तद्वान् अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात्प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम् ।

यद्यपि हिम, दुग्ध, शङ्ख आदि पदार्थों में जो श्वेतत्व है वह वास्तव मे भिन्न-भिन्न है, तथापि जिस कारण से सब मे एक ही प्रकार के श्वेतत्व आदि की प्रतीति होती है वह मूल कारण एक श्वेतत्व आदि की जाति ही है । वैसे ही गुड वा चावल आदि के चुराने में चुराना) आदि क्रिया भी एक जाति ही है । बालकों, बूढ़ों और शुक आदि द्वारा कहे गये डित्थ आदि शब्द भी वैसे ही प्रतिक्षण एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी जब डित्थ आदि अर्थों में उपयुक्त होते हैं, तब उनमे डित्थत्व आदि रहता है । इस रीति से सभी शब्दों के व्यवहार का कारण जाति ही है । ऐसा कुछ और लोगों का मत है । नैयायिक लोग कहते हैं कि शब्द का सङ्केत न तो व्यक्ति में और न जाति मे किया जाता है, किन्तु तज्जाति विशिष्ट किसी व्यक्ति मे किया जाता है । बौद्धो का मत है कि गो जाति से भिन्न जितने पदार्थ हैं उनसे विलग करके जो शेप बचा (अर्थात् गो जाति) उसी का बोध गौ शब्द करता है । बौद्धों की परिभाषा मे इसे अपोह कहते हैं, शब्द का अर्थ जातिविशिष्ट व्यक्ति, अथवा अपोह आदि अनेक हैं, कतिपय लोगो ने इस प्रकार के अनेक मत प्रकट किये हैं, परन्तु ग्रन्थ विस्तार के भय से और प्रस्तुत विषय में प्रयोजनीय न होने के कारण यहाँ पर उनका उल्लेख नहीं किया गया ।

[अब शब्दों के मुख्य अर्थ और उनके बतलाने वाले व्यापारों के नाम निर्देशार्थ आगे कहते हैं—]

(सू० ११) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥८॥

अर्थ—शब्द के कहे जाने पर विना विलम्ब ही जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसी अर्थ को लोग मुख्य कहते हैं । और जिस व्यापार के द्वारा इसका ज्ञान होता है उसे अभिधा कहते हैं ।

स इति साक्षात्सङ्केतितः । अस्येति शब्दस्य ।

यहाँ पर 'उसी' शब्द से तात्पर्य साक्षात् संकेत किये गये अर्थ से है। 'इसका' शब्द मे 'इस' से तात्पर्य 'शब्द' से है।

[आगे लक्षणा का निरूपण करते हैं—]

(सू० १२) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥६॥

अर्थ—जहाँ पर शब्द के द्वारा मुख्य अर्थ की उपपत्ति (सिद्धि) न हो; परन्तु उससे सम्बन्ध बना रहे, अथवा किसी विशेष अर्थ के बोध के लिये शब्द रूढ वा प्रसिद्ध हो गया हो, वा किसी विशेष प्रयोजन के कारण शब्द अपने मुख्य अर्थ को छोड़ किसी अपने अन्य अर्थ को लक्षित कराता हो तो उस अर्थ-प्रतीति के व्यापार का नाम लक्षणा है।

'कर्मणि कुशलः' इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगाद् 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्याधारत्वासम्भवाद् मुख्यार्थस्य बाधे विवेचकत्वादौ सामीप्ये च सम्बन्धे रूढितः प्रसिद्धेः तथा गङ्गातटे घोष इत्यादेः प्रयोगात् येषां न तथा प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथाप्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येनअमुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा।

'कर्मणि कुशलः' अर्थात् वह मनुष्य कार्य करने मे चतुर है, इत्यादि वाक्यों मे कुशग्रहण* आदि अर्थों का उपयोग न होने तथा 'गङ्गाया घोषः' अर्थात् गङ्गा जी में अहीरो की बस्ती है इत्यादि वाक्यो मे गङ्गादि नदियों मे अहीरों की बस्ती का होना असम्भव प्रतीत होने के कारण ऐसे स्थलो मे कुशल (कुश ग्रहण करनेवाला) और गङ्गा जी मे (गङ्गा जी के प्रवाह मे) इत्यादि शब्दों के मुख्यार्थ की अनुपपत्ति होने पर सूक्ष्म विचार करनेवाला, आदि और निकटता आदि सम्बन्ध रहने पर रूढि अथवा प्रसिद्धि के कारण, तथा वैसेही गङ्गा जी के तीर पर

---

* कुशं लातीति कुशलः इस विग्रह से।

अहीरों की बस्ती है ऐसे वाक्यों के प्रयोग से जिनका वैसा ज्ञान नहीं होता उन पावनत्व इत्यादि धर्मों का तद्रूप ज्ञान उत्पन्न कराने के कारण मुख्य अर्थ के द्वारा जिस अमुख्य (गौण) अर्थ की प्रतीति होती है उस आरोप किये गये शब्द व्यापार का मुख्यार्थ बाध आदि के कारण व्यवहित (आड में छिपा हुआ) जो लक्ष्य अर्थ है उसकी प्रतीति उत्पन्न करानेवाले व्यापार की सज्ञा लक्षणा है।

[अब निम्नलिखित तीन कारिकाओं द्वारा छ प्रकार की लक्षणा का विभाग उपस्थित किया जाता है—]

(सू० १२) स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।

उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥१०॥

अर्थ—शुद्धा लक्षणा दो प्रकार की होती है। एक का नाम उपादान लक्षणा और दूसरी का लक्षणलक्षणा है। उपादानलक्षणा वह है जो अपनी सिद्धि के लिये औरों का आक्षेप (ग्रहण) कर ले। जैसे, लट्ठ चले आते हैं; इस वाक्य मे लट्ठ शब्द का तात्पर्य लाठी लिये हुए बहुत से मनुष्यों से है। लक्षणलक्षणा उसे कहते हैं जहाँ पर कोई शब्द अन्य अर्थ की सिद्धि के लिये अपने को समर्पण कर दे। जैसे, कुआँ खारी हैं। यहाँ पर कुआँ शब्द का तात्पर्य कुएँ के पानी से है।

'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते। तत उपादानेयं लक्षणा।

'कुन्ताः प्रविशन्ति' अर्थात् भाले घुस रहे हैं और 'यष्टयः प्रविशन्ति' अर्थात् लाठियाँ पैठ रही हैं इत्यादि वाक्यों में कुन्त आदि शब्दों के द्वारा अपने प्रवेश करने की कार्यसिद्धि के लिये निज से संयोग रखने वाले पुरुषों अर्थात् कुन्तधारियों से तात्पर्य रहता है। इस अर्थ का आक्षेप (ग्रहण) करने के कारण इस लक्षणा की संज्ञा उपादान लक्षणा है।

'गौरनुबन्ध्य' इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते न तु शब्देनोच्यते।

'गौरनुबन्ध्यः' अर्थात् गौ का आलम्भन किया जाय आदि वाक्यों मे कथित, वेद द्वारा आज्ञापित अनुबन्धन (आलम्भन) रूप क्रिया मैं कैसे निबाहूँ इस प्रश्न के उत्तर मे जाति से व्यक्ति का आक्षेप तो कर ही लिया जाता है न कि शब्दों द्वारा कहा जाता है।

"विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे।" इति न्यायादित्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्त्तव्या। न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रुढिरियम्। व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते। यथा क्रियतामित्यत्र कर्त्ता। कुर्वित्यत्र कर्म। प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्। 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा। उभयरूपा चेयं शुद्धा। उपचारेणामिश्रितत्वात्। अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम्। तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।

कहा गया है कि विशेषण (जातिरूप उपाधि) के बोध कराने में जिसकी शक्ति नष्ट हो गई है वह शब्द विशेष्य अर्थात् व्यक्ति के बोध कराने में समर्थ नहीं है। उक्त न्याय से यहाँ पर उपादान लक्षणा का व्यवहार किया गया है ऐसा उदाहरण तो नही देना चाहिये; क्योंकि न तो यहाँ कोई प्रयोजन है न रूढि (प्रसिद्धि) है। विना व्यक्तियों के जाति तो हो ही नहीं सकती। अतः यहाँ पर जाति द्वारा व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है। जैसे 'कीजिये' इस वाक्य में 'आप' यह कर्ता; 'करो' इस वाक्य में 'अमुक कार्य' ऐसा कर्म; 'भीतर चलो' इस वाक्य में 'घर' और 'पिण्ड को' इस वाक्य में 'खाओ' आदि क्रियापदों का आक्षेप होता है। 'देवदत्त मोटा तो है पर दिन मे भोजन नहीं करता।' इस वाक्य में श्रुतार्थापत्ति (वाक्य सुनने मात्र मे अनुमान द्वारा इष्टार्थसिद्धि) वा अर्थापत्ति (वाक्यार्थज्ञान द्वारा इष्टसिद्धि) से ही 'वह (देवदत्त)

'गौरनुबन्ध्यः' अर्थात् गौ का आलम्भन किया जावे आदि वाक्यों में कथित, वेद द्वारा आज्ञापित अनुबन्धन (आलम्भन) रूप क्रिया मैं कैसे निबाहूँ इस प्रश्न के उत्तर मे जाति से व्यक्ति का आक्षेप तो कर ही लिया जाता है न कि शब्दों द्वारा कहा जाता है।

"विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे।" इति न्यायादित्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्त्तव्या। न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रुढिरियम्। व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते। यथा क्रिय-तामित्यत्र कर्त्ता, कुर्विंत्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते', इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्। 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा। उभयरूपा चेयं शुद्धा। उपचारेणामिश्रितत्वात्। अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम्। तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः। गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।

कहा गया है कि विशेषण (जातिरूप उपाधि) के बोध कराने में जिसकी शक्ति नष्ट हो गई है वह शब्द विशेष्य अर्थात् व्यक्ति के बोध कराने मे समर्थ नहीं है। उक्त न्याय से यहाँ पर उपादान लक्षणा का व्यवहार किया गया है ऐसा उदाहरण तो नहीं देना चाहिये, क्योंकि न तो यहाँ कोई प्रयोजन है न रूढि (प्रसिद्धि) है। बिना व्यक्तियों के जाति तो हो ही नहीं सकती। अतः यहाँ पर जाति द्वारा व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है। जैसे 'कीजिये' इस वाक्य मे 'आप' यह कर्ता, 'करो' इस वाक्य में 'अमुक कार्य' ऐसा कर्म, 'भीतर चलो' इस वाक्य में 'घर' और 'पिण्ड को' इस वाक्य में 'खाओ' आदि क्रिया पदों का आक्षेप होता है। 'देवदत्त मोटा तो है पर दिन में भोजन नहीं करता' इस वाक्य में श्रुतार्थापत्ति (वाक्य सुनने मात्र से अनुमान द्वारा इष्टार्थसिद्धि) वा अर्थापत्ति (वाक्यार्थज्ञान द्वारा इष्टसिद्धि) से ही 'वह (देवदत्त)

रात्रि मे भोजन करता होगा' ऐसी अर्थ-प्रतीति हो जाती है। अतएव लक्षणा द्वारा 'रात्रिभोजन' ऐसा अर्थ आक्षिप्त नही होता है। 'गङ्गाया घोषः' अर्थात् गङ्गा जी मे अहीरों की बस्ती है इस वाक्य मे नदी तट पर अहीरो की बस्ती का आधार हो सकता है। इस बात की सिद्धि के लिये गङ्गा शब्द अपने ठीक साङ्केतित प्रवाह रूप अर्थ को छोड़कर यतः तट-रूप अर्थ का बोध कराता है, अतः लक्षणलक्षणा का उदाहरण है। उक्त दोनों प्रकार की लक्षणाएँ अर्थात् उपादान लक्षणा ('कर्मणि कुशलः' इस वाक्य में) और लक्षणलक्षणा ('गङ्गाया घोषः' इस वाक्य में) शुद्धा कहलाती है; क्योंकि इन दोनो उदाहरणों में उपचार (सादृश्य) का मिश्रण (सम्बन्ध-जनित मेल) नही है।

उक्त दोनो उदाहरणों अर्थात् उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा के उपयोग की दशा मे लक्ष्य (अर्थ) और लक्षक (शब्द) में परस्पर भिन्न प्रतीत होनेवाली उदासीनता नही है (अर्थात् गङ्गादि वाचक शब्दों और तटादि लक्ष्य अर्थों मे असम्बद्ध भेद प्रतीति नहीं होती है।) गङ्गा आदि शब्दों के द्वारा जब तट आदि अर्थ प्रतिपादित (सिद्ध) होते हैं तब उस प्रकार के अर्थज्ञान से वक्ता के कथन द्वारा इष्ट प्रयोजन की सिद्धि होती है और उसी की प्रतीति भी उत्पन्न होती है। यदि केवल गङ्गा शब्द से अभिधेयरूप प्रवाहार्थ की प्रतीति होती और तट का अर्थ बोध न होता तो 'गङ्गा तटे घोष' अर्थात् गङ्गा जी के तीर पर अहीरों की बस्ती है इस मुख्यार्थ कथन से लक्षणा द्वारा प्रतीत-अर्थ मे भेद ही क्या रह जाता?

[यहाँ पर ग्रन्थकार का यह आशय है कि जब लक्षणा द्वारा गङ्गा शब्द से गङ्गा जी के तट का बोध होता है तब गंगागत शीतलता, पवित्रता आदि का भी ज्ञान लक्ष्यार्थ मे सम्मिलित रहता है; परन्तु गङ्गा तट पर अहीरो की बस्ती है इस मुख्य अर्थ के कथन से वैसी प्रतीति नहीं होती। अतएव शीतलता, पवित्रता आदि भावों के भी सूचित करने के लिये गङ्गा शब्द ही लक्षणा व्यापार द्वारा (प्रवाहरूप अर्थ का परित्याग

करके) तटरूप अर्थ का साधक होता है।]

[अब लक्षणा के अन्यान्य भेदों का निरूपण आगे किया जाता है—]

(सू० १४) सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

अर्थ—दूसरे प्रकार की लक्षणा का नाम सारोपा है; जहाँ पर कि विषयी और विषय दोनों प्रकाशरूप से भिन्न हों।

आरोप्यमाणः आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते सा लक्षणा सारोपा।

जो आरोपित किया जाता है वह (आरोप्यमाण) विषयी है और जिस पर आरोप किया जाता है वह आरोप का विषय है। जहाँ पर इन दोनों का प्रकट रूप से भेद हो और वे एक ही आधारवाले कह कर निर्दिष्ट किये जायँ वहाँ पर लक्षणा सारोपा कहलाती है। उदाहरण जैसेः—'गौर्वाहीकः' अर्थात् यह वाहीक जाति का मनुष्य बैल है। इस उदाहरण में (आरोप्यमाण) विषयो गौ (बैल) है और (आरोप्य) विषय वाहीक जाति का मनुष्य है। इसमें बैल और वाहीक के प्रकटरूप से भिन्न प्रतीत होते हुए भी जाड्य, मान्द्य आदि एक ही आधार से सम्बद्ध विवक्षित हैं। इस रीति से 'गौर्वाहीकः' आदि वाक्यों में गौ और वाहीक के सादृश्य के कारण एकता विवक्षित है।

[लक्षणा के शेष भेदों का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार आगे कहते हैं—]

(सू० १५) विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका ॥११॥

अर्थ—जब विषयी (आरोप्यमाण) में विषय (आरोप का पात्र) ऐसा लीन हो जाय कि दोनों मे भेद-प्रतीति का अवसर ही न रह जाय तो उसे साध्यवसाना नाम की लक्षणा जाननी चाहिये।

विषयिणाऽऽरोप्यमाणेनान्तःकृते निगीर्णे अन्यस्मिन्नारोपविषये सति साध्यवसाना स्यात्।

मूलकारिका का अर्थ विशद करने के लिए ग्रन्थकार कहते हैं

कि जिसे विपयी (आरोप्यमाण वस्तु) निगीर्ण कर ले, अथवा अन्तःकृत कर ले वा निगल ले। किसको निगल ले? इस प्रश्न का उत्तर है अन्यस्मिन् अर्थात् दूसरे के निगल लिये जाने पर पर (यहाँ पर दूसरे शब्द का आशय है विपय अर्थात् जिस आधार पर आरोप किया गया हो, उसके) ऐसी अवस्थावाली लक्षणा को साध्यवसाना कहते हैं।

[शेप भेदों को प्रकट करते हुए कहते हैं—]

(सू० १६) भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ—

अर्थ—इन दोनों सारोपा और साध्यवसाना नामक लक्षणा के भेद सादृश्य द्वारा हों अथवा जन्य-जनकादि किसी और सम्बन्ध द्वारा हों तो उन्हें क्रमशः गौणी वा शुद्धा लक्षणा समझनी चाहिये। सारांश यह है कि जहाँ पर विपयी और विपय को सादृश्य प्रतीति हो वहाँ गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसाना (लक्षणा) का उदाहरण मानना चाहिये और जहाँ पर अन्य सम्बन्ध (सादृश्य से भिन्न कार्य कारण वा जन्य-जनक आदि सम्बन्ध) हों वहाँ पर शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा माननी चाहिये।

इमावारोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ गौर्वाहीक इत्यत्र गौरयमित्यत्र च।

ये दोनों सारोपा और साध्यवसाना नामक लक्षणा जब सादृश्य मूलक होती हैं तब उनके उदाहरण क्रम से 'गौर्वाहीकः' (वाहीक जाति का मनुष्य बैल है) और 'गौरयम्' (यह मनुष्य बैल है) इत्यादि वाक्य होते हैं।

अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित्। स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते न तु परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। साधारण गुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे।

यहाँ पर कुछ लोगों का मत है कि गो (बैल) शब्द के अर्थ में

गो जाति मे जो जाड्य (मूर्खता) मान्द्य (धीमापन, सुस्ती) आदि गुण लक्षित होते हैं वे ही गो शब्द का तज्जातीय अर्थ से भिन्न अर्थ उपस्थित करने के कारण होते हैं। अर्थात् जाड्य, मान्द्य आदि के कारण वाहीक जाति के मनुष्य की सज्ञा गो शब्द द्वारा की जाती है; क्योंकि गो जाति मे भी जाड्य, मान्द्य आदि गुण उपस्थित हैं। कुछ और लोगों का मत है कि गो जाति के अर्थ के साथ रहनेवाले जाड्य, मान्द्य आदि जो गुण हैं, उनमे अभिन्न होने के कारण उनसे भिन्न वाहीक आदि मे रहनेवाले गुण ही लक्षित होते हैं न कि अभिधावृत्ति द्वारा परार्थ का कथन होता है। अन्य लोगों का सिद्धान्त है कि गो जाति और वाहीक जाति दोनो मे समान रूप से पाये जाने के कारण जाड्य, मान्द्य आदि बैल के गुण बैल से भिन्न वाहीक मे लक्षणा द्वारा प्रकट किये जाते हैं।

उक्तं चान्यत्र "अभिधेयाविनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते। लक्ष्यमाण गुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता"। इति।

अन्यत्र (तन्त्रवार्तिक वा श्लोकवार्तिक जिसे भट्टवार्तिक भी कहते हैं, उस ग्रन्थ में कहा गया है कि वाच्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य अर्थ की प्रतीति तो लक्षणा कही जाती है, परन्तु लक्ष्यमाण (लक्षणा-द्वारा सूचित) गुणों के योग से जो लक्षणा का व्यापार होता है वह गौण रूप से मानने योग्य है।

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रन्न तु नान्तरीयकत्वम्। तत्त्वे हि 'मञ्चाः क्रोशन्ति'इत्यादौ न लक्षणा स्यात्। अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धेर्लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम्।

इस पद में 'अविनाभाव' शब्द का अर्थ व्याप्ति नहीं, किन्तु सम्बन्धमात्र ही विवक्षित है, क्योंकि यदि अविनाभाव का अर्थ व्याप्ति लिया जाय तो 'मञ्चाः क्रोशन्ति' अर्थात् मचान चिल्लाते हैं इत्यादि वाक्यों में लक्षणा न मानी जा सकेगी। [क्योंकि यहाँ पर लक्षणा द्वारा मञ्च शब्द का अर्थ मञ्च से सम्बन्ध रखनेवाले अर्थात् उस पर बैठे हुए

वालक गणों से है, जो कि सर्वदा और सर्वत्र नहीं, किन्तु किसी समय और स्थान विशेष में मञ्च से सम्बन्ध रखते हैं।] यदि व्याप्ति का प्रकरण होता तो जैसा कि ऊपर निरूपण कर चुके हैं इष्टार्थसिद्धि अनुमान आदि के द्वारा आक्षिप्त हो जाती और तब इसके लिए लक्षणा का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता।

'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ च सादृश्यादन्यत्कार्यकारणभावादि संबन्धान्तरम्। एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने।

अब सादृश्य से भिन्न कार्यकारण भाव आदि अन्यान्य सम्बन्धों के कारण जहाँ (गौणी नही किन्तु) शुद्धा लक्षणा होती है, उसके सारोपा और साध्यवसाना लक्षणावाले उदाहरण क्रमशः निम्नलिखित हैं। जैसेः—"आयुर्घृतम्" अर्थात् घी आयु है, (इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि घी मनुष्य के चिरकाल तक जीवित रहने का कारण है) यह उदाहरण शुद्धा सारोपा लक्षणा का है। और 'आयुरेवेदम्' अर्थात् वह आयु ही है, (अर्थात् घी चिरञ्जीवित्व का कारण है) शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण है। यहाँ पर कार्य-कारणरूप सम्बन्ध वाली सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा है।

अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाऽभेदावगमश्च प्रयोजनम्। शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि।

ऊपर गौणी लक्षणा के उदाहरण जो दिखलाये गये उनमें गो और वाहीक में परस्पर भेद होते हुए भी लक्षणा द्वारा अर्थ सूचित किये जाने में उन दोनों (गो और वाहीक) के तद्रूपता की प्रतीति होती है और प्रयोजन यह है कि दोनों में अभेद ज्ञान ही की प्रतीति होवे। शुद्धा लक्षणा के भेदों में से आयुर्घृतम् (सारोपा) में यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि उस वस्तु (घी) में कार्य (आयुवृद्धि रूपी कार्य) करने की शक्ति अन्यान्य पदार्थों की अपेक्षा विलक्षण है। और आयुरेवेदम् (साध्यवसाना) से यह ज्ञान उदय होता है कि उस वस्तु

(घी) में कार्य (आयुवृद्धि रूपी कार्य) करने की शक्ति विना व्यभिचार (नियम भङ्ग) के रहती है—अर्थात् नियमपूर्वक रहती है।

क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः यथा इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्राः। क्वचित् स्वस्वामिभावात् यथा राजकीयः पुरुषो राजा। क्वचिद् अवयवावयविभावात् यथा अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रेऽवयवे हस्तः। क्वचित् तात्कर्म्यात् यथा अतक्षा तक्षा।

कहीं-कहीं तादर्थ्य (अर्थात् उपकार्य उपकारक भाव रूप सम्बन्ध) से भी लक्षणा द्वारा अर्थ की प्रतीति होती है। जैसे इन्द्र देवता के पूजानार्थ जो लकडी का खम्भा गाडा जाता है वह इन्द्र ही के नाम से पुकारा जाता है। कहीं-कहीं सेवक और स्वामी का सम्बन्ध भी विवक्षित रहता है जैसे राजकीय पुरुष को भी अधिकार विशेष के कारण राजा कहते हैं। कहीं-कहीं समग्र पदार्थ और उसके भाग के सम्बन्ध से भी लक्षणा होती है जैसे केवल हाथ के अग्रभाग ही के लिये हाथ शब्द प्रयोग मे लाया जाता है। कहीं-कहीं पर जाति-विशेष का व्यापार करने के कारण, यद्यपि वह पुरुष तज्जातीय नहीं है तथापि उस जाति के नाम से पुकारा जाता है जैसे 'अतक्षा तक्षा' अर्थात् जो बढई नहीं है वह भी बढई का व्यापार करने से बढ़ई कहा जाता है।

[लक्षणा के भेदों का यथोचित रूप से निरूपण करके अब उन भेदों की सख्या प्रकट करते हुए आगे कहते हैं—]

(सू० १७) लक्षणा तेन षड्विधा ॥ १२ ॥

ऊपर कही हुई (भेद निरूपण और उदाहरणादि द्वारा प्रदर्शित) रीति के अनुसार लक्षणा छ प्रकार की होती है।

आद्यभेदाभ्यां सह। सा च

पूर्व मे निरूपित दो भेदों अर्थात् उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा समेत पश्चात् निरूपित चारों भेदों (शुद्धा सारोपा, शुद्धा साध्यवसाना, गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसाना) को मिलाकर छ प्रकार की लक्षणा हुई।

[अब उक्त छहों प्रकार की लक्षणाएँ सव्यंग्य और अव्यंग्य के भेद से दो प्रकार की होती हैं। उनका निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—]

(सू० १८) व्यङ्ग्येन रहितारूढौ सहिता तु प्रयोजने ॥

अर्थ—रूढि अर्थ में जो लक्षणा होती है उसमें व्यंग्य नहीं रहता; परन्तु जो लक्षणा प्रयोजनवती होती है वह व्यंग्य युक्त होती है।

प्रयोजनं हि व्यञ्जनव्यापारगम्यमेव ।

प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन का ज्ञान व्यंग्य व्यापार ही के द्वारा जाना जा सकता है।

[प्रयोजनवती लक्षणा के साथ जो व्यंग्य रहता है वह कहीं तो गूढ और कहीं प्रकट भी रहता है। अतएव ग्रन्थकार कहते हैं—]

(सू० १९) तच्चगूढमगूढं वा ।

अर्थ—वह व्यंग्य कहीं पर गूढ (छिपा हुआ) और कहीं पर अगूढ (प्रकट) भी रहता है।

तच्चेति व्यङ्ग्यम् । गूढं यथा—

मूलकारिका में 'तच्च' (वह) इसका तात्पर्य व्यंग्य से है। गूढ व्यंग्यवाली प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण :—

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं ।
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः ॥
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं ।
बतेन्दुवदना तनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥ ६ ॥

अर्थ—कोई युवा पुरुष किसी सुन्दरी युवती को देखकर हर्षपूर्वक कहता है कि अरे यह तो बड़े आनन्द का विषय है कि इस चन्द्रमुखी नायिका के शरीर में यौवन की छटा प्रकट हो रही है। (देखो न, मन्द-मन्द मुसकान से इसका मुख खिला हुआ है। इसकी दृष्टि ने बाँकेपन को अपने वश में कर लिया है।) इसकी गति में हाव-भाव छलक रहे हैं। इसकी बुद्धि सीमा से बाहर सर्वत्र पहुँचने में समर्थ है। इसके वक्षः-

स्थल पर मुकुल (कोरक) के आकार के कुछ-कुछ उभरे हुए दोनों स्तन सुशोभित हैं। तथा इसका जघन स्थल शरीरावयवों के परस्पर दृढ बन्धन के कारण अद्भुत रीति से (आलिङ्गन आदि) सुरत कार्यों के योग्य है।

[यहाँ पर खिलना रूप फूल का धर्म मुसकान मे, वशीकरण रूप चेतन का धर्म अचेतन दृष्टि मे, छलकना रूप तरल पदार्थ का धर्म निराकार हाव भाव मे, सीमा लाघना रूप चेतन का धर्म अचेतन बुद्धि मे, मुकुलाकार होना रूप फूल का धर्म दोनो स्तनों मे, अद्भुत रीति से सुरत कार्य के योग्य होना रूप चेतन का धर्म अचेतन जघन-स्थल मे तथा योवनच्छटा के प्रकट होने का हर्ष रूप चेतन का धर्म अचेतन युवावस्था मे बाधित रहने के कारण मुख्यार्थ से भिन्न किसी लक्ष्य अर्थ को प्रकट करने के लिये सनिवेशित किये गये हैं। अतः सर्वत्र प्रयोजनवती लक्षणा है। और सब मे कुछ न कुछ व्यग्य भी है जो कि साधारणतया गुप्त हैं, परन्तु चतुराई से ध्यान देने पर व्यक्त होते हैं। इसका सक्षेप मे निरूपण आगे किया जाता है।]

['खिले हुए' मे सङ्कोचरहित होने के कारण अनुपम सौन्दर्य लक्षित होता है और पुष्प के सुगन्ध आदि गुण व्यग्य हैं। 'वश मे कर लिया है' से स्वाधीनता लक्षित होती है और यथोचित प्रेम व्यग्य है। 'छलकने' से पूर्णता लक्षित होती है और सब की मनोहारिता व्यग्य है। 'सीमा लाघने' से अधीरता लक्ष्यार्थ है और अति गाढानुराग व्यग्य है। 'मुकुलाकार होने' से कठोरपन लक्ष्य है और स्पर्शन-मर्दन आदि जनित अलौकिक सुख व्यग्य है। 'दृढ बन्धन' से सूरत की अद्भुत योग्यता लक्ष्य है और रमणीयता व्यग्य है। उक्त सभी बाते केवल काव्य-निपुण सहृदय व्यक्ति के लिए प्रकट हैं, अतएव ऊपर का श्लोक गूढ़ व्यग्य का उदाहरण है।]

अगूढ यथा—

अगूढ व्यग्यवाली लक्षणा का उदाहरण :—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥ १० ॥

अर्थ—लक्ष्मी की प्राप्ति से मूर्ख लोग भी चतुरों के चरित्र से विज्ञ हो जाते हैं । देखो, सुन्दरी स्त्री को युवावस्था का हर्ष प्रमोद ही ललित हावभावादि विलास सिखा देता है ।

अत्रोपदिशतीति ।

यहाँ पर 'सिखा देना' यह चेतन गुरु का व्यापार अचेतन युवावस्था के हर्ष में बाधित होने के कारण केवल प्रकट करने रूप अर्थ को लक्षित करता है और बिना प्रयास ललित ज्ञान व्यंग्य है । यह व्यंग्य इतना प्रकट है कि जो लोग सहृदय नहीं हैं वे भी सहज ही में इसे समझ सकते हैं । अतएव यह अगूढ व्यंग्य का उदाहरण हुआ ।

[इस प्रकार लक्षणा के जो तीन भेद हुए ग्रन्थकार उन्हें भी गिनाते हैं ।]

(सू० २०) तदेषा कथिता त्रिधा ॥१२॥

अर्थ—सो यह लक्षणा तीन प्रकार की कही गई ।

अव्यङ्ग्या गूढव्यङ्ग्या अगूढव्यङ्ग्या च ।

तीन प्रकार की अर्थात् बिना व्यंग्यवाली, गूढ व्यंग्यवाली और अगूढ व्यंग्यवाली ।

(सू० २१) तद्भूर्लाक्षणिकः ।

अर्थ—उस लक्ष्य के अर्थ के उत्पन्न करनेवाले शब्द को लाक्षणिक कहते हैं ।

शब्द इति सम्बध्यते । तद्भूस्तदाश्रयः ।

यहाँ पर लाक्षणिक का सम्बन्ध शब्द से है । उसके उत्पन्न करनेवाले से तात्पर्य है कि उस लक्षणा व्यापार का आश्रय ।

(सू० २२) तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

अर्थ—यहाँ पर लक्ष्य अर्थ के बोध के अवसर में जो प्रयोजन

बताने का व्यापार है उसका नाम व्यञ्जना स्वीकार करना उचित है।

कुत इत्याह—

यदि कोई प्रश्न करे कि ऐसा क्यों? तो उसके उत्तर में ग्रन्थकार लिखते हैं।

(सू० २३) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥ १४ ॥
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया।

अर्थ—जिस प्रयोजन वा फल की प्रतीति उत्पन्न कराने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है उस फल का ज्ञान केवल शब्द ही के द्वारा होता है, उस फलप्रतीति के उत्पन्न करनेवाले शब्द का व्यापार व्यञ्जना के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है।

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात्। न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः। तथा हि—

प्रयोजन की सिद्धि के लिए जहाँ लक्षणा द्वारा किसी शब्द का प्रयोग किया जाता है वहाँ पर जो प्रतीति होती है वह उसी शब्द के द्वारा होती है न कि किसी और प्रकार से। और इस प्रकरण में व्यञ्जना को छोड़ और कोई भी व्यापार माना नहीं जा सकता क्योंकि—

(सू० २४) नाभिधा समयाभावात्।

अर्थ—समय (संकेत) के नियत न होने से प्रयोजन की प्रतीति अभिधाशक्ति के द्वारा तो हो ही नहीं सकती।

गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिताः

'गङ्गाया घोषः' इत्यादि उदाहरणों में जो पावनत्व, शैत्य आदि धर्म प्रयोजन बोधनार्थ तटादि द्वारा प्रतीत होते हैं उनमें गङ्गा शब्द का संकेत ही नहीं किया गया है और—

(सू० २५) हेत्वभावान्न लक्षणा ॥ १५ ॥

अर्थ—हेतु आदि के न रहने से यहाँ लक्षणा का व्यापार भी नहीं स्वीकार किया जा सकता।

मुख्यार्थबाधादि त्रयं हेतुः।

लक्षणा के लिये तो मुख्यार्थ का बाध, मुख्य अर्थ का योग अथवा रूढ़ि और प्रयोजन में से कोई एक, ये तीनों हेतु माने जाते हैं।

तथा च—

(सू० २६) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।

न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥१६॥

अर्थ—यहाँ पर न तो लक्ष्य अर्थ मुख्य है, न मुख्य अर्थ की प्रतीति ही में कोई बाधा है, फल से कोई योग नहीं है और न इस प्रकरण में कोई विशेष प्रयोजन ही है, और न शब्द ही ऐसा है कि जिसमें बोध कराने की सामर्थ्य ही न हो।

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, यदि तद्वत् तटेऽपि सबाधः स्यात् तत्प्रयोजनं लक्षयेत्। न च तटं मुख्योऽर्थः। नाप्यत्र बाधः। न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सम्बन्धः। नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम्। नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः।

जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में गङ्गा शब्द प्रवाह रूप अर्थ में बाधित होने के कारण लक्षणा द्वारा तट का बोध कराता है यदि वैसे ही तट रूप अर्थ के बोध में बाधित होता तो लक्षणा द्वारा प्रयोजन का बोध कराता। परन्तु न तो तट मुख्य अर्थ ही है और न तट रूप अर्थ की प्रतीति में किसी प्रकार की बाधा है और न गङ्गा शब्द का तट से पावनत्वादि लक्ष्य अर्थ की प्रतीति ही का सम्बन्ध है, और न यह प्रयोजन रूप लक्ष्य अर्थ में कोई और प्रयोजन है। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि गङ्गा शब्द तट के समान प्रयोजन के बोध कराने में शक्तिरहित है।

(सू० २७) एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।

अर्थ—और इस प्रकार से तो अनवस्था दोष आ पडेगा जो मूल ही का विनाशकारक हो जावेगा।

एवमपि प्रयोजनं चेल्लाक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेण तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृद् अनवस्था भवेत्।

यदि इस रीति से प्रयोजन भी लक्षित होने लगे तो उसके लिये कोई अन्य प्रयोजन और इस पिछले प्रयोजन के लिये भी कोई एक अन्य प्रयाजन इत्यादि प्रयोजनों की परम्परा बाँधनी पड़ेगी। वह भी ऐसी कि फिर उसकी सीमा ही न मिल सकेगी, अतएव अनवस्था दोष शिर पर आ पडेगा। (अतः अनवस्था दोष के निवारणार्थ प्रयोजन को लक्ष्य अर्थ में नहीं सम्मिलित कर सकते।)

ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते। 'गङ्गायास्तटे' घोष इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा तत्किं व्यञ्जनयेत्याह—

फिर यदि कोई कहे कि पावनत्वादि धर्म के साथ ही साथ तट यह अर्थ भी लक्षित ही होता है, अतएव गङ्गाजी के तट पर अहीरों की बस्ती है इतने अधिक अर्थ की प्रतीति मात्र प्रयोजन है, इतना विशेष अर्थ बोध कराने के लिये लक्षणा की गई है और व्यञ्जनात्मक व्यापार की कल्पना निरर्थक है तो इस शङ्का का समाधान ग्रन्थकार निम्नलिखित कारिका द्वारा करते हैं।

(सू० २८) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥ १७ ॥

अर्थ—लक्ष्य अर्थ का ज्ञान प्रयोजन के विषय ज्ञान सहित स्वीकार करना उचित नहीं है।

कुत इत्याह—

यदि कोई पूछे कि ऐसा क्यों तो उसका उत्तर यह है कि—

(सू० २९) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।

अर्थ—ज्ञान का विषय तो कुछ और होता है और फल उससे भिन्न ही कहा गया है।

प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः । फलं च प्रकटता संवित्तिर्वा ।

जैसे प्रत्यक्ष इत्यादि ज्ञान का विषय तो नील आदि रङ्ग है; परन्तु उसका फल नीलत्व का प्रकट होना अथवा नीलत्व का संवेदन (ज्ञान) है ।

इस रीति से प्रयोजन विशिष्ट अर्थ लक्षित नहीं होता अतएव कहते हैं कि—

(सू० २०) विशिष्टे लक्षणा नैवं ।

व्याख्यातम्

इस प्रकार विशिष्ट अर्थ में लक्षणा नहीं हो सकती । तो फिर यदि कोई पूछे कि प्रयोजन आदि की प्रतीति होती कैसे है ? तो उसका समाधान करते हैं कि—

(सू० २१) विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥१८॥

अर्थ—लक्षणा द्वारा (तटादिक) अर्थ के ज्ञान हो जाने के अनन्तर प्रयोजनादि की प्रतीति (लक्षणा से भिन्न) किसी अन्य व्यापार द्वारा होती है ।

तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधा तात्पर्यलक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जनध्वननद्योतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम् ।

तटादि में जो पावनत्वादि की विशेषता है उसका ज्ञान अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा आदि व्यापारो से भिन्न किसी और ही व्यापार द्वारा होता है, जिसका नाम व्यञ्जन, ध्वनन, द्योतन इत्यादि चाहे जो भी रखिये पर उसकी सत्ता अवश्य माननी पडेगी ।

एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुक्तम् । अभिधामूलं त्वाह—

इस रीति से यहाँ लक्षणा मूलक व्यञ्जना का निरूपण किया गया अब आगे अभिधामूलक व्यञ्जना के निरूपण के लिये उसका नियम करते हैं ।

(सू० २२) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।

संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥ १९ ॥

अर्थ—अनेक अर्थवाले शब्द का जब संयोगादि के द्वारा वाचकत्व (अभिधा शक्ति द्वारा बोध्य, साङ्केतिक अर्थ) नियत हो जाता है तब उस शब्द के किसी और अर्थ का, जो कि साङ्केतिक नहीं है और फिर भी उसका ज्ञान उत्पन्न होता है वैसे ज्ञान के उत्पन्न करनेवाले व्यापार का (जो कि अभिधा से भिन्न है) नाम अञ्जन (व्यञ्जना) है।

[यदि यह पूछिये कि ये संयोगादि क्या हैं तो कहते हैं—]

"संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥"

अर्थ—यहाँ पर भिन्न-भिन्न वाच्य अर्थों में से किसी एक का निर्णय न हो सके वहाँ पर संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, शब्दान्तर का नैकट्य, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि विशेष अर्थ के बोध के कारण माने जाते हैं।

इत्युक्तदिशा सशङ्खचक्रो हरिः अशङ्खचक्रो हरिरित्युच्यते। रामलक्ष्मणाविति दाशरथौ। रामार्जुनगतिस्तयोरिति भार्गवकार्त्तवीर्ययोः। स्थाणुं भज भवच्छिदे इति हरे, सर्वं जानाति देव इति युष्मदर्थे, कुपितो मकरध्वज इति कामे। देवस्य पुरारातेरिति शंभौ। मधुना मत्तः कोकिल इति वसन्ते। पातु वो दयितामुखमिति साम्मुख्ये। भात्यत्र परमेश्वर इति राजाधानीरूपाद्देशाद्राजनि। चित्रभानुर्विभातीति दिने रवौ, रात्रौ वह्नौ। मित्रं भातीति सुहृदि। मित्रो भातीति रवौ। इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेदे एव न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत्।

उक्त रीति से शङ्ख और चक्र से युक्त और रहित 'हरि' शब्द का अर्थ अच्युत (भगवान् विष्णु) में नियत हो जाता है। (और उसके द्वारा हरि शब्द के अनेक वानर, शुक, यम सूर्य आदि पर्यायवाची शब्दों की प्रतीति नहीं होती) इसी प्रकार 'राम और लक्ष्मण' शब्द

यदि एकत्र हों तो राम शब्द का अर्थ दशरथ पुत्र में नियत हो जाता है (और परशुराम वा बलराम आदि अर्थान्तरों की प्रतीति नहीं होती)। 'उन दोनों का व्यवहार परस्पर रामार्जुनवत् है' इस वाक्य मे राम शब्द का अर्थ परशुराम (न कि दशरथ पुत्र वा बलराम) और अर्जुन शब्द का अर्थ सहस्रबाहु (न कि पाण्डव) है। 'संसारच्छेद के लिये स्थाणु का भजन करो' इस वाक्य मे स्थाणु शब्द का अर्थ महादेव जी है। 'देव ! सब जानते हैं।' यहाँ देव शब्द का अर्थ समुखस्थ राजा है। 'मकरध्वज क्रुद्ध हैं, इस वाक्य में मकरध्वज का अर्थ कामदेव है। 'देव पुराराति का' इस वाक्यांश में देव शब्द का अर्थ शम्भु (महादेव जी) है। 'कोयल मधु से मतवाली है' इस वाक्य मे मधु शब्द का अर्थ वसन्त ऋतु है। 'प्यारी स्त्री का मुख तुम्हारी रक्षा करे' (अर्थात् तुम्हारे लिये सुखदायक हो) यहाँ पर पातु (रक्षा करे) शब्द का अर्थ संमुखीन (चुम्बन आदि के लिए उद्यत) होना है। यहाँ पर परमेश्वर शोभित हैं' यह वाक्य राजधानी में कहा गया है अतएव यहाँ परमेश्वर शब्द का अर्थ राजा है। 'चित्रभानु प्रकाशित हैं' यह वाक्य यदि दिन मे कहा जाय, तो चित्रभानु का अर्थ सूर्य होगा, और यदि रात्रि मे कहा जाय तो अग्नि होगा। 'मित्रं भाति' (मित्र प्रकाशित होता है) इस वाक्य में मित्र शब्द नपुंसक लिङ्ग होने से सुहृद् का अर्थ देता है और 'मित्रो भाति' मे पुल्लिङ्ग होने से सूर्यरूप अर्थ का द्योतक है। 'इन्द्रशत्रु' शब्द में यदि इन्द्र के रेफ पर विशेष बल दिया जाय तो बहुव्रीहि समास द्वारा 'इन्द्र है शत्रु (विनाशक) जिसका' ऐसा अर्थ होता है। और यदि शत्रु के ऊपर बल देकर उच्चारण करने मे तत्पुरुष समास किया जाय तो 'इन्द्र का शत्रु' (विनाशक) ऐसा अर्थ होता है। इन्द्र शत्रु आदि शब्दों मे जो स्वर विशेष अर्थ-ज्ञान का कारण होता है वह वेद ही में प्रचलित है लौकिक काव्यों मे नहीं।

आदिग्रहणात्—

मूल की कारिका में स्वरादयः के आदि शब्द से चेष्टा, संकेत,

अभिनय आदि का ग्रहण करना चाहिये।

[चेष्टादि का उदाहरण—]

एद्दहमेतत्थणिआ एद्दहमेत्तहिं अच्छिवत्तेहि।
एद्दमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहि दिअएहि ॥११॥

[छाया—एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम्।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैः दिवसैः ॥]

अर्थ—केवल सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर अनुराग (प्रेम) करनेवाले नायक से किसी नायिका का वर्णन करती हुई दूती कहती है कि उस नायिका के दोनों स्तन इतने बड़े-बड़े (चेष्टा द्वारा हाथ से आम नारङ्गी आदि का रूप बनाकर दिखाती है) हैं। उसकी आँखों की पलकें ऐसी ऐसी (कमल पत्र के आकार की चेष्टा करती है) हैं। उसकी अवस्था इतनी (हाथ से ऊँचाई दिखाकर छोटी, नाटी आदि होने का सङ्केत करती है) है। और वह इतने दिन (अंगुल्यादि से वर्ष गणना की सूचना का सङ्केत बताती है) की है।

इत्यादावभिनयादयः। इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत्क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा नियमनात्तस्याः। न च लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावात्। अपि त्वञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः। यथा—

इस रीति से जब संयोग आदि के द्वारा अभिधेय अर्थ को छोड़ शेष अर्थों की प्रतीति का निवारण कर दिया जाता है तब भी यदि कहीं अनेक अर्थवाले शब्दों के अन्यान्य अर्थों की प्रतीति हो तो अभिधा व्यापार द्वारा एक अर्थ के नियत हो जाने पर अन्य अर्थ की प्रतीति उस अभिधा व्यापार के द्वारा न होगी। मुख्यार्थ के बाध आदि के न रहने से इस द्वितीय अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा भी न होगी। अतः इस अर्थान्तर की प्रतीति का जो कोई व्यापार है वह अभिधा और लक्षणा व्यापार से भिन्न है। इस व्यापार को लोगों ने अञ्जन अथवा व्यञ्जना के नाम से प्रसिद्ध किया है और इसकी प्रतीति नियमपूर्वक

अभिधेय अर्थ की प्रतीति के अनन्तर होगी।

[उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक लीजिये—]

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल-
वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य
दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥१२॥

अर्थ—(राजा के पक्ष में) जिस राजा का अन्तःकरण मनोहर है, जिसके शरीर को कोई पराजित नहीं कर सकता, बड़े वंश मे उत्पन्न होने के कारण संसार मे जिसकी बड़ाई विख्यात है, जिसने बाण चलाने का दृढ़ अभ्यास कर रखा है, जिसके ज्ञान की गति अबाधित है और जो अपने शत्रुओं के निवारण में समर्थ है, उस (राजा) का हाथ सदा दान के लिए (हथेली में) लिए जल के द्वारा सींचे जाने के कारण सुशोभित था।

(हस्ती के पक्ष में) जो हाथी भद्र जाति का है, बहुत ऊँचे होने के कारण जिसके शरीर पर कोई साधारण मनुष्य नहीं चढ़ सकता, जिसकी ऊँचाई लम्बे बाँस-सी है, (या जिसका पृष्ठवंश बहुत ऊँचा है) जिसके समीप (मदगन्ध लोभी) भौंरे उपस्थित हैं, जिसकी गति धीमी और उद्धत है उस उत्कृष्ट जाति के हाथी का शुण्डादण्ड सदा मद के जल मे सिंचित होकर अत्यन्त मनोहर लगता था।

[प्रकरण के अनुसार यह श्लोक किसी राजा की प्रशंसा में कहा गया है; परन्तु अनेक अर्थवाले शब्दों के प्रयोग के कारण हाथी के पक्ष मे भी इसका अर्थ घटित होता है। ऐसी अवस्था मे राजपक्षवाले अर्थ का ज्ञान अभिधा शक्ति द्वारा और हस्तिपक्षवाले अर्थ का ज्ञान व्यञ्जना शक्ति द्वारा होता है।

(सू०३२) तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः।

अर्थ—उससे युक्त शब्द को व्यञ्जक कहते हैं।

तद्युक्तो व्यञ्जनयुक्तः।

यहाँ 'उससे युक्त' का अर्थ व्यञ्जनायुक्त है।

(सू०३४) यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥ १६ ॥

अर्थ—जब वैसे व्यञ्जक शब्द का व्यञ्जना व्यापार द्वारा कोई अन्य अर्थ निकलता है तब उस दूसरे अर्थ की प्रतीति का सहायक होने से वह अर्थ भी व्यञ्जक ही के नाम से स्वीकार कर लिया जाता है।

तथेति व्यञ्जकः।

यहाँ पर 'वैसे' और 'इस' शब्द का अर्थ व्यञ्जक शब्द ग्रहण करना चाहिये।

तृतीय उल्लास

(सू० २५) अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्

अर्थ—ऊपर (द्वितीय उल्लास में) उन (वाचक आदि) शब्दों के (वाच्य आदि) अर्थ कहे जा चुके हैं।

अर्था वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्याः। तेषां वाचकलाक्षणिकव्यञ्जकानाम्।

यहाँ पर अर्थ से तात्पर्य वाच्य, लक्ष्य, और व्यंग्य इन तीनों प्रकार के अर्थों से है। और 'उन' शब्द का वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों से अभिप्राय है।

(सू० २६) अर्थव्यञ्जकतोच्यते।

अर्थ—अब अर्थों की भी व्यञ्जकता अर्थात् व्यञ्जना व्यापार द्वारा अवगत होनेवाले अर्थ की प्रतीति का निरूपण किया जाता है।

कीदृशीत्याह—

वह अर्थ-व्यञ्जकता कैसी (कौन-से स्वरूपवाली) है? इस प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं—

(सू० २७) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥२१॥
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२२॥

अर्थ—वक्ता (कहने वाला), बोद्धव्य (जिससे कहा जाय), काकु (शोक, भय विस्मय आदि चित्तगत भावों को प्रकट करनेवाला ध्वनि का विकार) इन तीनों का तथा वाक्य (एक अर्थबोधक पद समूह) वाच्य (शक्य अर्थ) तथा किसी और का नैकट्य, इन सब का और प्रकरण, स्थान (सुन्दर वाटिका आदि) काल (दिन, रात, वसन्तादि ऋतु) की विशेषता के कारण व्यवहार से जिनकी बुद्धि प्रखर हो गई है

ऐसे विज्ञों को जो कोई (वाच्य से भिन्न) अन्य अर्थ प्रतीत होता है, उस अर्थ प्रतीति का कारणभूत जो व्यापार है, उसी को व्यञ्जना कहते हैं।

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः। काकुर्ध्वनेर्विकारः। प्रस्तावः प्रकरणम्। अर्थस्य वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यात्मनः।

यहाँ पर मूलकारिका में बोद्धव्य शब्द का अर्थ है प्रतिपाद्य अर्थात् जिसको समझाने के लिये शब्दादि का व्यवहार किया जाता है। काकु शब्द का अर्थ है ध्वनि (विस्मयादि मानसिक भावों का बोधक स्वर) का विकार (भेद वा रूपान्तर)। प्रस्ताव शब्द का अर्थ है प्रकरण और अर्थ से तात्पर्य वाक्य लक्ष्य और व्यंग्य इन तीनों अर्थों से है।

क्रमेणोदाहरति—

अब क्रमशः प्रत्येक के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

[वक्ता की विशेषता से वाच्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण—]

अइ पिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदम्हि सहि तुरिअम्।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ॥१२॥

[छाया—अतिपृथुल जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम्।
श्रमस्वेदसलिलनिश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥]

अर्थ—[कोई व्यभिचारिणी स्त्री जल भरने के लिए नदी तट पर गई। वहाँ पर जार से उसकी भेंट हो गई। जार ने उस स्त्री से समागम किया जिससे वह पसीने से तर हो गई और शीघ्रता से साँसे भी लेने लगी उसकी ऐसी दशा देखकर एक सखी ने उसके गुप्त व्यापार को ताड़ लिया। अब वह व्यभिचारिणी स्त्री अपने व्यापार को छिपाने के लिये कहती है—] हे सखि! मैं बहुत बड़े पानी के घड़े को लेकर बड़ी शीघ्रता से चली आ रही हूँ। इस परिश्रम के कारण पसीने से लथपथ हो लम्बी साँस खींचती हुई बहुत थक गई हूँ। अतः क्षण भर यहाँ पर विश्राम करूँगी। [भाव यह है कि कहने-

वाली स्त्री की ऐसी दशा जल के घड़े के बड़े होने के कारण हो रही है, लोग ऐसा ही समझें कुछ और नहीं]।

अत्र चौर्यरतगोपनं गम्यते।

यहाँ पर कहनेवाली स्त्री के व्यभिचारिणी होने से यह बात व्यक्त हुई कि वह स्त्री अपने चौर्यरत (छिपाछिपी व्यभिचार) का गोपन (दुराव) कर रही है।

[बोद्धव्य (श्रोता) की विशेषता से वाच्य अर्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण—]

ओणिद्दं दोव्वल्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम्।
मह मंदभाइणीए केरं सहि तुहवि अहह परिहवइ ॥१४॥

[छाया—औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम्।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति ॥]

अर्थ—हे सखि ! खेद का विषय है कि मुझ अभागिनी के कारण लम्बी साँस फेंकने के साथ, नींद न लगने की पीड़ा, दुर्वलता, चिन्ता और आलस्य आदि उपद्रव तुम्हें भी खिन्न कर रहे हैं।

अत्रदूत्यास्तत्कामुकोपभोगो व्यज्यते।

यहाँ पर दूती के बोद्धव्य (जिससे कहा जावे ऐसी) होने से नायिका के कामुक (नायक) द्वारा उस दूती का उपभोग व्यक्त किया गया है।

[यहाँ पर नायिका अपनी दूती को इस बात का उलाहना देती है, कि तू सन्देशा ले जानेवाली दूती बनकर मेरे ही कामुक (नायक) के साथ रति कराती है, यह मैंने ताड़ लिया है।]

[ध्वनि विकार की विशेषता से वाच्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण—]

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥१५॥

अर्थ—[वेणीसंहार नामक नाटक के प्रथम अङ्क मे कौरवों को दबाने की चेष्टा में महाराज युधिष्ठिर को अनुत्साहित देख जब भीमसेन उनको उलाहना देते हैं तब सहदेव कहते हैं कि भाई ऐसा मत कहो, नहीं तो जेठे भाई चिढ़ जावेंगे। इसी प्रकरण में भीमसेन पूछते हैं कि क्या गुरुजी महाराज (युधिष्ठिर) चिढ़ना भी जानते हैं? अपने इसी प्रश्न के प्रस्ताव पर भीनसेन कहते हैं—] राजसभा में रजस्वलावस्था में दुःशासन द्वारा नंगी की जाती हुई पाञ्चाल देश के राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी की दशा देख, चिरकाल तक वन में व्याधों के साथ वृक्षों की छाल ओढ़ निर्वाह करनेवाले हम लोगों के निवास पर, सूदादि (अन्नपाचन कर्तादि) के अनुचित व्यापार करके एकान्त में छिप के राजा विराट के नगर में निवास को देख कर जो हम लोग विषण्ण हैं, उन पर तो गुरु क्रुद्ध होंगे, परन्तु अभी उन्हें कौरवों पर क्रोध करने का अवसर नहीं आवेगा?

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काक्वा प्रकाश्यते।

यहाँ पर भीमसेन अपने ध्वनिविकार से यह भाव व्यक्त करते हैं कि महाराज को मुझ पर नहीं चिडना चाहिये; किन्तु चिढ़ना चाहिये कौरवों पर।

न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्रकाकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यम् प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः।

यहाँ पर वाच्य सिद्ध्यङ्गरूप गुणीभूत व्यंग्य की शङ्का न करनी चाहिये, क्योंकि प्रस्तुत उदाहरण मे व्यग्य को प्रतीति वाक्य के पूर्ण अर्थ विदित हो जाने के पीछे होती है। जहाँ पर काकु अर्थात् ध्वनि-विकार द्वारा सम्पूर्ण वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं होती और उस प्रतीति के लिये व्यंग्य अर्थ की भी सहायता लेनी पड़ती है वहीं पर व्यग्य गुणीभूत होता है। यहाँ तो केवल प्रश्न ही से वाक्य के पूर्ण अर्थ की प्रतीति हो जाती है, अतएव यहाँ पर व्यंग्य (वाक्यार्थ प्रतीति के अनन्तर विलग से होने के कारण) गुणीभूत नहीं है।

[वाक्य की विशेषता से वाच्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण—]

तइआ मह गंडत्थलणिमिअं दिट्ठिं ण णेसि अण्णत्तो ।
एण्हिं सच्चेअ अहं तेअ कवाला ण सा दिट्ठी ॥१६॥

[छाया—तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र ।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः ॥]

अर्थ—[नायिका के समीप में स्थित किसी प्यारी स्त्री को नायिका के भय से साक्षात् न देखकर नायिका ही के मुखदर्शन के बहाने से उसके कपोल पर प्रतिबिम्बित उस प्यारी स्त्री को सादर अवलोकन करके उस स्त्री के चले जाने पर प्रतिबिम्ब के हट जाने से वैसी आदर भरी दृष्टि न रखनेवाले नायक के व्यापार को उसकी दृष्टि के विकार द्वारा ताड़कर इस गुप्त भेद को जाननेवाली नायिका नायक से साक्षेप वचन कहती है—] तब तो (जब वह तुम्हारी प्रियतमा मेरे समीप में खड़ी थी) मेरे कपोल से मिलित दृष्टि को आप खींचकर अन्यत्र नहीं ले जाते थे; परन्तु अब (जब वह चली गई) तो यद्यपि मैं वही हूँ और मेरे दोनों कपोल भी वे ही हैं; तथापि आपकी दृष्टि कुछ और की और हो गई है।

अत्र मत्सखीं कपोलप्रतिबिम्बितां पश्यतस्ते दृष्टिरन्यैवाभूत् चलितायान्तु तस्यामन्यैव जातेत्यहो प्रच्छन्नकामुकत्वं ते इति व्यज्यते ।

यहाँ पर व्यञ्जना द्वारा यह अर्थ प्रकट होता है कि मेरे कपोल पर प्रतिबिम्बित मेरी सखी की मूर्ति देखते समय तो आपकी दृष्टि कुछ और ही थी; परन्तु अब उसके चले जाने पर वह दृष्टि पलट गई। इस आपके गुप्त प्रेम को मैंने ताड़ लिया है।

[वाच्य की विलक्षणता से वाच्य की व्यञ्जकता का उदाहरण—]

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी,
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः ।
किं चैतस्मिन्सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाताः;

येषामग्रे सरति कलिताकाण्डकोपो मनोभूः ॥१७॥

अर्थ—[किसी नायिका के साथ रति की इच्छा करनेवाले किसी कामुक का अथवा किसी दूती का कथन है—] हे कृशाङ्गि ! यह नर्मदा नदी के तट का ऊँचा प्रदेश रसीले केले के वृक्षों की पक्ति के कारण अति रमणीय है और इसके लताभवनों की अति समृद्धि के कारण सुन्दरी स्त्रियों के चित्त मे चञ्चलता उत्पन्न हो जाती है। तथा इसमे सुरतकाल मे सुख देनेवाले वायु के ऐसे झोंके चल रहे है जिनके आगे अनवसर पर भी क्रोध करने वाला कामदेव चला करता है।

अत्र रतार्थं प्रविशेति व्यङ्ग्यम्।

यहाँ पर व्यग्य अर्थ यह है कि इस प्रदेश के भीतर सुरत के लिए प्रवेश करो।

[अगले श्लोक मे दूसरे के नैकट्य की विशेषता के कारण वाच्य की व्यञ्जकता का उदाहरण प्रदर्शित किया गया है—]

णोल्लेइ अणोल्लमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि।
खणमेत्तं जइ संझाई होइ ण व होइ वीसामो ॥१८॥

[छाया—नुदत्यनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मां गृहभरे सकले।
क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः ॥]

अर्थ—[कोई नायिका अपने गुरुजनों के समीपवर्ती होने के कारण स्पष्टरूप से कुछ कहने में असमर्थ हो पास में स्थित अपने जार को संकेत काल बतलाने के लिये उदासीनतापूर्वक पड़ोसिन से सास का गिल्ला करती हुई कहती है—] मेरी कठोर हृदयवाली सास तो मुझे घर के सभी कामों मे जोत दिया करती है। अवकाश यदि क्षण भर के लिये कहीं सायकाल को मिला तो मिला और न मिला तो वह भी नहीं।

अत्र सन्ध्या सङ्केतकाल इति तटस्थं प्रति कयाचिद् द्योत्यते।

यहाँ पर किसी तटस्थ (अन्य व्यक्ति अर्थात् जार) के प्रति कोई नायिका सन्ध्या के समय को अपने समागम का सकेतकाल बतला रही है।

[प्रकरण की विशेषता से वाच्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण—]

सुव्वइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण ।
एमे अ किंत्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जम् ॥१९॥

[छाया—श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण ।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि सज्जय करणीयम् ॥]

अर्थ—[जार के निकट गमन करने के लिये प्रस्तुत किसी नायिका से उसके पति के आगमन की वार्ता सुनकर कोई सखी औरों के सामने उसे प्रस्थान से निवारण करने के लिये कहती है—] हे सखि ! सुन पड़ता है कि आज पहर भर के भीतर ही तुम्हारे पति आ जावेंगे तो तुम यों ही निर्व्यापार क्यों हो रही हो ? पति के आगमनानुकुल जो श्रृंगार आदि तुम्हें करने हों उन्हें कर लो ।

अत्रोपपतिं प्रत्यभिसर्त्तुं प्रस्तुता न युक्तमिति कयाचिन्निवार्यते ।

यहाँ पर जार के समीप जाने के लिये उद्यत किसी नायिका को उसकी सखी जाने से रोकती हुई कहती है कि यह अवसर अभिसरण (जार के निकट गमन) के योग्य नहीं है ।

[देश की विशेषता से वाच्य की व्यञ्जकता का उदाहरण—]

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥२०॥

अर्थ—[गुप्तवेश धारण किये हुए अपने जार को उपस्थित देखकर कोई नायिका अपनी सखियों से कहती है—] हे सखियो ! तुम लोग चली जाओ और कहीं अन्यत्र फूलों को चुनो । मैं तो यहाँ हूँ ही । यहाँ के फूलों को मैं चुने लेती हूँ । मैं अधिक दूर तक घूम फिर नहीं सकती । अतएव तुम लोगों से हाथ जोड़ विनय करती हूँ कि मुझ पर दया करो ।

अत्र विविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाऽभिसार्यतामिति आत्मीयां प्रति कयाचिन्निवेद्यते ।

यहाँ पर 'यह निर्जन प्रदेश है' अतः तुम यहाँ गुप्तवेषधारी मेरे जार को वेखटके चले आने दो। ऐसा भाव कोई नायिका निज विश्वास पात्र सखी से प्रकट करती है।

[काल की विशेषता से वाच्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण—]

गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तुह मंदभाइणी अहकम्।
अज्ज पवासं वच्चसि वच्च सअं जेव्व सुणसि करणिज्जम् ॥२१॥

[छाया—गुरुजनपरवशप्रिय! किं भणामि तव मन्दभागिनी अहकम्।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम्।]

अर्थ—[परदेश जाने के लिये उद्यत किसी नायक से उसकी नायिका कहती है—] हे गुरुजनों के पराधीन प्यारे! मैं तुमसे क्या कहूँ। मैं तो निश्चय ही अभागिनी हूँ। यदि आप आज परदेश को जाते हैं तो जाइये। मुझे जो कुछ करना है उसे तो आप स्वय सुनेंगे ही।

अत्राद्य मधुसमये यदि व्रजसि तदाऽहं तावत् न भवामि तव तु न जानामि गतिमिति व्यज्यते।

यहाँ पर नायिका नायक से कहती है कि यदि आप इस वसन्त ऋतु मे परदेश जाते हैं तो मैं जी न सकूँगी। पर आपकी क्या गति होगी उसे मैं नहीं जानती, ऐसा व्यंग्य अर्थ प्रकट होता है।

आदिग्रहणाच्चेष्टादेः। तत्र चेष्टाया यथा—

मूलकारिका के 'प्रस्तावदेशकालादेः' मे आदि पद से चेष्टा आदि का ग्रहण अभिमत है।

[चेष्टा की विशेषता से वाच्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण—]

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया[1]
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम्।
आनीतं पुरतः शिरोऽशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने।
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते ॥२२॥

---

[1] 'सौन्दर्य साराश्रया' यह भी पाठान्तर है।

अर्थ—[अपने सम्बन्ध में नायिका की विशेष-विशेष चेष्टाओं को समझनेवाला कोई चतुर नायक अपने मित्र से कह रहा है—] जब मैं द्वार के अत्यन्त निकट पहुँच गया तब उस परम सुन्दरी नायिका ने अपने दोनों ऊरुओं (घुटनों के ऊपरी भाग) को फैला कर फिर परस्पर मिला लिया, (अपने घुटनों को परस्पर मिला लेने की चेष्टा से उस नायिका ने स्पष्टक नामक आलिङ्गन का भाव प्रकट किया[1]।) तदनन्तर उसने अपने घूँघट से शिर को ढक लिया, (भाव यह था कि मेरे समीप आना तो गुप्त रूप से छिपकर आना) फिर उसने अपनी चञ्चल आँखों को नीची कर लिया, (तात्पर्य यह था कि मेरे समीप आने का समय सायङ्काल है जब कि कमल मुँद जाते हैं), फिर उसने अपने मुख को ऐसा बन्द कर लिया कि उस मुख में से कुछ भी शब्द न निकल पाया, (यह इस बात का संकेत था कि जब मनुष्य का कोलाहल बन्द हो जाय तब चुपके से ऐसा आना कि किसी को मेरे समीप तुम्हारा आगमन विदित न होने पावे, तत्पश्चात् उस नायिका ने अपनी लता सदृश दोनों भुजाओं को संकुचित कर (सिकोड़) लिया। (अभिप्राय यह था कि मैं तुम्हारे आगमन का यही पुरस्कार दूँगी अर्थात् इन भुजलताओं से तुम्हारा निर्भर (गाढ़ा) आलिङ्गन करूँगी।

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तविषय आकूतविशेषो ध्वन्यते।

यहाँ पर चेष्टा द्वारा गुप्त कान्त के सम्बन्ध में अपना विशेष अभिप्राय (मुख से बिना कुछ उच्चारण किये ही) प्रकट किया गया है।

निराकाङ्क्षत्वप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया च पुनः पुनरुदाहियते।

-वक्त्रदीनां मिथःसंयोगे द्विकादिभेदेन । अनेन क्रमेण लक्ष्यव्यङ्ग्ययोश्च व्यञ्जकत्वमुदाहार्य्यम् ।

यथार्थ बोध में किसी प्रकार की विशेष जिज्ञासा शेष न रह जाय, इस कारण यथावसरप्राप्त उदाहरण बारंबार लिखे गये हैं। वक्ता, (कहनेवाला) बोद्धव्य (जिससे कहा जाय) आदि दो-तीन व्यक्तियों के एकत्र हो जाने पर, प्रकरणानुसार द्विक (दो व्यक्तियों के परस्पर मिलने पर वाच्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थ की व्यक्ति) त्रिक (तीन जनो के परस्पर मिलने पर वाच्यार्थ से भिन्न किसी व्यंग्य अर्थ का प्रकटीकरण) इत्यादि भेद भी होते हैं। इसी रीति से वाच्य अर्थ के व्यञ्जकता की भाँति लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थों की व्यञ्जकता के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं।

द्विकादिभेदे वक्त्रबोधव्यभेदे यथा—

द्विक[1] आदि भेदों में से वक्तृ-बोद्धव्यरूप द्विक की विशेषता से वाच्य की व्यञ्जकता का उदाहरण—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ अहं दिअहए पलोए
मा पहिअ रत्तिअंधअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥
[छाया—श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसके प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्धक शय्यायामावयोर्निमङ्क्ष्यसि ॥]

अर्थ—[रात मे निवास के लिए स्थान चाहनेवाले किसी कामातुर पथिक से कोई ऐसी व्यभिचारिणी नायिका, जिसका पति परदेश चला गया है, स्वयं दूती (सन्देश हारिणी) बनकर कहती है—] हे रतौंधी रोग वाले पथिक ! तुम दिन ही मे भली भाँति देख कर यह समझ लो कि इस स्थान पर तो मेरी सास लेटती है और यहाँ पर मैं सोती हूँ। रात में कहीं ऐसा न हो कि तुम धोखे से हम लोगों की शय्या पर

---

[1] कई काव्यप्रकाश की पुस्तकों के मूल भाग में द्विक आदि के भेदों के उदाहरण नहीं दिये गये हैं।

आकर गिर पड़ो।

[यहाँ श्रोता के कामातुर और कहनेवाली स्त्री के व्यभिचारिणी होने के कारण यह व्यंग अर्थ निकलता है कि यहाँ सुनसान है, वहिरी बुढ़िया सास को छोड़ और घर में कोई अन्य व्यक्ति नहीं है, अतः तुम वेखटके मेरी ही शय्या पर आकर सोना। इसी प्रकार त्रिक आदि के भेदों को भी समझ लेना चाहिये।]

(सू० ३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥२३॥

अर्थ—किसी भी अन्य अर्थ की व्यञ्जकता उसी प्रथम अर्थ के द्वारा होती है जो शब्दप्रमाण के द्वारा जाना जाता है। अतएव अर्थों की व्यञ्जकता मे भी शब्द की सहायता स्वीकार की जाती है।

शब्देति। नहि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो व्यञ्जकः।

शब्द से भिन्न किसी और प्रमाण द्वारा ज्ञात अर्थ व्यञ्जक नहीं माना जाता, इसलिये कहते हैं कि व्यञ्जक (व्यञ्जना व्यापार द्वारा जानने योग्य) अर्थ वही है जो शब्द के प्रमाण या आधार द्वारा अवगत किया जाता है।

चतुर्थ उल्लास

यद्यपि शब्दार्थयोर्निर्णये कृते दोषगुणालङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयं तथापि धर्मिणि प्रदर्शिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायत इति प्रथमं काव्य-भेदानाह—

यद्यपि शब्द तथा अर्थ इन दोनों का निर्णय कर लेने के पश्चात् गुण, दोष और अलङ्कारों का स्वरूप कहना चाहिये; तथापि प्रथम धर्मी (काव्य) के भली भाँति निरूपण किये जाने पर धर्म (गुण, दोष और अलङ्कार) के सग्रह वा त्याग का ज्ञान हो सकता है। अतएव प्रथम काव्य के भेदों का निर्णय किया जाता है।

[ध्वनि-काव्य के भेदों मे से प्रथम लक्षणामूलक ध्वनि का निरूपण ग्रन्थकार करते हैं—]

(सू० ३६) अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद्ध्वनौ।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥२४॥

अर्थ—जिस ध्वनि (उत्तम काव्य) मे अन्वय को अयोग्यता से वाच्यार्थ ठीक-ठीक अवगत न हो सके वहाँ पर वाच्यार्थ किसी और अर्थ मे परिणत हो जाता है अथवा अत्यन्त तिरस्कृत माना जाता है।

लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविवक्षितं वाच्यं यत्र स 'ध्वनौ' इत्यनुवादात् ध्वनिरिति ज्ञेयः। तत्र च वाच्य कचिदनुपयुज्य-मानत्वादर्थान्तरे परिणमितम्। यथा—

लक्षणामूलक गूढ व्यग्य की जहाँ पर मुख्यता होती है वहीं पर अविवक्षित वाच्य होता है। प्रकरणानुसार ध्वनि इस शब्द के उच्चारण से यहाँ पर ध्वनि (उत्तम काव्य) ही समझना चाहिये। ध्वनि में जहाँ पर वाच्य अर्थ प्रकरण के अनुसार ठीक-ठीक न प्रतीत हो सकता हो वहाँ पर वह (वाच्य अर्थ) किसी दूसरे अर्थ में परिणत हो जाता है।

जैसे—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तद् ॥२३॥

अर्थ—विद्वानों की सभा में जाते हुए किसी से उसका अभिभावक गुरु वा पिता आदि कहता है—] मैं तुम से कहता हूँ कि यहाँ पण्डितों का समाज इकट्ठा हुआ है अतः तुम अपनी बुद्धि के सहारे उनके बीच में बैठकर उचित रीति से व्यवहार करना ।

अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति ॥

यहाँ 'वच्मि' (मैं कहता हूँ) इस पद में 'कहना' क्रिया का उपयोग प्रकरणानुसार वक्ता के साक्षात् कथन करते समय अन्वय योग्य नहीं होता (उपयुक्त अर्थ नहीं देता) । अतएव 'वच्मि' का अर्थ कुछ और ही लगाना पड़ेगा । अर्थात् यहाँ पर 'वच्मि' का अर्थ है 'मैं तुम्हें उपदेश देता हूँ ।'

क्वचिदनुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम् । यथा—

कहीं-कहीं वाच्यार्थ उपयुक्त न होने के कारण अत्यन्त तिरस्कृत समझा जाता है । जैसे निम्नलिखित उदाहरण में ।

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ॥२४॥

अर्थ—अनेक अपकारों द्वारा पीड़ित कोई व्यक्ति अपने अपकारी से कहता है कि हे मित्र ! आपने मेरा बहुत उपकार किया है । इस विषय में मैं क्या कहूँ ? आपने बड़ा सौजन्य प्रकट किया । आप सदैव ऐसा ही करते हुए सैकड़ों वर्ष तक सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करें ।

एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया कश्चिद्वदति ।

यहाँ पर अपकारी मनुष्य के प्रति अपकृत द्वारा जो वाक्य कहे गये हैं उनका यथार्थ में प्रकरणानुसार वाच्य अर्थ उपयुक्त नहीं होता; अतएव लक्षणा द्वारा इसका अर्थ नितान्त विपरीत हो जाता है ।

[इस प्रकार लक्षणामूलक ध्वनि के दोनों भेदों का निरूपण करके अब अभिधामूलक ध्वनि के भेदों को कह रहे हैं।]

(सू० ४०) विवक्षित चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः।

अर्थ—जिस ध्वनि में वाच्य अर्थ अन्वय के उपयुक्त अर्थ का बोध कराकर व्यंग्य अर्थ का सहायक हो जाता है उस उत्तम काव्य के भेद को विवक्षितान्यपर वाच्य के नाम से पुकारते हैं।

अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम्। एष च

मूलकारिका मे 'अन्यपर' शब्द का अर्थ व्यङ्ग अर्थ का सहायक है। आगे विवक्षितान्यपर वाच्य नामक ध्वनि के भेदों का निरूपण किया जाता है।

(सू० ४१) कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमःपरः ॥२४॥

अर्थ—विवक्षितान्यपर वाच्य के दो भेद हैं। एक तो कोई अद्भुत चमत्कारकारी अलक्ष्यक्रम व्यंग्य है और दूसरा लक्ष्यक्रम व्यंग्य कहा जाता है।

अलक्ष्येति। न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः। अपितु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः। स तु लाघवान्न लक्ष्यते। तत्र

यहाँ पर अलक्ष्यक्रम व्यग्य कहने का कारण यह है कि वास्तव में विभाव (आलम्बन और उद्दीपन कारण) अनुभाव (रस प्रतीति जनक कार्य) और व्यभिचारी भावों (रस प्रतीति के सहायक कारणों) ही को रस न समझना चाहिये, किन्तु उनके द्वारा रस अभिव्यक्त (प्रकट) होता है ऐसा स्वीकार करना चाहिये। यद्यपि ये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव अवश्य क्रमपूर्वक ज्ञात होते हैं तथापि अतिशीघ्रता से प्रतीत होने के कारण (शतपत्र अर्थात् कमल के पत्रशत भेदन की भाँति) क्रमपूर्वक लक्षित नहीं हो सकते इस कारण से उन्हें अलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहा गया है।

[अब आगे अलक्ष्यक्रम व्यंग्य नामक ध्वनि के भेदों के प्रदर्शनार्थ निम्नलिखित कारिका उपन्यस्त होती है—]

(सू०४२) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।

भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥२६॥

अर्थ—शृङ्गारादि रस, देवता, गुरु आदि विषयक प्रीतिरूप भाव, इन दोनों के आभास [अनुचित उपयोग अर्थात् रसाभास और भावाभास] तथा भाव शान्त्यादि के निरूपक उत्तम काव्य (ध्वनि) अलक्ष्यक्रम व्यंग्य के बीच गिने गये हैं। ये रसवदादि अलङ्कारों से भिन्न हैं और अलङ्कार्य (प्रधान) रूप से वाक्यों में स्थित होते हैं।

आदिग्रहणाद्भावोदय भावसन्धि भावशबलत्वानि । प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालङ्कार्यः यथोदाहरिष्यते । अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्रांगभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यंग्ये रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि समाहिताद्योऽलङ्काराः । ते च गुणी भूतव्यंग्याभिधाने उदाहरिष्यन्ते ।

ऊपर की कारिका में जो भावशान्त्यादि ऐसा कहा गया है वहाँ पर आदि शब्द से तात्पर्य भावोदय, भावसन्धि और भावशबलत्व से है। जहाँ पर रसादिक प्रधान (अङ्गी) रूप से स्थित रहते हैं वहाँ पर वे अलङ्कार्य कहे जाते हैं, जैसा कि आगे उदाहरणों द्वारा स्पष्ट होगा। अन्य स्थानों पर जहाँ रसादिक वाक्यार्थ के अङ्गीभूत (अप्रधान) हो जाते हैं वहाँ पर गुणीभूत व्यंग्य नामक मध्यम काव्य में रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित इत्यादि अलङ्कार होते हैं। गुणीभूत व्यंग्य के विभागपूर्वक प्रदर्शन में ये सब यथास्थान उदाहृत होंगे।

तत्र रसस्वरूपमाह—

अब आगे की दो कारिकाओं से रस का स्वरूपनिरूपण करते हैं।

(सू० ४३) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥ २७॥

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥२८॥

अर्थ—स्थायी (अविच्छिन्न प्रवाहवाले) रत्यादिक (ललनादि विषयक प्रीतिरूप कोई विशेष मानसिक व्यापार) के जो आलम्बन प्रीति

की उत्पादिका ललना आदि) और उद्दीपन (प्रीति के पोषक चन्द्रोदयादि) ये दो कारण हैं तथा कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि जो कायिक, वाचिक एव मानसिक कार्य हैं; तथा शीघ्रता से उनकी प्रतीति करानेवाले जो निर्वेदादि सहकारी भाव हैं, वे यदि श्रव्य काव्य (रघुवंश आदि) और नाट्य (अभिज्ञान शाकुन्तल, उत्तर रामचरितादि) ग्रन्थों मे उपयोग में लाये जायँ तो उन्हीं को विभाव (स्वाद लेने योग्य) अनुभाव (अनुभव मे लाने योग्य) और व्यभिचारी भाव (विशेष रूप से हृदय में सञ्चार कराने योग्य) इन नामों से पुकारते हैं। इन्हीं विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों से व्यञ्जना वृत्ति द्वारा जो स्थायी भाव प्रतिपादित (सिद्ध) किया जाता है उसी (स्थायी भाव) का नाम (ध्वनिकार आदि आचार्यों ने) रस रखा है।

उक्तं हि भरतेन "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इति। एतद्विवृण्वते "विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितःअनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारीभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसंधानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः" इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।

नाट्य शास्त्र के रचयिता भरत आचार्य ने कहा भी है "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"। उक्त सूत्र का साधारण अर्थ तो यही है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के सम्बन्ध से रस का प्रकाश होता है; परन्तु इस सूत्र का विस्तारपूर्वक विशेष अर्थ भट्ट लोल्लट श्री शङ्कुक, भट्टनायक और श्रीमदाचार्य अभिनव गुप्त ने जैसा किया है उसे ग्रन्थकार मम्मट भट्ट यहाँ पर क्रमशः निरूपित करते हैं।

भट्ट लोल्लट आदि विद्वानों ने इस सूत्र का विवरण (विशदार्थ) निम्नलिखित रीति से किया है :—

विभावों (ललनादि आलम्बन और उद्यानादि उद्दीपन कारणों)

से जो स्थायी रत्यादिक भाव उत्पन्न किया जाता है; अनुभावों (कटाक्ष भुजाक्षेप आदि कार्यों) से जो प्रतीति के योग्य किया जाता है तथा निर्वेदादि व्यभिचारी भावों की सहायता से जो पुष्ट किया जाता और वास्तविक सम्बन्ध से नाटक मे राम सीता आदि के रूप धारण करनेवाले (नट) द्वारा उन्हीं के वेष, भूषण, वार्तालाप तथा चेष्टा आदि के दिखलाने से व्यञ्जना व्यापार द्वारा प्रकट किया जाता है उसी स्थायी भाव को रस कहते हैं।

[भट्ट लोल्लट आदि पण्डितों के सिद्धान्त का साराश इस प्रकार है—जैसे सर्प के न होने पर भी यदि धोखे से कोई रज्जु को सर्परूप मे देखे तो उसे स्वभावतः भय उत्पन्न होता है वैसे ही सीतादि विषयिणी अनुरागरूपा श्रीरामचन्द्र जी आदि की रति (गाढ़ी प्रीति नट में न होते हुए भी उसके अभिनय की चतुराई से उसमें विद्यमान-सी प्रतीति होती हुई, सहृदय पुरुषों के चित्त को विचित्र चमत्कार रूप आनन्द देने वाली जो कोई वृत्ति (व्यापार) है उसी को रस कहते हैं।]

राम एवायम् अयमेव राम इति 'न रामोऽयम्' इत्यौत्तरकालिकेबाधे रामोऽयमिति रामः स्याद्वा न वाऽयमिति रामसदृशोऽयमिति च सम्यङ्-मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणय चत्तुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे

रस प्रतीति के प्रकरण मे श्री शङ्कुक का मत यह है :—देखनेवालों को अभिनय करनेवाले नट में 'यह राम है' ऐसी प्रतीति चित्रलिखित घोड़े में यह घोड़ा है इस प्रतीति की भाँति होती है। यह प्रतीति 'राम ही यह है' (अर्थात् यह नट राम से भिन्न और कोई नहीं है) 'यही राम है' (अर्थात् इस नट से भिन्न और किसी में रामत्व नहीं है) ऐसे सम्यक् (ठीक) ज्ञान से, 'यह राम नहीं है', इस ज्ञानद्वारा पीछे से बाधित होनेवाले मिथ्या ज्ञान से 'राम यह है' इस प्रकार के भ्रमात्मक ज्ञान से 'यह राम है अथवा नहीं है' इस प्रकार के उभय कोटि वाले संशय ज्ञान से, 'यह राम के सदृश' है ऐसे सादृश्य ज्ञान से भी निराला

विलक्षण होती है। जब नट मे 'यह राम है' ऐसी प्रतीति हो जाती है तब नट निम्नलिखित प्रकार के श्लोकों का पाठ करता है—

'सेयं ममांगेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।
मनोरथश्रीर्मनसःशरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ॥२५॥

अर्थ—सम्भोग शृङ्गार के प्रकरण मे नायिका (सीता आदि) को देखकर नायक (श्रीराम आदि) अपनी मानसिक प्रसन्नता प्रकटकर कहते हैं कि अहो! मुझे अपनी वह प्राणेश्वरी दिखलाई पड़ी जो मेरे शरीर के अवयवो मे स्वशरीर स्पर्श से अमृत रस की वृष्टि वा लेप करनेवाली है, जो मेरी दोनो आँखो के लिये भरी पूरी कपूर की सलाई की भाँति शीतलता देनेवाली है और जो मेरे मनोरथों की शरीरधारिणी सम्पत्ति है।

दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च।
अविरलविलोलजलदः काल' समुपागतश्चायम् ॥२६॥

अर्थ—[नायिका (सीता आदि) से वियुक्त नायक (श्रीरामचन्द्र आदि) विप्रलम्भ शृङ्गार के अवसर पर कहते हैं—] दैव सयोग से मै आज उस चञ्चल और विशाल लोचनवाली सुन्दरी से विलग हो गया हूँ और सर्वत्र घूमनेवाले घने बादलों से घिरा हुआ यह वर्षाकाल भी आ पहुँचा है। हाय! अब ये मेरे वियोग के दुःखद दिन कैसे बीतेंगे।

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्त्तितस्वकार्यप्रकटनेनच नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः 'संयोगात्' गम्यगमकभावरूपाद् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सभाव्यमानोरत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः।

इन सब प्रकार के काव्य-सम्बन्धी वाक्यों की अर्थप्रतीति के बल से नट (रामादि) अभिनय की शिक्षा तथा अभ्यास द्वारा स्वकार्य को भलीभाँति प्रकाशित करके दिखलाता है। उस नट के द्वारा प्रकट किये

गये कारण, कार्य और सहचारी भाव जो नाट्यशास्त्र में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के नाम से प्रसिद्ध हैं, बनावटी होने पर भी मिथ्या नहीं भासित होते। इन्हीं के संयोग द्वारा रस गम्यगमक भावरूप से अनुमित होता है और वस्तु की सुन्दरता के कारण समास्वादन (चखने) योग्य भी होता है। सामाजिक लोग इसका अनुमान करते हैं; परन्तु रस अनुमान से भिन्न होकर स्थायी रूप से चित्त में अभिनिविष्ट होता है। ये जो स्थायीरूप रति आदि भाव हैं वे नट मे न होते हुए भी दर्शक वृन्दों की वासना द्वारा चर्वित होते हैं। इसी भाव का नाम रस है।

[इस मत का सारांश यह है कि जैसे कुहरे से ढके हुए प्रदेश में धूम के न होने पर भी मिथ्या धूमज्ञान से उसके सहचारी अग्नि का अनुमान होता है वैसे ही नट द्वारा चतुराई से ये विभावादि मेरे ही हैं ऐसा प्रकटित होने पर अनुपस्थित भी विभावादि के साथ जो रति नियत है उसका अनुमान होता है। वही रति अपने सौन्दर्य के बल से सामाजिकों के लिये स्वाद का आनन्द देती हुई चमत्कार को उत्पन्न करती है। इसी रति का अनुमान ही रस की निष्पत्ति (सिद्धि) है।]

न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।

भट्टनायक के मतानुसार आचार्य भरत के उक्त सूत्र की व्याख्या इस प्रकार है—न तो तटस्थ (उदासीन नट या रामादि नायक में) अथवा आत्मगत (सामाजिक दर्शक के सम्बन्ध में) रूप से रस की प्रतीति होती है, 'क्योंकि रामादि के अनुपस्थित रहने से उनकी रति आदि कभी न होगी और जो वस्तु नहीं है उसकी सिद्धि अनुमान के द्वारा भी नहीं हो सकती और यदि रामादि सम्बन्धिनी रति आदि नट में अनुमान कर भी ली जाए तो सामाजिकों में उनके व्यक्तित्व के न होने से कोई

चमत्कार भी नहीं उत्पन्न होगा) न उसकी उत्पत्ति ही होती है, (क्योंकि रसोत्पादक कारण' विभाव आदि भी वास्तविक नहीं होते) और न उसकी अभिव्यक्ति अर्थात् व्यञ्जकता द्वारा ही सिद्धि होती है, (क्योंकि रस तो स्वयसिद्ध पदार्थ है) किन्तु काव्यों और नाटकों ने अभिधा (तथा लक्षणा) व्यापार से भिन्न किसी और भावकत्व नामक व्यापार द्वारा विभावादि के सीता और राम आदि गत विशेषांश परित्याग सहित साधारणतया (सीता के स्थान में) कामिनी और (राम के स्थान में) उसके कान्त आदि के रूप से ग्रहण किये जाने पर उसी भावकत्व व्यापार द्वारा असाधारण से साधारण किया गया जो स्थायी भाव है वही सत्त्वगुण के प्रबल प्रकाश द्वारा परमानन्द ज्ञानस्वरूप और अन्य ज्ञानों को तिरोहित कर देनेवाले भोजकत्व नामक व्यापार से आस्वादित होता है।

[भट्टनायक के मत का साराश यह है कि काव्यों और नाटकों में शब्द के अभिधारूप व्यापार के समान भावकत्व और भोजकत्व नाम के दो व्यापार और भी हैं। काव्यार्थ का ज्ञान होने के पीछे ही उन दोनों व्यापारों में से पहले अर्थात् भावकत्व व्यापार द्वारा विभाव आदि रूप, सीता और रामविषयिणी रति, सीतात्व और रामत्व सम्बन्ध छोड़कर साधारण रीति से कामिनीत्व और कान्तत्व तथा रतित्व आदि के रूप में प्रकट होती है। तदुपरान्त जो पिछला भोजकत्व नामक व्यापार है उसके द्वारा उक्त रीति से साधारण कर लिये गए विभावादि के साथ वह रति सहृदय लोगों द्वारा आस्वादित की जाती है। अतः उस रति का आस्वादन ही रस की निष्पत्ति है। इतना और ध्यान रखना चाहिये कि वास्तव में रति के न होते हुए भी अलौकिकता से उसका आस्वादन सिद्ध माना गया है।]

[श्रीमदाचार्य अभिनव गुप्त का मत निम्नलिखित है—]

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादि-

शब्दव्यवहार्यैर्ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलित परिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसंपर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजासाधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः ।

लौकिक व्यवहार में प्रमदा, उद्यान, कटाक्ष, निर्वेद (शोक) आदि के द्वारा लोग रति आदि स्थायीभाव के विषयाभ्यास में निपुण होते हैं । काव्य और नाटकों में ये प्रमदादि कारण नहीं कहे जाते हैं; किंतु इन प्रमदादि नामों का परित्याग करके वे अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के नाम से पुकारे जाते हैं । तथा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव नाम व्यापार के कारण होते हैं । ये विभावादि साधारण कर लिये जाने के कारण 'ये मेरे ही हैं, मेरे शत्रु के ही हैं, उदासीन व्यक्ति के ही हैं अथवा ये मेरे नहीं हैं, मेरे शत्रु के भी नहीं हैं, उदासीन व्यक्ति के भी नहीं हैं' इस प्रकार के नाना सम्बन्धों से विशिष्ट नहीं विदित होते; क्योंकि ऐसे विशिष्ट सम्बन्धों के ग्रहण अथवा परित्याग के नियमों का ज्ञान इस अवसर में बना नहीं रह जाता है । अतः ये सम्बन्ध विशेष को छोड़ साधारण रूप से ज्ञानगोचर होते हैं । वे सामाजिकों के चित्त में वासना रूप से स्थित स्थायी रति आदि भाव हैं और यद्यपि वे निश्चित ज्ञाता के सम्बन्ध ही से स्थित होते हैं तथापि इस ज्ञाता (सामाजिक) में भी व्यक्ति विशेष का सम्बन्ध छूट जाता है और साधारण विभावादि का ज्ञान होने से उस समय किसी निश्चित ज्ञाता का ध्यान नहीं बना रहता है । इस रीति से प्रकाशित

और दूसरे-दूसरे ज्ञान विषय के सम्बन्ध से रहित अपरिमित भाव से सामाजिक द्वारा सभी सहृदयों के मन मे धँसता हुआ साधारण कामिनी कान्त आदि के रूप मे स्थित होकर अपने स्वरूप से भिन्न न रहकर भी अनुभव का विषय होता है। यही शृङ्गारादि रस है। इसका एक मात्र जीवन आस्वादन है। यह विभावादि के रहने पर बना रहता है और उनके हट जाने पर हट जाता है। इसका आस्वादन पानकरस[1] की तरह होता है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो सामने ही स्फुरित हो रहा है, हृदय के भीतर पैठा जा रहा है, शरीर के सभी भागों मे सम्मिलित-सा हो रहा है। शेष सभी विषयों को भुलाकर ब्रह्मज्ञानानन्द सदृश अनुपम सुख का अनुभव कराकर अलौकिक चमत्कार का जनक होता है।

[उक्त मत का स्थूलतया मर्म यह है—रति के कारणादि का अनुभव करते रहने से वारंवार अनुमान की गई रति संस्कार रूप से सहृदय मनुष्यों के चित्त मे सनिविष्ट हो जाती है। कुछ दिन पीछे भलीभाँति प्रकट करनेवाले रामादि विशेष व्यक्ति सम्बन्धी रति के कारण विभावादि के प्रतिपादक (सिद्धिकर्ता) जो काव्य और नाटक हैं उनमें ऊपर कहे गये भावकत्व व्यापार द्वारा सीताराम आदि विशेषांश त्यागपूर्वक रति के कारण से साधारणतया कामिनी कान्तादि के भाव से प्रतीत हुए विभावादि द्वारा सहृदय व्यक्तियों के चित्त मे सक्रान्त वही रति व्यञ्जनाशक्ति से प्रकट होकर सामाजिकों के रसास्वादन का विषय होती है। इसी प्रकार के आस्वादन को रस की निष्पत्ति वा सिद्धि समझनी चाहिये। पूर्वोल्लिखिति (भट्ट लोल्लट, श्री शङ्कुक और भट्ट नायक के) मतों में उस रति का आस्वादन कहा गया है

---

[1] इलायची, मिर्च, खाँड, कपूर, खटाई इत्यादि भिन्न-भिन्न स्वादवाले पदार्थों के एकत्र मिलाने से जो रसविशेष प्रस्तुत होता है उसे पानक रस कहते हैं। सब को एक में मिला देने से इन पदार्थों का स्वाद किसी एक पदार्थ वाला नहीं किन्तु सबसे भिन्न एक अन्य विलक्षणस्वाद वाला हो जाता है।

जो विद्यमान नहीं है। अभिनवगुप्त आचार्य के मत में वही रति वासानरूप से (सामाजिकों के चित्त में) स्थित बतलाई गई है। यही विशेषता इस मत को पूर्व के मतों से भिन्न ठहराती है।]

स च न कार्यः। विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत् न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेतन्नदूषणम्। चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्। लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्मसात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम्। तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।

वह रस कार्यरूप तो है नहीं, क्योंकि विभावादि कारणों के नष्ट हो जाने पर भी उसकी उत्पत्ति हो सकती है, और न वह रस ज्ञाप्य है क्योंकि ज्ञाप्य पदार्थ तो सिद्ध होता है और यह रस तो सिद्ध नहीं; किन्तु विभावादि द्वारा व्यक्त किया गया आस्वादन योग्य है। यदि कोई यह आशंका उठाये कि कारक और ज्ञापक से भिन्न और कोई पदार्थ भला कहीं देखा भी गया है तो उसका यह उत्तर है कि ऐसे पदार्थ का न देखा जाना ही उसकी अलौकिकता का साधक है यह एक प्रकार का भूषण है न कि दूषण। आस्वादन की सिद्धि के साथ उसकी भी सिद्धि मानी गई है अतएव स्वादोत्पत्ति के सम्बन्ध से रस की उत्पत्ति का कथन भी ठीक है। इस दृष्टि से उसे कार्य कह भी सकते हैं। लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जो ज्ञान होता है, लौकिक प्रमाणों के ज्ञान से निर्लिप्त ज्ञान रखनेवाले जो भिन्न अर्थात् युञ्जान योगी लोग हैं उनका जो ज्ञान होता है, तथा भिन्न पदार्थ (इतर) ज्ञान के सम्पर्क से शून्य जिनका

आत्म ज्ञान स्वरूप में परिणत निरवधि ज्ञानवाले जो युक्त योगी लोग हैं, उनके जो ज्ञान हैं—इन तीनों प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण अत्यन्त अद्भुत स्वज्ञान-मात्र विषयी भूत यह रस ज्ञाप्य भी कहा जा सकता है।

इस रस नामक पदार्थ का ग्रहण करनेवाला ज्ञान निर्विकल्पक नहीं है; क्योंकि इसमे विभाव आदि के सम्बन्ध का प्राधान्य है। और वह सविकल्पक भी नही है, क्योंकि जब उसका आस्वादन किया जाता है तब उसका प्रचुर अलौकिक आनन्दयुक्त होना अपने अनुभव ही से सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानान्तर के न होने से रसास्वादन की अवस्था में नाम रूप आदि का उल्लेख न हो सकने से सविकल्पक ज्ञान की सम्भावना ही नहीं हो सकती। सविकल्पक और निर्विकल्पक इन दोनों ज्ञानों से भिन्न होकर भी एक साथ दोनों के गुणों को रखनेवाले इस रस का ज्ञान पूर्व की भाँति उसकी अलौकिकता ही को प्रकट करता है कि न विरोध को। रस सिद्धि के विषय मे उक्त रीति से श्री मदाचार्य अभिनवगुप्त जी का मत उल्लिखित किया गया। यही अन्तिम मत वाग्देवतावतार विद्वद्वर श्री मम्मट भट्ट जी ने भी स्वीकार करके काव्यप्रकाश में इसका विस्तार किया है।

व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुतरौद्राणाम्, अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृंगारस्येव करुणभयानकयोःचिन्तादयो व्याभिचारिणः शृंगारस्येव वीरकरुणभयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः।

व्याघ्र आदि विभाव भयानक रस की तरह वीर, अद्भुत और रौद्र रस के भी विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) कारण हो सकते हैं। अश्रुपात आदि अनुभाव शृंगाररस की भाति करुण और भयानक रस के भी अनुभाव हो सकते हैं। वैसे ही चिन्ता आदि व्यभिचारीभाव शृङ्गार की भाँति वीर, करुण और भयानक रस के भी सहचारी हो सकते हैं। इस कारण उन प्रत्येक के परस्पर एक दूसरे मे पाये जाने के कारण आचार्य भरत जी ने स्वरचित नाट्य सूत्र में उनका निर्देश

विलग-विलग न कर के परस्पर सम्मिलित ही किया है।

वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशां श्रीः।
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे ॥२७॥

इत्यादौ।

अर्थ—[किसी मानिनी नायिका को उसकी सखी समझाती है—हे मुग्धे! (सुन्दरि वा भोली) देखो तुम्हारा पति वारंवार तुम्हारे चरणों पर शिर रख-रख कर प्रणाम कर रहा है। अब तुम उस पर अनुग्रह करो, क्योंकि आकाश में भौंरे के समान काले-काले जल से भरे मेघ उपस्थित हैं, तथा दशों दिशाएँ भ्रमरों के गुञ्जार और कोकिलों की कूक के शब्द से सुहावनी हो रही हैं। पृथ्वीतल पर उगे नये-नये अङ्कुर ही उसकी गोद के टङ्क (पत्थर तोड़नेवाले अस्त्र विशेष) वत् प्रतीत हो रहे हैं।

[सखी के इस कथन का तात्पर्य यह है कि ऊपर, सामने, नीचे जहाँ कहीं दृष्टिपात होगा सर्वत्र उद्दीपक कारणों के उपस्थित रहने से मानभङ्ग अवश्यम्भावी है। ऐसी दशा में अपने प्यारे पति की प्रणतियों को स्वीकार कर उनकी ओर स्नेह भरी दृष्टि डालो।] इत्यादि प्रकरणों में केवल विभाव दिखाई पड़ता है।

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु।
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-
मभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः ॥२८॥

इत्यादौ।

अर्थ—[यह पद मालतीमाधव नामक नाटक के प्रथम अंक से उद्धृत किया गया है। इसमें माधव मालती के अंगों की प्रशंसा कर रहा है।] इस मालती नामक नायिका के अङ्ग मीड़े हुए कमल-तन्तुओं के सदृश मुरझाये हुए हैं। कुटुम्ब के लोगों की प्रार्थनाओं पर आवश्यक कार्यों में भी उसकी प्रवृत्ति कठिनता से होती है। नये काटे गये हाथी दाँत सदृश गौरवर्ण इसके उज्ज्वल कपोल भी निष्क-

लक्ष्म चन्द्रमा की शोभा धारण करनेवाले हैं—इत्यादि प्रकरणों मे केवल अनुभाव दिखाई पड़ता है।

> दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं
> संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चितभ्रूलतं।
> मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णं क्षणं
> चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥२९॥

इत्यादौ च।

[मानिनी नायिका ने नायक को अनादरपूर्वक फटकार दिया; परन्तु नायक के पुनरागमन पर उस नायिका की नेत्र-क्रिया का कवि इस प्रकार वर्णन करता है—] अहो! जिस प्यारे नायक से कोई अपराध बन पड़ा है उसकी ओर नायिका की आँखें भाँति-भाँति के अद्भुत व्यापार दिखाने में निपुण हो गई, क्योंकि वे आँखें नायक को दूर ही से आते देख उत्कण्ठा से भर गईं, निकट आने पर उस ओर से फिर गई, बातचीत करते समय खिल उठीं, आलिङ्गन करते समय लाल हो गई, वस्त्र प्रान्त के छूते ही भौंह मटकाकर नाच उठीं, परन्तु चरणों पर गिरकर प्रणाम करते समय आँसुओं से उमड़ कर बह चलीं—इत्यादि प्रकरणों में केवल व्यभिचारी भाव ही दिखाई पड़ते हैं।

यद्यपि विभावानामनुभावानामौत्सुक्यव्रीडाहर्षकोपासूयाप्रसादानां च व्यभिचारिणां केवलानामत्र स्थितिः, तथाऽप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति।

यद्यपि प्रथम श्लोक में केवल विभाव, द्वितीय श्लोक में केवल अनुभाव, और तृतीय श्लोक में औत्सुक्य, लज्जा, हर्ष, क्रोध, असूया और प्रसादादि केवल व्यभिचारी भाव दिखाये गये हैं, तथापि इन सभी उदाहरणों में एक-एक भाव की प्रधानता है और उन्हीं के बल से शेष दोनों भाव (अर्थात् प्रथम उदाहरण में अनुभाव और व्यभिचारीभाव; द्वितीय उदाहरण मे विभाव और व्यभिचारीभाव; तृतीय उदाहरण में विभाव और अनुभाव) शीघ्रता से आक्षिप्त हो जाते हैं अतएव कहीं भी

उनके सम्मिलित न रहने की शङ्का नहीं करनी चाहिये।

तद्विशेषानाह—

अब आगे रस के भेदों का ग्रन्थकार विभागपूर्वक वर्णन करते हैं।

(सू० ४४ शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।

बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥२६॥

अर्थ—नाट्यशास्त्र में आठ रस स्मरण किये जाते हैं, जिनके नाम क्रमशः ये हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत।

तत्र शृंगारस्य द्वौ भेदौ। सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्यः परस्परावलोकनालिङ्गनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तत्वादपरिच्छेद्य एक एव गण्यते। यथा

इनमें से शृङ्गाररस के सम्भोग और विप्रलम्भ नामक दो भेद हैं। उनमें से सम्भोग शृङ्गार ही के अगणित भेद हैं, जैसे नायिका और नायक का परस्पर अवलोकन, आलिङ्गन, अधरपान, परिचुम्बन आदि। परन्तु इन सब की गणना सम्भोग शृङ्गार नामक विभाग में ही की जाती है।

[फिर भी स्थूलतया नायिका द्वारा आरब्ध तथा नायक द्वारा आरब्ध—इन दो भेदों से सम्भोग शृंगार के दो उदाहरण आगे लिखे जाते हैं—]

[नायिका द्वारा आरम्भ किये गये सम्भोग शृङ्गार का उदाहरण—]

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै,
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं,
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥३०॥

अर्थ—[इस श्लोक में पाणि-ग्रहण काल निकट के कुछ दिनों की मुग्धा नायिका द्वारा आरब्ध सम्भोग शृङ्गार का वर्णन है।] नायिका

ने शयनागार को सूना (अर्थात् आप और अपने पति को छोड़ तृतीय व्यक्ति से रहित) देख सेज पर से थोड़ा उठ कर निद्रा के बहाने से लेटे हुए पति (नायक) के मुख को बड़ी देर तक निहारकर विश्वासपूर्वक उसके दोनों कपोलों और नेत्र प्रान्त के भागों का चुम्बन कर लिया और इस अवसर पर नायक के कपोल-स्थल को रोमाञ्चित देख लज्जा के कारण अपनी दृष्टि झुका ली तब हँसते हुए प्रिय पति ने अधिक काल तक उस बाला के मुख का चुम्बन किया।

[नायक द्वारा आरम्भ किये गये सम्भोग शृङ्गार का उदाहरण—]

तथा

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥२१॥

अर्थ—[नायिका के निर्भर आलिङ्गन में विघ्नस्वरूप चोली को नायिका के शरीर पर से उतार डालने के लिये प्रवृत्त नायक अपनी नायिका से कहता है—] हे सुन्दर नेत्रोवाली प्रिये! तेरे शरीर की मनोहारिणी शोभा तो चोली के बिना पहिने भी बनी रहती है (अतएव तू इसे उतार कर फेंक दे), जब प्रियतम ने इतना कहकर नायिका की चोली के बन्धनो को खोलने के लिये अपने हाथों से छुआ तब नायिका के विकसित नेत्रो को देख प्रसन्न हो सेज के समीप बैठी मुसकुराती हुई सखियाँ वहाँ से झूठी बातें बनाती हुई धीरे-धीरे खिसक गईं।

अपरस्तु अभिलापविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः। क्रमेणोदाहरणम्।

विप्रलम्भ नामक शृङ्गार अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप के कारण पाँच प्रकार का होता है। उनके उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

[अभिलाष हेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार का उदाहरण—]

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि ।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः॥३२॥

अर्थ—[मालतीमाधव नाटक में माधव नामक नायक मालती नामक नायिका के प्रति स्वाभिलाप प्रकट करके मन ही मन कहता है—] स्नेह में पगी, अटल प्रीति से भरी हुई, गाढानुराग उत्पन्न करने-वाली पूर्वानुभूत अनेक चेष्टाएँ, सुन्दर नेत्रों वाली नायिका (मालती) की ओर से मुझ पर हों, उनकी कल्पित आशामात्र से बाह्येन्द्रियों के सब व्यापार रुककर क्षण भर में घने आनन्द में मग्न होकर हृदय तन्मय हो जाता है।

[विरह हेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार का उदाहरण—]

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
यो मां नेच्छति नागतश्च हहहा कोऽयं विधेः प्रक्रमः ।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि ॥३३॥

अर्थ—[नायक के यथासमय उपस्थित न होने पर विरहोत्कण्ठिता नायिका के वर्णन में कवि कहता है—] नायिका अपने मन में विचार करके कहती है कि यह तो हो नहीं सकता कि वह (नायक) किसी दूसरी नायिका के घर चला जाय। न तो उसका कोई ऐसा मित्र ही है कि जिसके (अतिशय प्रेम के) कारण वह मुझे न चाहे। परन्तु वह यथासमय आया भी नहीं। हाय हाय! यह विधाता की कैसी चाल है! उक्त प्रकार की अनेक कल्पनाओं से व्याकुलित नायिका अपने शयना-गार में सेज पर करवटें बदलती हुई रात्रि में नींद नहीं लेने पाती।

एषा विरहोत्कण्ठिता।

यहाँ पर नायिका विरहजनित उत्कण्ठा से युक्त है।

[ईर्ष्या हेतुक विप्रलम्भ शृंगार का उदाहरण :—]

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनं ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥३४॥

अर्थ—वह मुग्धा (भोली भाली वा सुन्दरी) नायिका सखियों द्वारा विना उपदेश पाये अपने पति के पहले अपराध के अवसर पर हाव-भाव युक्त अङ्ग सञ्चालन या कुटिल वाक्यों के प्रयोग द्वारा अपने मान को प्रकट करना नहीं जानती है। अपने बालों को बिखेरे हुए, निर्मल कपोलों के मूल से ढलती हुई स्वच्छ आँसुओं की धारा से कमल सदृश नेत्रों को भरे चारों ओर ताकती हुई, वह (नायिका) केवल रुदन कर रही है।

[प्रवासहेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार का उदाहरण :—]

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिताः
गन्तव्ये सति जीवितप्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥३५॥

अर्थ—[कोई नायिका अपने प्राणों को उलाहना देती हुई कहती है—] हे मेरे प्राणो! जब प्रियतम ने निज मन में परदेश चले जाने का ही ठान लिया है, और जब (प्रियतम का वियोग जानकर) हाथों से कङ्कण खिसक पड़े हैं, प्यारे के मित्र सब आँसू भी बह गये, धीरज क्षण भर भी न ठहरा, चित्त ने भी पहिले ही से चलने का विचार बाँध लिया और शेष सभी उन्हीं के साथ चलने के लिये प्रस्तुत हो गये और तुम्हें भी (एक दिन) जाना ही है तो क्यों अब अपने प्यारे मित्र का सङ्ग छोड़ रहे हो? (अर्थात् तुम्हें भी प्रियतम के गमन के साथ यह शरीर छोड़कर चल देना चाहिये।)

[शापहेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार का उदाहरण :—]

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥३६॥

अर्थ—[कुबेर के शाप से अपनी प्यारी स्त्री से विछुड़ा हुआ यक्ष-राज मेघ रूप दूत द्वारा अपनी प्रियतमा के पास संदेशा कहला भेजता है—] (हे प्रिये !) जब तक मैं पत्थर पर गेरू आदि द्वारा प्रेम से रूठे हुए तुम्हारे चित्र को अंकित कर अपने को तुम्हारे चरणों पर नत हुआ बनाना चाहता हूँ तब तक बारम्बार ढलनेवाले अश्रुबिन्दु मेरी आँखों को छेक लेते हैं (जिससे वैसा नहीं कर पाता)। ऐसी (दयनीय) अवस्था में भी कठोर दैव हमारे साथ तुम्हारा मिलन नहीं सहता (होने देता) है।

हास्यादीनां क्रमेणोदाहरणम्।

आगे क्रम से हास्य आदि रसों के उदाहरण दिये जाते हैं—

[हास्यरस का उदाहरण :—]

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या
मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे।
तारस्वनं प्रथितथूत्कमदात्प्रहारं
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥३७॥

अर्थ—[विष्णुशर्मा नामक किसी ब्राह्मण की हँसी करता हुआ कोई कहता है—] विष्णुशर्मा यों कहकर रो रहा है कि हाय ! मैं तो मरा; क्योंकि वेश्या ने अपने अपवित्र हाथ का मूठ बाँधकर बड़े बल से थूत्कार शब्द समेत मेरे सिर पर एक घूसा मारा, जो प्रत्येक मन्त्र के साथ पवित्रित जल-बिन्दुओं के छिड़कने से पवित्र किया गया था।

[करुणरस का उदाहरण :—]

हा मातस्त्वरितासि कुत्र किमिदं हा देवताः क्वाशिषः
धिक् प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ।
इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिरः
चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि ॥३८॥

अर्थ—[किसी महारानी की मृत्यु होने पर पुरवासिनी स्त्रियाँ रोती हुई कह रही हैं—] हा माता! तुम शीघ्रतापूर्वक कहाँ को चलीं? हाय! यह क्या हुआ? अरे देवताओ! (तुम्हें धिक्कार है) हा (ब्राह्मणों के) आशीर्वाद कहाँ गये? (अर्थात् व्यर्थ हो गये) इन प्राणों को धिक्कार है। हाय! वज्र ही गिर पड़ा। तुम्हारे अङ्गो मे आग लगी। हा! हमारी आँखे जल उठीं। इस प्रकार गद्गद् कण्ठ से रोती हुई पुरस्त्रियों के शब्दों से चित्रलिखित व्यक्ति भी रो रहे हैं, घर की दीवालें भी सौ-सौ टुकड़े हो रही हैं।

[रौद्ररस का उदाहरण :—]

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्द्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैःकरोमि दिशां बलिम् ॥३९॥

अर्थ—[द्रोणाचार्य के वध का समाचार सुनकर क्रुद्ध हुए अश्वत्थामा का कथन है—] इस कठोर पापाचरण को जिन लोगों ने किया, करने की सम्मति दी, अथवा देखा ही हो, वे हथियार उठाये मर्यादारहित आप लोग मनुष्यों के बीच में पशु के समान हैं। यह देखो आज मैं श्रीकृष्ण, भीम, अर्जुन आदि सभी के साथ उन लोगों के रक्त, चर्बी और मास से दिशाओ को बलि प्रदान करता हूँ।

[वीररस का उदाहरण :—]

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः।
सौमित्रे! तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद् भ्रूभङ्गलीला नियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥४०॥

अर्थ—[रावण का पुत्र मेघनाद युद्धस्थल मे लोगों को ललकार कर कहता है—] हे नीच वानरो! तुम लोग न डरो, इन्द्र के हाथी (ऐरावत) के कपोलों पर घाव करनेवाले मेरे ये बाण तुम्हारे शरीरों

को घायल करने में लजाते हैं। हे लक्ष्मण! ठहरो, तुम भी मेरे क्रोध के पात्र नहीं हो। मैं तो हूँ मेघनाद और खोजता हूँ उस रामचन्द्र को जिसने अपनी भौंहों को थोड़ा-सा मरोड़कर समुद्र को अपने अधीन कर लिया था।

[भयानकरस का उदाहरण :—]

ग्रीवभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥४१॥

अर्थ—[राजा दुष्यन्त भागते हुए हरिण को देखकर अपने सारथी से कहते हैं—] हे सारथि! देखो यह मृग ऊँची-ऊँची उछाल लेकर अधिकांश तो आकाश में होकर थोड़ा-थोड़ा पृथ्वी पर पाँव रखता हुआ चलता है। बारंबार अपने पीछे आने वाले रथ को मनोहर रीति से गला फेरकर देखता है। बाण-प्रहार के भय से शरीर के पिछले भाग के अधिकांश को अगले भाग से मिला लेता है। दौड़कर चलने के परिश्रम के कारण मुख खुल पड़ने से उसमें से आधे चबाये हुए कुश गिरकर मार्ग में बिखर रहे हैं।

[वीभत्सरस का उदाहरण :—]

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति॥४२॥

अर्थ—यह भरभुखा सभी ओर ताकनेवाला, दाँत काढ़े दरिद्र प्रेत चमड़े की परतों को मांस से अलग कर-कर कन्धे, कूल्हे, जङ्घे के ऊपरी भाग में सुलभ मोटे-मोटे और अधिक पुष्ट, अति दुर्गन्धि से भरे हुए मांसपिण्डों के मांस खा लेने के उपरान्त अपनी गोद में पड़े मृतक शरीर के नीचे-ऊँचे भागवाली हड्डियों में चिपके कच्चे मांस के

भागों को बेखटके चबा रहा है।

[अद्भुतरस का उदाहरण :—]

चित्रं महानेष बतावतारः क्व कान्तिरेषाभिनवैव भङ्गिः।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥४३॥

अर्थ—[वामनावतार भगवान् विष्णु को देखकर राजा बलि साश्चर्य कहते हैं—] अहो ! यह बडा अवतार तो अत्यद्भुत है। भला ऐसी शोभायुक्त मूर्ति कहाँ दिखाई पडती है ! इनके चलने, फिरने, उठने, बैठने आदि की चेष्टाएँ भी एक दम नवीन हैं। इनका धीरज भी विचित्र है। प्रभाव भी आश्चर्यजनक है। आकार भी अलौकिक है। यह एक नवीन ही रचना है।

एषां स्थायिभावानाह।

अब इन आठो रसों के स्थायी भाव बतलाये जाते हैं।

(सू०४५) रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्साविस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥३०॥

स्पष्टम्।

अर्थ—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय ये आठो भाव क्रमशः प्रत्येक रस के स्थायीभाव बतलाये गये हैं।

व्यभिचारिणो ब्रूते —

अब आगे तैंतीस व्यभिचारी भाव गिनाये जाते हैं—

निर्वेदग्लानिशंकाख्यास्तथासूयामदश्रमाः।
आलस्य चैव दैन्यं च चिंता मोहः स्मृतिर्धृतिः॥३१॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जड़ता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्य निद्रापस्मार एव च ॥३२॥
सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथामरणमेव च ॥३३॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥३४॥

अर्थ—(१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शंका, (४) असूया, (५) मद, (६) श्रम, (७) आलस्य, (८) दैन्य, (९) चिंता, (१०) मोह, (११) स्मृति, (१२) धृति, (१३) व्रीडा, (१४) चपलता, (१५) हर्ष, (१६) आवेग, (१७) जड़ता, (१८) गर्व, (१९) विषाद, (२०) औत्सुक्य, (२१) निद्रा, (२२) अपस्मार, (२३) सुप्त, (२४) प्रबोध, (२५) अमर्ष, (२६) अवहित्थ (गंभीरता), (२७) उग्रता, (२८) मति, (२९) व्याधि, (३०) उन्माद, (३१) मरण, (३२) त्रास और (३३) वितर्क—ये तैंतीस व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

निर्वेदस्यामंगलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताऽभिधानार्थं। तेन

प्रायः अमंगल रूप होने के कारण निर्वेद का उल्लेख आरंभ ही में नहीं करना चाहिए था; परन्तु वह स्थायी भाव भी होता है अतएव व्यभिचारी भावों में उसका नाम प्रथम ही लिख दिया गया है। समझना तो यों चाहिये कि—

(सू० ४७) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।

अर्थ—ऊपर कहे गये शृंगार आदि आठों रसों के अतिरिक्त शान्त नामक एक नवाँ रस भी है जिसका स्थायीभाव निर्वेद है।

यथा—

शान्तरस का उदाहरण :—

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यांति दिवसाः
क्वचित्पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥४४॥

अर्थ—[वैराग्य से युक्त महाराज भर्तृहरि कहते हैं—] साँप वा मोती का हार, फूलों की सेज अथवा पत्थर, मणि वा मिट्टी का ढेला, बलवान् शत्रु अथवा मित्र, तृण वा स्त्रियों का समूह—इन सब पर अभिन्न अर्थात् एक-सी दृष्टि रखता हुआ मैं पुण्यक्षेत्र में कहीं पर शिव

शिव ऐसा जपता हुआ अपना समय व्यतीत कर रहा हूँ।

[अब आगे की कारिका में भाव का लक्षण बतलाते हैं]

(सू० ४८) रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ॥३५॥

भावः प्रोक्तः

अर्थ—देवता आदि के विषय में उत्पन्न होनेवाली रति (प्रीति) और अञ्जित (प्रधानतया प्रकटीकृत अथवा व्यक्त) व्यभिचारी को भाव इस नाम से पुकारते हैं।

आदिशब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया कान्ता विषया तु व्यक्ता श्रृंगारः।

मूल कारिका मे (देवादि से) आदि शब्द से मुनि गुरु, नृप, पुत्र, शिष्य आदि विषयिणी रति (प्रीति) समझनी चाहिए। काता विषयिणी पुष्टा (प्रधानतया वर्णित) रति तो शृगार ही है।

उदाहरणम्—

[देवता विषयक रति का उदाहरण :—]

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥४५॥

अर्थ—हे जगदीश्वर महादेव जी! आपकी ग्रीवा के एक कोने में पड़ा हुआ विष भी मेरे लिये बड़ा भारी अमृत है। और यदि आपके शरीर से भिन्न स्थितिवाला अमृत भी मेरे शिर पर रख दिया जाय तो वह मुझे नहीं रुचेगा।

[मुनिविषयक रति का उदाहरण :—

हरत्यघं संप्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥४६॥

अर्थ—[भगवान् श्रीकृष्ण जी नारद जी से कहते हैं—] हे महामुने! शरीरधारियों के लिये आपका दर्शन उनके वर्तमान, भूत और भविष्य इन तीनों कालों की योग्यता (बड़प्पन) को सूचित करता है। यह दर्शन वर्तमान काल के पापों को हर लेता, भविष्य की उन्नति को प्रकट करता और पूर्व काल मे किये गये शुभ सदाचारों से उत्पन्न होता है।

एवमन्यदप्युदाहार्यम् । अञ्जितव्यभिचारी यथा—

ऐसे ही और-और भी उदाहरण गुरु आदि के विषय में भी दिये जा सकते हैं। अञ्जित (मुख्य रूप से कहे गये) व्यभिचारी का उदाहरण —

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मा संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः ।
नो यावत्परिरभ्य चाटुशतकैराश्वासयामि प्रियां
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्री कृतः ॥४७॥

अर्थ—[कोई कान्ता वियोगी अपने किसी मित्र से कहता है—] हे भाई ! मुझे जान पड़ता है कि मानो मैंने आज स्वप्न में अपनी प्रियतमा नायिका को क्रोध से भरी-रूठी देखा है, 'मुझे हाथ से मत छुओ' ऐसा कहकर रोती हुई वह मेरे पास से खिसकने लगी; परन्तु जब तक मैं उसका आलिङ्गन कर सैकड़ों प्रार्थना भरे वाक्यों को सुना कर उसे मना लेना चाहता हूँ तब तक दुष्ट विधाता ने मेरी निद्रा ही खण्डित कर दी।

अत्र विधिं प्रत्यसूया ।

इस उदाहरण में विधाता के प्रति असूया प्रकट की गई है।

[आगे रसाभास आदि के लक्षण क्रमशः लिखे जाते हैं :—]

(सू० ४९) तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।

अर्थ—उन रसों और भावों के आभास तब कहे जाते हैं जब वे अनुचित (लोक और शास्त्र से विरुद्ध) पात्रों में उपयोग किये जावें।

तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च । तत्र रसाभासो यथा—

उनके आभास से तात्पर्य रसाभास और भावाभास से है। रसाभास का उदाहरण :—

स्तुमः कं वामाक्षि क्षणमपि विनायं न रमसे
विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे ।
सुलग्ने को जातः शशिमुखि ! यमालिङ्गसि बलात्

तपःश्री· कस्यैषा मदननगरि ! ध्यायसि तु यम् ॥४८॥

अर्थ—[कोई कामी पुरुष किसी परकीया नायिका से प्रश्न करके स्वय उन प्रश्नो के उत्तर देता हुआ कहता है—] हे सुन्दर नेत्रों वाली कामिनि ! हम किसकी प्रशंसा करें ? उस भाग्यवान् युवा पुरुष की, जिसके विना कि तुम्हे क्षण भर भी आनन्द नहीं मिलता ! और जिसे तू खोजती है, उसने तो मानो युद्ध रूपी यज्ञ मे आगे बढ़कर (जन्मान्तर मे) अपने प्राण समर्पण किये हैं। हे चन्द्रमुखि ! जिसे तू दृढ़तापूर्वक आलिङ्गन करती है वह सुमुहूर्त में जन्मा है, और हे कामदेव की राजधानी रूप नगरी ! यह तेरा शरीर किसके तपस्या की सम्पत्ति है ? उस महाभाग्यवान् पुरुष की, जिसका कि तू ध्यान धरती है।

अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तस्याःस्तुम इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपादानं व्यनक्ति।

यहाँ पर अनेक कामी पुरुषों मे सक्रान्त एक ही नायिका का अभिलाष 'हम किसकी प्रशंसा करे ?' इत्यादि वाक्यों द्वारा सम्बद्ध अनेक व्यापारों को प्रकट करता है।

भावाभासो यथा—

भावाभास का उदाहरण :—

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी सा स्मेरयौवनतरंगितविभ्रमाङ्गी।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥४६॥

अर्थ—[रावण सीता जी के सम्बन्ध मे कहता है—] वह नायिका सीता तो पूर्णिमा के चन्द्रमा सदृश सुन्दर मुखवाली, चञ्चललोचना और चढती युवावस्था के उमङ्ग और तरङ्ग से शोभित शरीरवाली है। मै क्या करूँ ? कैसे उससे मित्रता उत्पन्न करूँ ? कौन-सा ऐसा उपाय है जिससे वह मुझे अपनाकर स्वीकार कर ले ?

अत्र चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिता। एवमन्येऽप्युदाहार्याः।

यहाँ पर परकीय अनासक्त हृदयवाली नायिका सीता की प्राप्ति

की चिन्ता जो रावण के हृदय में उत्पन्न हुई है, वह अनुचित है। ऐसे हो और भी अनेक उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं।

[आगे की अर्द्धकारिका में भावशान्त्यादि का स्पष्टतया निरूपण किया जाता है।]

(सू० ५०) भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा ॥३६॥

अर्थ—भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता इन चारों की गणना भावशान्ति आदि में की जाती है।

क्रमेणोदाहरणम्।

इनके उदाहरण आगे क्रमशः दिये जाते हैं।

[भावशान्ति का उदाहरण]

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनयुगप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्सम्प्रमाष्टुं मया
साश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्यापि तद्विस्मृतम् ॥५०॥

अर्थ—[कोई धृष्ट नायक अपने मित्र से अपनी खण्डिता नायिका के क्रोध तथा क्रोध-शान्ति का वर्णन करता हुआ कहता है—] जब उस (नायिका) ने कहा कि सपत्नी (मेरी सौत) के घने चन्दन से लिप्त दोनों स्तनों के गाढालिङ्गन चिह्न से युक्त अपने वक्षःस्थल को मेरे चरणों पर प्रणाम करने के बहाने से क्यों छिपाते हो? तभी 'वह कहाँ है?' ऐसा पूछकर मैंने सहसा उस चिह्न के मिटाने के लिये उसके शरीर का गाढ़ आलिङ्गन कर लिया और वह कृशाङ्गी भी मेरे शरीरालिङ्गन के सुख में उस (उलाहने) को भूल गई।

अत्र कोपस्य।

यहाँ पर क्रोध रूप व्यभिचारी भाव की शान्ति का कथन है।

[भावोदय का उदाहरण :—]

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यो मानपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि।

आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणं
माभूत्सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥५१॥

अर्थ—नायक और नायिका एक ही शय्या पर थे। इतने में नायक ने नायिका की सपत्नी का नाम ले लिया जिसके कारण उस मुग्धा नायिका के चित्त मे मान हो आया और वह नायक पर रुष्ट हो गई। अनेक चाटु वचन कहे जाने पर भी जब क्रोधावेश मे नायिका ने अपने प्रियतम का अनादर ही किया तो वह नायक चुप मार कर बैठ रहा। इसी क्षण नायिका ने अपनी गरदन तिरछी करके (नायक की ओर इस भाव से) देखा कि कहीं वह सो तो नहीं गया है।

अत्रौत्सुक्यस्य।

यहाँ पर नायिका के चित्त मे औत्सुक्य नामक व्यभिचारी भाव का उदय दिखाया गया है।

[भावसन्धि का उदाहरण:—]

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः।
वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलयन्
आनन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरस्निग्धो रुणद्ध्यन्यतः ॥५२॥

अर्थ—[सीता जी द्वारा निर्भर आलिङ्गित रामचन्द्र जी परशुराम जी का आगमन सुनकर कहते हैं—] प्रसिद्ध अभिमानी, तपस्या और पराक्रम के निधान परशुराम जी के आगमन के कारण एक ओर तो सत्सङ्गति का प्रेम और वीरता के उत्साह का उमङ्ग मुझे खींच रहा है, और उधर दूसरी ओर परमानन्ददायक चैतन्य को मोहित करनेवाला हरिचन्दन लेप के समान अति शीतल और स्नेह विशिष्ट, सीता जी का दृढालिङ्गन मुझे नहीं छोड़ता और आगे जाने से रोकता है।

अत्रावेगहर्षयोः॥

यहाँ पर परशुराम जी से भेंट करने का आवेग और सीता जी के शरीर के दृढ आलिङ्गन जनित हर्ष, इन दो व्यभिचारी भावों का

सम्मिलन वर्णित है।

[भावशबलता का उदाहरण:—]

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥४२॥

अर्थ—[उर्वशी को देखकर राजा विक्रम (पुरुरवा) कहते हैं—] कहाँ ऐसा अनुचित कार्य! (परस्त्री विषयक अभिलाषा) और कहाँ मेरा चन्द्रवंश! फिर तो एक बार वह दिखाई पड़ती! अहो हम लोगों ने दोष ही के निवारण के लिए शास्त्र श्रवण किये हैं, फिर भी यह चञ्चलता कैसी? अरे! क्रोध काल में भी उसका मुख कितना सुन्दर है। पापहीन पण्डित लोग मुझे क्या कहेंगे? हाय! वह स्त्री तो मुझे स्वप्न में भी दुर्लभ है। हे चित्त! तू स्वस्थ हो। धीरज धर! अरे वह कौन-सा भाग्यवान् युवा है जो इस सुन्दर स्त्री का अधर पान करेगा?

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां शबलता। भावस्थितिस्तूक्ता उदाहृता च।

यहाँ पर वितर्क, औत्सुक्य, मति, स्मरण, शङ्का, दीनता, धीरज, और चिन्ता इन आठों व्यभिचारी भावों का शबलत्व (मिश्रण) व्यक्त किया गया है। भावस्थिति तो उदाहरण समेत ऊपर निरूपित की जा चुकी है।

(सू० ४१) मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन।

अर्थ—कभी-कभी वे प्रधान रस के अङ्ग भी बन जाते हैं।

ते भावशान्त्यादयः। अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत्।

वे अर्थात् भावशान्त्यादि। अङ्ग अर्थात् अमुख्य। जैसे विवाह आदि के अवसर पर प्रधान बने हुए भृत्य के पीछे अप्रधान रूप से राजादिक भी जाते हैं, वैसे ही।

इस प्रकार असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के भेदों का निरूपण किया गया।

अब आगे सलक्ष्यक्रम व्यंग्य के भेदों का वर्णन किया जाता है।

(सू० ५२) अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्थितिस्तु यः ॥३७॥
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः।

अर्थ—जिस ध्वनि मे ध्वनि-प्रतिध्वनि के समान आगे-पीछे के क्रम से व्यग्य की स्थिति का पता चलता है, उस ध्वनि को संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि कहते हैं। यह ध्वनि शब्द शक्ति से उत्पन्न और अर्थ शक्ति से उत्पन्न और शब्द तथा अर्थ दोनों शक्ति से उत्पन्न होने के कारण तीन प्रकार की होती है।

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यः अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यः उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यश्चेति त्रिविधः तत्र—

शब्दशक्तिमूलक अनुरणन (प्रतिध्वनि) रूप व्यग्य पहला, अर्थ-शक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यंग्य दूसरा, और शब्दार्थोभयशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यग्य तीसरा—इस भांति सलक्ष्यक्रम व्यंग्य नामक ध्वनि के ये तीन भेद व्यवहृत होते हैं।

[उनमे से शब्दशक्ति से उद्भूत दो प्रकार के व्यङ्ग्यों का निरूपण आगे वाली कारिका में किया जाता है—]

(सू० ५३) अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ॥३८॥
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा।

अर्थ—जहाँ पर मुख्यतया अलङ्कार अथवा केवल वस्तु ही शब्दों द्वारा प्रकट हो वहाँ अलङ्कार अथवा वस्तु के भेद से दो प्रकार के शब्द शक्त्युद्भव व्यग्य होते हैं।

वस्त्वेवेति अनलङ्कार वस्तुमात्रम्। आद्यो यथा

यहाँ पर केवल वस्तु से तात्पर्य अलङ्काररहित वस्तु मात्र से है। उनमें से प्रथम अर्थात् शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण:—

उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहं देवेन येन जठरोजितगर्जितेन।

निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणांधाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः ॥५४॥

[प्रकरण प्राप्त राजपक्ष में अर्थ] कठोर और बलिष्ठ सिंहनाद करनेवाले जिस राजा ने वैरिघातक खड्ग की बड़ी धारा रूप जल के विस्तार को बहुत प्रखर करके पानी से त्रिभुवन में जगमगाते हुए अपने शत्रुओं के बड़े प्रतापों को युद्धस्थल में बुझा डाला वह बड़ा प्रतापी था।

[इन्द्रपक्ष में व्यंग्य अर्थ—] गम्भीर गरजने वाले इन्द्र नामक देवता ने वर्षा ऋतु सूचक काले रङ्ग के नवीन बादलों को प्रकटकर शब्दायमान जलधाराओं से जल के शत्रुओं की बड़ी उष्णता को बुझाकर छोड़ा। यह ऐसा प्रभावशाली देवता है।

अत्र वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय इत्यत्रोपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

इस प्रकरण में वाक्य के असम्बद्ध अर्थाभिधान का अवसर न आ पड़े इस कारण प्रकरण से प्राप्त राजा और प्रकरण से भिन्न (व्यंग्य अर्थ द्वारा प्राप्त) इन्द्र इन दोनों के उपमानोपमेय भाव की कल्पना करनी उचित है; अतः यहाँ पर उपमा अलङ्कार व्यंग्य है।

[शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार ध्वनि का विरोधालङ्कार सूचक उदाहरण :—]

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद्विभो मधुरलीलः।
सतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भ

अर्थ—हे स्वामिन् ! आप दुष्टों पर कठोर हैं और सज्जनों से मनोहर प्रीति रखते हैं। आप शत्रुओं के घातक हैं। आपकी चेष्टाएँ मनभावनी हैं। आप बुद्धि और मान का यथोचित व्यवहार करते हैं तथा प्रत्येक स्थल पर आत्मपक्षवालों के नेता होकर सर्वत्र सुशोभित रहते हैं।

अत्रैकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासः।

यहाँ पर मूल में 'तिग्मरुचि' (सूर्य) होकर भी अप्रताप, (प्रताप

रहित) विधु (चन्द्रमा) होकर भी अनिशाकृत् (रात्रि न करनेवाले) विभु (दीप्तिहीन) होकर भी विभाति (विशेष चमकते हैं)। मधु (वसन्त ऋतु) होकर भी अलीलः (क्रीडा रहित), मतिमान् (बुद्धिमान्) होकर भी अतत्त्ववृत्ति (निरर्थक विचार करनेवाले) प्रतिपत् (प्रतिपदा तिथि) होकर भी अपक्षाग्रणीः (किसी पक्ष के प्रारम्भ में न रहनेवाले) आदि एक-एक पद को दो-दो भिन्न पदों मे तोड़ देने के कारण विरोधाभास नामक अलङ्कार व्यंग्य है।

[अभङ्ग पद में विरोधाभास ही का उदाहरणः—]

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद प्रभो।
अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥९६॥

अर्थ—हे शत्रुघाती और मित्रों के लिये सुखदायी स्वामिन्! युद्ध मे प्राप्त की हुई आपकी बड़ाई सीमारहित है। आप खलो के शत्रु, तथा सद्गुण विशिष्ट हैं।

अत्रापि विरोधाभासः।

यहाँ पर भी अमित, समित और अहित, सहित आदि शब्दों द्वारा विरोधाभास अलङ्कार ही व्यग्य है।

[व्यतिरेक अलङ्कार युक्त ध्वनि का उदाहरण :—]

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥९७॥

अर्थ—उपादान कारण रूप सामग्री के और विना किसी भीत के आधार के संसार रूप चित्र के खींचनेवाले प्रशंसायोग्य कला विशिष्ट त्रिशूलधारी भगवान् महादेव जी को हमारा प्रणाम है।

अत्र व्यतिरेकः।

यहाँ पर व्यतिरेकालङ्कार व्यग्य है।

अलङ्कार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्कारता। वस्तुमात्रं यथा—

इन प्रकरणों में अलङ्कार्य (ध्वनिरूप काव्य की अलङ्कारता) ब्राह्म-

ब्राह्मणश्रमण-न्याय की भाँति समझना चाहिये* ।

वस्तुमात्रं यथा ।

शब्दशक्ति मूलक वस्तुमात्र (अलङ्कार हीन) के व्यंग्य का उदाहरण:—

पंथिअ ! ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।
उण्णअपओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥२८॥

[छाया—पथिक ! नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नत पयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वस ॥]

अर्थ—[कोई नायिका दूती बनकर किसी पथिक रूप नायक से से कहती है—] हे पथिक ! इस पत्थर से भरे (वा मूर्खप्राय) गाँव में कहीं चटाई आदि बिछौना नहीं है; परन्तु यदि चढ़े हुए मेघ(व उभरे स्तनों) को देख तुम यहीं ठहरना चाहते हो तो ठहर जाओ ।

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्स्वेति व्यज्यते ।

यहाँ पर कहनेवाली नायिका का यह तात्पर्य व्यंग्य है कि यदि तुम उपभोग के लिये समर्थ हो तो यहाँ पर ठहरो ।

[शब्दशक्तिमूलक वस्तुमात्र ध्वनि का एक और उदाहरण—]

शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्मै त्वम् ।
यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥२९॥

अर्थ—हे राजन् ! आप जिस पर क्रोध करते हैं उस पर क्रूरग्रह शनि (शनैश्चर) और अशनि (वज्र) भी—दोनों बलपूर्वक प्रहार करते हैं ? तथा जिस पर आप प्रसन्न होते हैं वह बड़ा दाता और सानुकूल

---

* यदि कोई ब्राह्मण श्रमण (बौद्ध भिक्षु) हो जाय तो यद्यपि उसका ब्राह्मणत्व धर्म तो नष्ट हो ही जाता है, तथापि ब्राह्मण भिन्न बौद्ध संन्यासियों से विलग करने के लिये जैसे पूर्व में ब्राह्मण रहने के कारण उसे ब्राह्मणश्रमण कहते हैं वैसे ही ध्वनि में अलङ्कार के गौण हो जाने पर वाच्यार्थ दशा में जो अलङ्कार था उसी के विचार से ध्वनि में भी अलङ्कारता मानी जाती है ।

धर्मपत्नी वाला बनकर शोभा पाता है।

अत्र विरुद्धावपि त्वदनुवर्त्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति ध्वन्यते।

यहाँ पर यह ध्वनि निकलती है कि आपकी आज्ञा के पालन के लिये शनि और अशनि आदि परस्पर विरुद्ध होकर भी एक ही प्रकार का कार्य करते हैं।

[अब अर्थशक्ति मूलक व्यंग्य के भेदों का निरूपण किया जाता है—]

(सू०५४) अर्थ शक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जक: सम्भवी स्वतः ॥३६॥
प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा।
वस्तु वालङ्कृतिर्वेति षड् भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥४०॥
वस्त्वलङ्कारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः।

अर्थ—अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य स्वतःसम्भवी, कवि प्रौढोक्ति मात्र सिद्ध और कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति सिद्ध इस भाँति से तीन प्रकार का होता है—ये तीनों वस्तु और अलङ्कार युक्त होने से छः प्रकार के हुए और उन छहों में भी वस्तु और अलङ्कार भी व्यंग्य होते हैं। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य की संख्या बारह हो जाती है।

स्वतः संभवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद्बहिरप्यौचित्येन संभाव्यमानः। कविना प्रतिभामात्रेण बहिरसन्नपि निर्मितः कविनिबद्धेन वक्त्रेति वा द्विविधोऽपर इति त्रिविधः। वस्तु वाऽलङ्कारो वाऽसाविति षोढा व्यञ्जकः। तस्य वस्तु वाऽलङ्कारो वा व्यंग्य इति द्वादशभेदोऽर्थ-शक्त्युद्भवो ध्वनिः।

स्वतः सम्भवी से तात्पर्य उस ध्वनि से नहीं है जो केवल कवि ही के कथन मात्र से सिद्ध हो, किन्तु वाह्य संसार मे भी जो उचित रीति से सम्भाव्यमान (विद्यमान) हो। जो पदार्थ वाह्य संसार मे न हो केवल कवि ने ही अपनी विशिष्ट कल्पना से रच लिया हो वह कवि प्रौढोक्ति-मात्र सिद्ध कहलाता है। यदि कवि ने किसी वक्ता द्वारा ऐसी बात कह-लाई हो तो वह कवि निबद्धवक्तृ प्रौढोक्ति सिद्ध होगा। इस प्रकार

प्रौढोक्ति मात्र सिद्ध के दो प्रकार के भेद हुए। स्वतःसंभवी समेत ये तीन भेद (अर्थशक्तिमूलक) ध्वनि के हुए। ये तीनों भेद वस्तु और अलङ्कार युक्त होने से छः प्रकार के हुए। अब उन छहों का व्यंग्य अर्थ भी वस्तु और अलङ्कार विशिष्ट होने से प्रत्येक के दो-दो भेद फिर होंगे। अतः वे सब मिलाकर अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेद होते हैं।

क्रमेणोदाहरणम्।

इन बारहों भेदों के क्रमशः उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

[वस्तु द्वारा वस्तु की व्यञ्जकता का उदाहरण :—]

अलसशिरोमणि धुत्ताणं अग्गिमो पुत्ति धणसमिद्धिमओ।
इअ भणिएण णअङ्गी पप्फुलविलोअणा जाआ॥६०॥

[छाया—अलसशिरोमणिधूर्तानामग्रिमः पुत्रि धनसमृद्धिमयः।
इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता॥]

अर्थ—[किसी नायिका से कोई प्रौढा स्त्री कहती है—] हे बेटी! यह तुम्हारा चुना हुआ वर (पति) आलसी पुरुषों का अगुआ है, धूर्तों में प्रथम है; परन्तु धन संपत्ति से भरा पूरा है। इतना सुनते ही उस नतांगी नायिका की आँखें खिल उठीं।

अत्र ममैवोपभोग्य इति वस्तुना वस्तु व्यज्यते।

यह वस्तु द्वारा वस्तु ही की व्यञ्जकता का उदाहरण है।

[श्लोक का तात्पर्य यह है कि नायिका समझ गई कि ऐसा नायक तो मेरे ही उपभोग के योग्य होगा। (अन्य किसी स्त्री के नहीं)।

[स्वतःसंभवी वस्तु द्वारा अलङ्कार व्यञ्जक ध्वनि का उदाहरण—]

धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि
विश्रब्ध चाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि॥६१॥

अर्थ—[कोई सौभाग्यवती नायिका अपनी सखी को संबोधन

करके कहती है—] हे सखि! तू तो धन्य है कि अपने वल्लभ के साथ सुरत केलि के अवसर मे बीच-बीच मे विश्वास युक्त सैकड़ों मीठे वचन बोलती है, परंतु मै तो शपथपूर्वक कहती हूँ कि मेरा पति ज्योंही नीवी (फुँफुदी) के निकट हाथ लाता है त्योंही फिर क्या-क्या होता है मुझे कुछ भी स्मरण नहीं रहता।

अत्र त्वमधन्या अहन्तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कारः।

यहाँ पर कहनेवाली नायिका अपनी सखी को अभागिन और अपने को परमानद का पात्र समझकर धन्या बतलाती है। अतः सखी को धन्या कहने और वास्तव मे अपने ही को धन्या सूचित करने के कारण यहाँ पर व्यतिरेकालङ्कार व्यग्य है।

[स्वतःसम्भवी अलङ्कार से वस्तु की व्यञ्जना का उदाहरण :—]

दर्पान्धगन्धगजकुम्भकपाटकूट—
संक्रान्तिनिघ्नघनशोणितशोणशोचिः।
वीरैर्व्यलोकि युधि कोपकषायकान्तिः
कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः॥६२॥

अर्थ—मतवाले गन्धगजों के कपाट सदृश दृढ कपोलों के अग्रभाग पर प्रहार कर उसमे धँसे हुए घने रक्त के लाल रङ्ग से रङ्गीली चमकदार तलवार को क्रोध से अत्यन्त लाल कालिका माता के कटाक्ष के समान उस राजा के हाथ में वीरों ने चमकती हुई देखा।

अत्रोपमालङ्कारेण सकलरिपुबलक्षयः क्षणात्करिष्यते इति वस्तु।

यहाँ पर कालिका के कटाक्ष के समान कृपाण की उपमा बतलाने से उपमालङ्कार द्वारा यह वस्तु व्यक्त होती है कि वह वीर क्षण भर में शत्रुओं की समस्त सेना का सहार कर डालेगा।

[स्वतःसम्भवी अलङ्कार से अलङ्कार की व्यञ्जना का उदाहरण:—]

गाढकान्तदशनक्षतव्यथासङ्कटादरिवधूजनस्य यः।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन्युधि रुषा निजाधरम् ॥६३॥

अर्थ—उस राजा ने युद्धस्थल में क्रोध से अपने निचले ओठों को

चबाकर शत्रुविलासिनियों के मूँगे के पत्र के सदृश ओठों को, उनके पतियों द्वारा कसकर काटे जाने रूप पीड़ाओं के संकट से छुड़ा दिया।

अत्र विरोधालङ्कारेणाऽधरनिर्दंशनसमकालमेव शत्रवो व्यापादिता इति तुल्योगिता मम क्षत्याऽप्यन्यस्य क्षतिर्निवर्ततामिति तद्बुद्धिरुत्प्रेक्ष्यते इत्युत्प्रेक्षा च। एषूदाहरणेषु स्वतःसंभवी व्यञ्जकः।

यहाँ पर विरोधालङ्कार के सहित ओठ चबाने के समकाल ही में शत्रुगण मारे गये ऐसे तुल्ययोगिता नामक अलंकार की भी सूचना है। मेरी ही हानि होकर रह जावे, औरों की हानि न होने पाये ऐसी बुद्धि की उत्प्रेक्षा (कल्पना) से उत्प्रेक्षालंकार भी माना जा सकता है। इन ऊपर उक्त चारों उदाहरणों में से प्रत्येक में स्वतःसम्भवी व्यञ्जक है।

[कवि प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध व्यञ्जक अर्थवाली ध्वनि के चार भेदों के उदाहरण अब आगे प्रदर्शित किये जा रहे हैं।]

[प्रथमतः वस्तु की व्यञ्जना का उदाहरण :—]

कैलासस्य प्रथमशिखरे वेणुसंमूर्च्छनाभिः
श्रुत्वा कीर्तिं विबुधरमणीगीयमानां यदीयाम्।
स्रस्तापाङ्गाः सरसबिसिनीकाण्डसञ्जातशङ्का
दिङ्मातङ्गाः श्रवणपुलिने हस्तमावर्तयन्ति ॥६४॥

अर्थ—कैलास पर्वत की सब से ऊँची चोटी पर देवाङ्गनाओं द्वारा बाँसुरी की ध्वनि के साथ गाई जानेवाली (जिस) राजा की कीर्ति को सुनकर दिग्गज गण रसीले कमलनालों (डण्ठलों) के भ्रम से आँखें तिरछी करके अपने कानों के प्रान्त भागों पर शुण्डादण्ड फेरने लगते हैं।

अत्र वस्तुना येषामप्यर्थाधिगमो नास्ति तेषामप्येवमादिबुद्धिजननेन चमत्कारं करोति त्वत्कीर्तिरिति वस्तु ध्वन्यते।

यहाँ पर केवल कवि की प्रौढोक्ति से सिद्ध कीर्ति के कानों में प्रवेश करने पर कमल तन्तु के भ्रम से कानों पर शुण्डादण्ड का फेरना आदि वस्तु से, जिन दिग्गजों को गीत के अर्थ तक का ज्ञान नहीं है, उनके

भी चित्त में कमलतन्तु आदि की बुद्धि उत्पन्न कर देने के कारण उस राजा की कीर्ति अति अद्भुत चमत्कारिणी है यह वस्तु ध्वनित होती है।

[कवि प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध वस्तु से अलंकार की व्यञ्जना का उदाहरण :—]

केसेसु बलामोडिअ तेण अ समरम्मि जअसिरी गहिआ।
जह कन्दराहि विहुरा तस्स दढं कंठअम्मि संठविआ ॥६५॥

[छाया—केशेषु बलात्कारेण तेन च समरे जयश्रीगृहीता।
यथा कन्दराभिर्विधुरास्तस्य दृढं कण्ठे संस्थापिताः ॥]

अर्थ—उस राजा ने युद्धक्षेत्र में बलपूर्वक विजयलक्ष्मी को केशों द्वारा पकड़ कर खींच लिया और कन्दराओं ने उस राजा के शत्रुओं को अपने गलों में लपेट लिया (तात्पर्य यह है कि राजा के शत्रुगण अतिशय भयभीत होकर पर्वतों की कंदराओं में जा छिपे और वहाँ से बाहर भी नहीं निकले)।

अत्र केशग्रहणावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विधुरान् कण्ठे गृह्णन्ति इत्युत्प्रेक्षा। एकत्र संग्रामे विजयदर्शनात्तस्यारयः पलाय्य गुहासु तिष्ठन्तीति काव्यहेतुरलंकारः। न पलाय्य गतास्तद्वैरिणोऽपि तु ततः पराभवं संभाव्य तान् कन्दरा न त्यजन्तीत्यपह्नुतिश्च।

यहाँ पर केश-ग्रहण के देखने से कामोद्दीपन होने के कारण कंदराएँ उस राजा के शत्रुओं को मानो गले लगाती हैं, यह उत्प्रेक्षालङ्कार है। एक ओर संग्राम में विजय देख, राजा के शत्रुगण भागकर गिरि कन्दरा में छिप गये यह काव्यहेतु नामक अलङ्कार न है। उस राजा के वैरी भागकर नहीं छिपे, किन्तु पराजय का विचार करके कंदराएं ही उन्हें नहीं छोड़ती, इस प्रकार अपह्नुति अलङ्कार भी है।

[कवि प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध अलङ्कार से वस्तु की व्यञ्जना का उदाहरण:—]

गाढालिङ्गणरहसुज्जुअम्मि दइए लहुं समोसरइ।
माणंसिणीण माणो पीलणभीअ व्व हिअआहिं ॥६६॥

[छाया—गाढालिङ्गन रभसोद्यते दयिते लघु समपस्सरति ।
　　　मनस्विन्या मानः पीडनभीत इव हृदयात् ॥]

अर्थ—जब प्रियतम हठात् (नायिका के शरीर के) निर्भर आलिङ्गन के लिये उद्यत हो गया तब मनस्विनी नायिका का मान भी दबाये जाने के भय से झटपट दूर हो गया ।

अत्रोत्प्रेक्षया प्रत्यालिङ्गनादि तत्र विजृम्भते इति वस्तु ।

यहाँ पर उत्प्रेक्षालङ्कार द्वारा प्रत्यालिङ्गन आदि कार्यों की अवश्यम्भाविता रूप वस्तु प्रकट की गई है ।

[कवि प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार की व्यञ्जना का उदाहरण:—]

　　　जा ठेरं व हसन्ती कइवअणंबुरुहअद्धविणिवेसा ।
　　　दावेइ भुअणमण्डलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ॥६७॥

[छाया—या स्थविरमिव हसन्ती कविवदनाम्बुरुहबद्धविनिवेशा ।
　　　दर्शयति भुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा वाणी ।]

अर्थ—कवियों के मुख पंकज में स्थिरतापूर्वक निवास करनेवाली जो सरस्वती देवी समस्त संसार को अन्य पदार्थों की भाँति (और का और) दिखलाती हुई ब्रह्मा को बूढ़े की तरह हँसती हैं वह विजयिनी हैं ।

अत्रोत्प्रेक्षया चमत्कारैककारणं नवं नवं जगद् अजडासनस्था निर्मिमीते इति व्यतिरेकः । एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नो व्यञ्जकः ।

यहाँ पर उत्प्रेक्षालङ्कार द्वारा अद्भुत चमत्कार के कारण रूप नवीन संसार को कमलरूप जड़ पदार्थ के आसन पर बिना बैठे ही (चेतन रूप कवि मुख पङ्कज के आधार पर होकर) सरस्वती देवी निर्माण करती हैं ऐसा व्यतिरेकालङ्कार प्रकट हो रहा है ।

[ऊपर के इन चारों उदाहरणों में कविप्रौढोक्तिमात्र सिद्ध व्यञ्जक दिखलाये गये है ।]

[कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध व्यञ्जक अर्थ ध्वनि के चार भेदों में से वस्तु से वस्तु की ध्वनि का उदाहरण दिखाया जाता है:—]

जे लंकागिरिमेहलासु खलिआ संभोगखिण्णोरई-
फारुप्फुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिद्दत्तणम् ।
ते एह्निं मलआनिला विरहिणीणीसाससंपक्किणो
जादा झत्ति सिसुत्तणे वि बहला तारुण्णपुण्णा विअ ॥६८॥

[छाया—ये लङ्कागिरिमेखलासु स्खलिताः सम्भोगखिन्नोरगी.
स्फारोत्फुल्लफणावलीकवलने प्राप्ता दरिद्रत्वम् ।
त इदानीं मलयानिला विरहिणीनिःश्वाससम्पर्किणो
जाता झटिति शिशुत्वेऽपि बहलास्तारुण्यपूर्णा इव ।]

अर्थ—जो वायु के झोंके लङ्का के पर्वतों की चट्टानों से नीचे गिरकर सम्भोग के परिश्रम से थकी हुई, नागिनी के फैले और ऊपर की ओर उठाये हुए फणों की पक्ति से निगले-जाने के कारण दुर्बल (परिमाण में अल्प) हो गये हैं वे ही अब मलयानिल के रूप मे परिणत होकर विरहिणी स्त्रियों की उष्ण साँसों का सम्पर्क पाकर फिर प्रारम्भावास्था ही की भाँति अत्यन्त पुष्ट-से हो गये हैं ।

अत्र निःश्वासैः प्राप्तैश्वर्या वायवः किं किं न कुर्वन्तीति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

यहाँ पर साँस के सम्बन्ध से पुष्टि को प्राप्त होने वाले वायु के झोंके क्या-क्या नहीं करते ऐसी वस्तु ही की व्यञ्जना होती है ।

[कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध व्यञ्जक अर्थध्वनि मे वस्तु से अलङ्कार की व्यञ्जना का उदाहरणः—]

सहि विरइऊण माणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम ।
पिअदंसणविहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरिअम् ॥६९॥

छाया—सखि विरचय्यमानस्य मम धीरत्वेनाश्वासम्
प्रियदर्शनविश्रृङ्खलक्षणे सहसेति तेनापसृतम्]

अर्थ—[कोई नायिका अपनी सखी से कहती है—] हे सखि ! तुम्हारे समझाने पर मेरे धैर्य ने मेरे चित्त के मान को संभालने का समाश्वासन तो दिया था, परन्तु जब अपने प्यारे को देख कर मैं

उत्कण्ठावश चञ्चल हो गई तो वह धीरज सहसा भाग गया।

अत्र वस्तुनाकृतेऽपि प्रार्थने प्रसन्नेति विभावनाप्रियदर्शनस्य सौभाग्य-बलं धैर्येण सोढुं न शक्यत इत्युत्प्रेक्षा वा।

यहाँ पर विना प्रार्थना किये ही प्रसन्न हो जाना रूप वस्तु से विना कारण के कार्योत्पत्ति रूप विभावना नामक अलङ्कार है। अथवा प्यारे के दर्शन रूप सौभाग्य के बल से धीरज नहीं रखा जा सकता। यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार भी माना जा सकता है।

[कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध अलङ्कार से वस्तु की व्यक्ति का उदाहरणः—]

ओल्लोल्लकरअरअक्खएहिं तुह लोअणेसु मह दिण्णम्।
रत्तंसुअं पसाओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ ॥७०॥

[छाया—आर्द्रार्द्रकरजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्तम्।
रक्तांशुकं प्रसादः कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते ॥]

अर्थ—[कोई नायक अपनी नायिका की आँखें क्रोध से लाल-लाल देखकर पूछता है—] हे प्यारी! तुम रुष्ट क्यों हो? उसके उत्तर में नायिका कहती है कि हे प्यारे! ये मेरी आँखें क्रोध से लाल नहीं है; किन्तु आपके शरीर में (अन्य स्त्री के दिये हुए) नवीन नख और दाँत के घावों ने इन आँखों को लाल किरण रूप प्रसाद अर्पण किया है।

अत्र किमिति लोचने कुपिते वहसि इत्युत्तरालङ्कारेण न केवलमार्द्रन-खक्षतानि गोपायसि यावत्तेषामहं प्रसादपात्रं जातेति वस्तु।

यहाँ पर तुम्हारी आँखें लाल क्यों हैं? इस प्रश्न के उत्तर रूप उत्तर अलङ्कार द्वारा न केवल तुम अपने नवीन-नवीन नखक्षतों ही को छिपा रहे हो; किन्तु मैं उनकी प्रसादपात्री भी हुई यह वस्तु व्यञ्जित होती है।

[कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार की व्यञ्जकता का उदाहरणः—]

सहिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती।
अणु दिणमणण्णा कम्मा अङ्गं तणुअं वि तणुएइ ॥७१॥
[छाया—महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग सा असान्ती।
अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तनुकमपि तनयति ॥]

अर्थ—नायिका की सखी नायक से कहती है कि—हे सुन्दर! सहस्रो धूर्त स्त्रियों से भरे हुए तुम्हारे हृदय में अपने सामने के लिये पर्याप्त स्थान न पाकर वह (स्त्री) अपने अत्यन्त दुर्बल शरीर को और भी अधिक दुवला कर रही है। उसे रात दिन किसी और कार्य के करने का अवसर ही नहीं मिलता है।

अत्र हेत्वलङ्कारेण 'तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते' इति विशेषोक्तिः एषु। कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो व्यञ्जकः। एवं द्वादश भेदाः।

यहाँ पर हेतु अलङ्कार द्वारा दुबले शरीर को और भी अधिक दुवला करके भी वह स्त्री तुम्हारे हृदय में स्थान नहीं पाती है, इस प्रकार के कारण के वर्तमान रहने पर भी कार्य न होना रूप विशेषोक्ति नामक अलङ्कार व्यक्त है।

[ऊपर कहे गये इन चारो उदाहरणो में कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति मात्रसिद्ध व्यञ्जक है। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि काव्य के बारह भेद उदाहरण द्वारा दिखाये जा चुके।]

(सू० ५५) शब्दार्थोभयभूरेकः।

यथा—

अर्थ—शब्द और अर्थ उभयशक्तिमूलक ध्वनि एक ही प्रकार की है (इसके भेद नहीं होते) जैसे—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥७२॥

रात्रिपक्ष में अर्थ—प्रकटरूपवाला चन्द्रमा जिसकाभूषण है, जो काम को जगानेवाली है, और जिसमें झिलमिलाते चञ्चल तारे दिखाई

पड़ते हैं—ऐसी रात्रि किस पुरुष को आनन्दित नहीं करती ?

श्यामा स्त्री के पक्ष में अर्थ—निरालस्य और चन्द्रमा रूप शिरोभूषण वाली, भली भाँति कामी को उत्तेजित करनेवाली और चञ्चल ताराविशिष्ट नेत्रोंवाली श्यामा[1] (सोलह वर्ष की अवस्था वाली) नायिका किस पुरुष को सानन्द नहीं करती ?

अत्रोपमा व्यङ्ग्या ।

यहाँ पर रात्रि और श्यामा नायिका का उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग है। इस प्रकार ध्वनि काव्य के सब मिलाकर अठारह भेद हुए—जिन्हें आगे कह रहे हैं।

(सू० ५६) भेदा अष्टादशास्य तत् ॥४१॥

अर्थ—इस प्रकार उक्त रीति से इस (ध्वनि काव्य) के अठारह भेद हुए। इस ध्वनि के उन अठारह भेदों को इस प्रकार गिनना चाहिये। अविवक्षित वाच्य के प्रथम दो भेद (अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत) हुए। फिर विवक्षितान्य पर वाच्य के भेदों में से असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य नामक एक और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य नामक दूसरा भेद। इस संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के शब्दशक्तिमूलक दो, अर्थशक्तिमूलक बारह और उभय शक्तिमूलक एक। इस प्रकार सब मिलाकर अठारह हुए।

अस्येति ध्वनेः ।

मूलकारिका में 'इसके' से (अस्य) से तात्पर्य 'ध्वनि के' से है।

---

[1] श्यामा स्त्री का लक्षण यह है—

शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला ।

सर्वावयवशोभाढ्या सा स्त्री श्यामा प्रकीर्तिता ।

अर्थ—श्यामा उस स्त्री को कहते हैं जिसका शरीर शीत ऋतु में उष्ण और ग्रीष्म में सुखद शीतल हो जावे। तथा सब अवयवों (मुख, नेत्र, नाक, कान, ओष्ठ, दन्त, स्थन, नितम्ब, उरू आदि) की शोभा सम्पत्ति से परिपूर्ण हो।

ननु रसादीनां बहुभेदत्वेन कथमष्टादशेत्यत आह।

यदि पूछा जाय कि रसादि के तो अगणित भेद होते हैं यहाँ पर केवल अठारह ही क्यों गिने गये तो उत्तर मे ग्रन्थकार कहते हैं—

(सू० ५७) रसादीनामनन्तत्वाद्भेद एकोऽहि गण्यते।

अर्थ—रसादि की सख्या अपरिमित होने से उसका केवल एक ही भेद गिना जाता है।

अनन्तत्वादिति। तथाहि नव रसः। तत्र श्रृङ्गारस्य द्वौ भेदौ। संभोगो विप्रलम्भश्च। संभोगस्यापि परस्परावलोकनालिङ्गनपरिचुम्बनादि-कुसुमोच्चयजलकेलिसूर्यास्तमयचन्द्रोदयषड्तुवर्णनादयो बहवो भेदाः। विप्रलम्भस्याभिलाषादय उक्ताः। तयोरपि विभावानुभावव्यभिचारि-वैचित्र्यं। तत्रापि नायकयोरुत्तममध्यमाधमप्रकृतित्वम्। तत्रापि देशकाला-वस्थादिभेदा इत्येकस्यैव रसस्यानन्त्यम्। का गणना त्वन्येषाम्। असं-लक्ष्यक्रमत्वन्तु सामान्यमाश्रित्य रसादिध्वनिभेद एक एव गण्यते।

अपरिमित सख्या कहने का तात्पर्य यह है कि नौ तो रस हैं उनमे से पहिले श्रृङ्गार ही के दो भेद हैं—(१) सम्भोग और (२) विप्रलम्भ। तिन में से सम्भोग ही के अनेक भेद हैं जैसे—(१) नायिका और नायक का परस्पर एक दूसरे को देखना (२) आलिङ्गन (३) सर्वाङ्ग चुम्बन इत्यादि (४) फूल बटोरना (५) जलक्रीड़ा (६) सूर्यास्त (७) चन्द्रोदय (८) छहों ऋतुओं (वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, और शीत) आदि का वर्णन इत्यादि। ऐसे ही विप्रलम्भ श्रृङ्गार के अभिलाप, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप आदि के कारण-वाले पाँच भेद बताये जा चुके हैं। उनमे भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव आदि की विचित्रता है। तिस पर भी नायिका और नायक के उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृतिवाले होने से कई प्रकार के भेद होंगे। फिर देश, काल, अवस्था आदि भेदो के कारण भी अनेक भेद होंगे। उक्त प्रकार से केवल एक श्रृङ्गाररस के ही अगणित भेद हो जाते हैं तब शेष आठ रसों की क्या गणना की जाय? असलक्ष्य

क्रम व्यंग्य का साधारणतया विशेष भेद न करके रसादि रूप ध्वनि का केवल एक ही भेद गिना गया है।

(सू० ५८) वाक्येद्व्युत्थः

अर्थ—उभयशक्ति मूलक ध्वनि केवल वाक्य ही में होती है, पदादिक में नहीं।

द्व्युत्थ इति शब्दार्थोभयशक्तिमूलः।

'द्व्युत्थः' अर्थात् शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि।

(सू० ५९) पदेऽप्यन्ये।

अर्थ—और सब (शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि को छोड़ कर) अर्थान्तर संक्रमितवाच्य आदि ध्वनि के भेद (वाक्यों की भाँति) पदों में भी होते हैं।

अपि शब्दाद्वाक्येऽपि। एकावयवस्थितेन भूषणेन कामिनीव पदद्योत्येन व्यङ्ग्येन वाक्यव्यङ्ग्यापि भारती भासते। तत्र पद प्रकाश्यत्वे क्रमेणोदाहरणानि।

'भी' कहने का यह तात्पर्य है कि उक्त सत्रह भेद वाक्यों में तो होते ही हैं। जैसे शरीर के एक भाग नासिका वा नितम्ब आदि में पहिनाये गये मोतीयुक्त नथ अथवा मणिमय काञ्ची आदि से सुन्दरी स्त्री शोभित होती है वैसे ही केवल एक पद से प्रकाश्य व्यंग्य द्वारा वाक्यव्यंग्या भी सरस्वती शोभित होती है। अब पद प्रकाश्य व्यंग्य के उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं।

[पद प्रकाश्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का उदाहरण :—]

यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ॥७२॥ [१]

अर्थ—जिस मनुष्य के मित्र यथार्थ मित्र (विश्वासपात्र) हैं, जिसके शत्रु यथार्थ में शत्रुवत् व्यवहार करने योग्य हैं (अर्थात् जिनका चारों ओर से दमन करना आवश्यक है) तथा जिसकी दया के योग्य

व्यक्ति वास्तव मे स्नेह के पात्र ही हैं उसी मनुष्य का जन्म सफल और प्रशंसायोग्य है।

अत्र द्वितीयमित्रादिशब्दा आश्वस्तत्वनियन्त्रणीयत्वस्नेहपात्रत्वादि-संक्रमितवाच्याः।

यहाँ पर द्वितीय मित्र, शत्रु और अनुकम्प्य शब्द क्रम से विश्वास-पात्र, चारो-ओर से दमन करने योग्य और स्नेहपात्र रूप अर्थान्तर में सङ्क्रान्त (परिणत) हो गये हैं।

[पद प्रकाश्य व्यंग्य मे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का उदाहरणः—]

खलववहारा दीसन्ति दारुणा जहवि तहवि धीराणम्।
हिअअवअस्सबहुमआ ण हु ववसाआ विमुज्झन्ति ॥७४॥ [२]

[छाया—खलव्यवहारा दृश्यन्ते दारुणा यद्यपि तथापि धीराणाम्।
हृदयवयस्यबहुमता न खलु व्यवसाया विमुह्यन्ति ॥]

अर्थ—यद्यपि धूर्त मनुष्यों के चरित्र बहुत ही दुःखदायी दिखाई पड़ते हैं, तथापि धीर स्वभाव के लोग, जो अपने मित्ररूप मन के अनुमोदन को स्वीकार करते हैं, अपने उद्योग से नहीं चूकते।

अत्र विमुह्यन्तीति।

यहाँ पर 'विमुह्यन्ति' (चूकते हैं) इस पद में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यता है।

[पद प्रकाश्य असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का विप्रलम्भ शृङ्गार विषयक उदाहरणः—]

लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः।
तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान् ॥७५॥

अर्थ—वह सौंदर्य, वैसी चमक, वैसा आकार वा रङ्ग और वह बोलने का ढङ्ग तब तो अमृत के समान लगता था, परन्तु अब तो (उसके वियोग हो जाने पर) उसका स्मरण भी परम दुःखदायी ज्वर-सा प्रतीत होता है।

अत्र तदादिपदैरनुभवैकगोचरा अर्थाः प्रकाश्यन्ते। यथा वा

यहाँ पर 'तद्' (वह) इत्यादि पदों से केवल अनुभव का विषय यही अर्थ प्रतीत होता है।

[पद प्रकाश्य असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का सम्भोग शृङ्गार विषयक एक और उदाहरण:—]

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरी कुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥७६॥ [३]

अर्थ—[किसी नायिका से उसकी सखी कहती है:—] 'हे मुग्धे! (विवेक शून्य स्त्री) तू क्यों सिधाई ही से (बिना मान आदि का स्वाँग बनाये ही) अपना सब समय (यौवनकाल) बिता देना चाहती है। अरे! तू मान कर, धीरज धर, अपने प्रियतम के सम्बन्ध में सिधाई छोड़ दे।' जब नायिका ने सखी के ऐसे शिक्षा-वचन सुने तो भय से व्याकुल वदन होकर बोल उठी कि अरे सखि! धीरे-धीरे बोलो नहीं तो मेरे हृदय में स्थित हमारे प्राणनाथ सुन लेंगे।

अत्र भीताननेति। एतेन हि नीचैः शंसनविधानस्य युक्तता गम्यते। भावादीनां पदप्रकाश्यत्वेऽधिकन्न वैचित्र्यमिति न तदुदाह्रियते।

यहाँ पर 'भीतानना' (भय से व्याकुल वदन) इस पद के कथन से धीरे-धीरे बोलने का विधान यथोचित है ऐसा प्रकट होता है। भाव आदि के पद प्रकाश्य होने में कोई विशेष चमत्कार नहीं होता इसलिये यहाँ पर उसके उदाहरण नहीं दिये जाते हैं।

[संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के कतिपय भेदों में से शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के प्रकरण में वस्तु से अलङ्कार की व्यञ्जकता का पदप्रकाश्य उदाहरण:—]

रुधिरविसरप्रसाधितकरवालकरालरुचिरभुजपरिघः।
झटिति भृकुटिविटङ्कितललाटपट्टो विभासि नृप भीम ॥७७॥[४]

अर्थ—हे भयङ्करस्वरूपवाले राजन्! आप अपने रक्त से रञ्जित खड्ग द्वारा भयानक और परिघ (लोहे के मुद्गर) के समान सुन्दर

भुजाओं को धारण किये हुए शीघ्र ही भ्रूभङ्ग से शोभित मस्तकवाले दिखाई देते हैं।

अत्र भीषणीयस्य भीमसेन उपमानम्।

यहाँ पर 'भीम' इस पद मे भयङ्करता के कारण पाण्डुपुत्र भीमसेन की उपमा व्यञ्जित होती है।

[शब्दशक्तिमूलक वस्तु से वस्तु की व्यञ्जकता का पद प्रकाश्य उदाहरणः—]

भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः।
कस्य नानन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः ॥७८॥ [५]

अर्थ—वाच्यपक्ष मे—(कर्मकाण्ड द्वारा) भोग और (ज्ञानकाण्ड विषयक वेदान्तशास्त्र द्वारा) मोक्ष का देनेवाला तथा नियमपूर्वक उपदेश करने में तत्पर जो अच्छा आगम (वेद) शास्त्र है वह किसके चित्त मे आनन्द की परम्परा को नहीं बढ़ाता ?

व्यंग्य पक्ष में—सुरतादिक भोग और विरहज्वाला रूप दुःख से छुटकारा दिलानेवाला तथा सुनसान संकेत स्थान में पहुँचाने के लिए तत्पर, सुन्दर वल्लभ रूप नायक का समागम किस रमणी की हर्ष परम्परा का प्रवाहक नहीं होता है ?

काचित् संकेतदायिनमेवं मुख्यया वृत्त्या शंसति।

यहाँ पर कोई उपनायिका संकेत करनेवाले उपनायक (जार) को इस प्रकार से व्यग्य द्वारा शास्त्रों की स्तुति सुनाती है।

[पद प्रकाश्य अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेदों मे से स्वतः सम्भवी अर्थ व्यञ्जकता के प्रकरण में वस्तु से वस्तु की व्यञ्जकता का उदाहरणः—]

सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः।
आश्चर्यन्तव सौकुमार्यमभितः क्लान्ताऽसि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥७९॥ [६]

अर्थ—[जार से सम्भोग करा लेने के अनन्तर थकावट का दूर करने के लिये स्नान आदि कार्यों को कर चुकनेवाली नायिका से उसके गुप्त व्यापार को ताड़ लेनेवाली कोई सखी कहती है :—] हे सखी ! तुम्हारी तो अद्भुत सुकुमारता है कि यद्यपि तुमने सन्ध्याकाल में स्नान किया, शरीर में चन्दन का लेप किया, सूर्यास्त हो जाने पर भी बेखटके धीरे-धीरे यहाँ चली आई; किन्तु फिर भी तुम सभी प्रकार से इतनी थक गई हो कि अब तुम्हारी दोनों आँखें विश्राम के लिये बिना मुँदे नहीं रह सकती हैं।

अत्र वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्ताऽसीति वस्तु अधुनापदद्योत्यं व्यज्यते।

यहाँ पर वस्तु द्वारा जार के समागम से तुम थक गई हो यह वस्तु 'अधुना' (अब) इस पद के प्रकट होती है।

[प्रस्तुत प्रकरण में ही स्वतःसम्भवी वस्तु से अलङ्कार की व्यञ्ज--कना का उदाहरण :—]

तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥८०॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका ॥८१॥ [७]

अर्थ—भगवान् श्रीकृष्ण जी के न प्राप्त होने से बड़े भारी दुःख-भोग के कारण जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं और उन्हीं के ध्यानरूप महान् आनन्द में निमग्न हो जाने से जिसके सब पुण्यफल भी क्षीण हो गये हैं, ऐसी दूसरी गोप कुमारी संसार के जनक, परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण जी का स्मरण करती हुई, प्राणवायु के रुक जाने से मोक्ष को प्राप्त हुई।

अत्र जन्मसहस्रैरुपभोक्तव्यानि दुष्कृतसुकृतफलानि वियोगदुःखचिन्तनाह्लादाभ्यामनुभूतानीत्युक्तम्। एवं चाशेषचयपदद्योत्ये अतिशयोक्ती।

यहाँ पर सहस्रों जन्म-जन्मान्तरों में भोगने योग्य पाप और पुण्य के फल विरह जनित पीड़ा और ध्यान जनित आनन्द में लीन होने से

अनुभव किये जा चुके, ऐसी बात इस श्लोक में कही जा चुकी है; अतः यहाँ पर अशेष (सब) और चय (समूह) शब्दों से प्रकट होने वाली अतिशयोक्ति (नामक अलंकार) की व्यक्ति होती है।

[प्रस्तुत प्रकरण में ही स्वतःसम्भवी अलकार से वस्तु की व्यञ्जकता का उदाहरण :—]

क्षणदासावक्षणदा वनमवनं व्यसनमव्यसनम्।

बत वीर ! तव द्विषतां पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वम् ॥८२॥[८]

अर्थ—हे वीर राजन् ! आपके विमुख हो जाने पर सब लोग भी आपके शत्रुओं के विमुख हो गये; क्योंकि क्षणदा (विश्रामदायिनी रात्रि) उन शत्रुओं के लिये अक्षणदा (आनन्द न देने वाली) हो गई। वन (जहाँ पर लोग अरक्षित रहते हैं) अवन (रक्षास्थान) बन गया है और उनका व्यसन (कालक्षेप का व्यापार) अव्यसन (भेंड़ चराना) हो गया है। [भाव, यह है कि राजा के शत्रुगण वन में जाकर छिप गये हैं ; वहाँ वे भेड़ें चराते हैं और उन्हें रात्रि काल मे भी चैन नहीं मिलता है]।

अत्र शब्दशक्तिमूलविरोधाङ्गेनार्थान्तरन्यासेन 'विधिरपि त्वामनुवर्त्तते' इति सर्वपदद्योत्यं वस्तु।

यहाँ पर शब्द शक्तिमूलक विरोधरूप अङ्ग द्वारा अर्थान्तरन्यास नामक अलकार से विधाता भी आप ही का अनुसरण करता है, यह वस्तु 'सर्व' (सब) इस पद से प्रकट की गई है।

[इसी प्रकरण में अलंकार से अलकार की व्यञ्जकता का उदाहरण :—]

तुह वल्लहस्स गोसम्मि आसि अहरो मिलाणकमलदलो।

इअ णववहुआ सोऊण कुणइ वअणं महिसंमुहम् ॥८३॥[९]

[छाया—तव वल्लभस्य प्रभाते आसीदधरो म्लानकमलदलम्।

इति नववधूः श्रुत्वा करोति वदनं मही संमुखम् ॥]

अर्थ—[कोई सखी किसी नवोढ़ा नायिका से कहती है—] प्रातः

काल के समय तुम्हारे प्यारे पति का निचला होंठ मुरझाये हुए कमल के पत्ते की भांति हो गया था। ऐसी बात सुनकर नवोढ़ा नायिका अपना मुख भूमि की ओर झुका लेती है।

अत्र रूपकेण त्वयाऽस्य मुहुर्मुहुः परिचुम्बनं तथा कृतं येन म्लानत्वमिति मिलाणादिपदद्योत्यं काव्यलिङ्गम्। एषु स्वतःसम्भवी व्यञ्जकः।

यहाँ पर रूपक अलंकार द्वारा 'तुमने बारबार इस प्रकार से उसका मुख चुम्बन किया है कि उसमें म्लानता आ गई' यह अर्थ (भाव) 'मिलाण' आदि पदों से प्रकट होनेवाले काव्यलिङ्ग नामक अलकार का अभिव्यञ्जक है। उक्त उदाहरणों में स्वतःसम्भवी व्यञ्जक है।

[पद प्रकाश्य कवि प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध ध्वनि काव्य के चार भेदों में से पहले अर्थात् वस्तु से वस्तु की व्यञ्जकता का उदाहरण :—]

राईस चन्दधवलासु ललिअमप्फालिऊण जो चावम्।
एकच्छत्तं विश कुणइ भुअणरज्जं विजंभंतो ॥८४॥ [१०]

[छाया—रात्रीषु चन्द्रधवलासु ललितमास्फाल्य यश्चापम्।
एकच्छत्रमिव करोति भुवनराज्यं विजृम्भमाणः ॥]

अर्थ—जो (कामदेव) छिटकी हुई चाँदनी रात्रियों में अपने कोमल धनुष की फटकार मात्र से सकल भुवन में चक्रवर्ती राजा के समान स्वकीय उत्कर्ष प्रकट करता रहता है (वह सर्वशक्तिमान् है)।

अत्र वस्तुना येषां कामिनीनामसौ राजा स्मरस्तेभ्यो न कश्चिदपि तदादेशपराङ्मुख इति जाग्रद्भिरुपभोगपरैरेव तैर्निशाऽतिवाह्यते इति भुअणरज्जपदद्योत्यं वस्तु प्रकाश्यते।

यहाँ पर वस्तु से जिन कामी नर-नारियों का राजा यह कामदेव है, उनमें से कोई भी उसकी आज्ञा के विपरीत नहीं चल सकता और सब लोग जागते हुए उपभोग ही मे तत्पर रहकर रात्रि व्यतीत करते हैं यह वस्तु भुअणरज्जं (सकल भुअनों का राज्य) इस पद से प्रकाशित होती है।

[प्रस्तुत प्रकरण मे ही वस्तु से अलङ्कार की व्यक्ति का उदाहरणः—

निशितशरधियार्पयत्यनङ्गो दृशि सुदृशः स्वबलं वयस्यराले ।
दिशि निपतति यत्र सा च तत्र व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्थाः॥८५॥[११]

अर्थ—चढती युवावस्थावाली सुन्दरी स्त्रियों के नेत्रों में चोखे बाणों को चुभा देने की बुद्धि से कामदेव अपना बल अर्पण कर देता है। अतएव जिन दिशाओं में उनकी दृष्टि का पतन होता है वहाँ पर भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ (हँसना, रोना, गाना, मूर्च्छा आदि) एकत्र होकर बार-बार प्रकट होती हैं।

अत्र वस्तुना युगपदवस्थाः परस्परविरुद्धा अपि प्रभवन्तीति व्यतिकरपदद्योत्यो विरोधः।

यहाँ पर वस्तु के द्वारा परस्पर विरुद्ध भी अवस्थाएँ एकत्र होकर प्रकट होती हैं। यह व्यतिकर (एकत्र होना) शब्द से प्रकट होने वाले विरोधालङ्कार की अभिव्यक्ति है।

[प्रस्तुत प्रकरण मे अलङ्कार से वस्तु की व्यञ्जकता का उदाहरणः—]

वारिज्जन्तो वि पुणो संदावकदत्थिएण हिअएण।
थणहरवअस्सएण विसुद्धजाई ण चलइ से हारो॥८६॥[१२]

[छाया—वार्यमाणोऽपि पुनः सन्तापकदर्थितेन हृदयेन।
स्तनभरवयस्यत्वेन विशुद्ध जातिर्नचलत्यस्या हारः॥]

अर्थ—सन्ताप से व्याकुल हृदय द्वारा बारम्बार मना किये जाने पर भी अति शुद्ध जाति मे उत्पन्न यह मोती का हार दोनों उन्नत स्तन रूपी मित्रों के निकट से नहीं टलता।

अत्र विशुद्धजातित्वलक्षणहेत्वलङ्कारेण हारोऽनवरतं कम्पमान एवास्ते इति ण चलइपदद्योत्यं वस्तु।

यहाँ पर 'विशुद्ध जातिवाला' इस लक्षणरूप हेत्वलंकार से हार निरन्तर काँपता ही रहता है यह वस्तु 'ण चलइ' (टलता नहीं) इस

पद से प्रकाशित होकर व्यञ्जना द्वारा सूचित होती है।

[इसी प्रकरण में अलंकार से अलंकार की व्यक्ति का उदाहरणः—]

सो मुद्धसामलंगो धम्मिलो कलिअललिअणिअदेहो।
तीए खंधाहि बलं गहिअ सरो सुरअसंगरे जअइ॥८७॥[१३]

[छाया—स मुग्धश्यामलाङ्गो धम्मिल्लः कलितललितनिजदेहः।
तस्याः स्कन्धाद्बलं गृहीत्वा स्मरः सुरतसङ्गरे जयति॥]

अर्थ—वह सुन्दर और श्यामल शरीरवाला कामदेव केशपाश रूपी मनोहर देह को प्राप्त होकर उस स्त्री के कंधे से बलग्रहण करके सुरत संग्राम में विजयी होता है।

अत्र रूपकेण मुहमुहुराकर्षणेन तथा केशपाशः स्कन्धयोः प्राप्तः यथा रतिविरतावप्यनिवृत्ताभिलापः कामुकोऽभूदिति खंधपदद्योत्या विभावना। एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः।

यहाँ पर रूपक अलकार द्वारा बार-बार खींचे जाने से कधों पर केशपाश वैसा आन पड़ा कि जिससे रति की समाप्ति हो जाने पर भी कामी पुरुष की अभिलाषा निवृत्त नहीं हुई। यह 'खंधं' पद से प्रकट होनेवाला विभावना नामक अलंकार है। उक्त चारों उदाहरणों में कवि प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध व्यग्य रूप ध्वनि काव्य प्रकट किया गया है।

[पद प्रकाश्य कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध व्यंग्य में वस्तु से वस्तु की व्यञ्जकता का उदाहरणः—]

णवपुण्णिमामिअङ्कस्स सुहअ कोत्तं सि भणसु मह सच्चम्।
का सोहग्गसमग्गा पओसरअणि व्व तुह अज्ज॥८८॥[१४]

[छाया—नवपूर्णिमा मृगाङ्कस्य सुभग! कस्त्वमसि भण मम सत्यम्।
का सौभाग्यसमग्रा प्रदोषरजनीव तवाद्य॥]

अर्थ—हे सुन्दर पुरुष! तुम मुझे सच-सच बताओ कि तुम पूर्णमासी के नवीन चन्द्रमा के संबंध में कौन लगते हो? (मित्र हो, अथवा भाई?) और यह भी बताओ कि सभी प्रकार के सौभाग्य से पूर्ण आज

सायंकाल के समान कौन-सी नायिका तुम्हारी है।

अत्र वस्तुना मयीवान्यस्यामपि प्रथममनुरक्तस्त्वं न तत इति णवेत्यादिपओसेत्यादिपद्द्योत्यं वस्तु व्यज्यते।

यहाँ पर वस्तु से मुझ सरीखी किसी और नायिका से भी आप पहले अनुरक्त थे। और अब भी उससे हटते नहीं हैं यह वस्तु 'नव' इत्यादि और 'पओस' इत्यादि पदों से प्रकाशित होती है।

[उपर्युक्त इसी प्रकार के व्यंग्य मे वस्तु से अलङ्कार की व्यञ्जकता का उदाहरण :—]

सहि णवणिहुवणसमरम्मि अकवालीसहीए णिबिडाए।
हारो णिवारिओ विअ उच्छेरन्तो तदो कहं रमिअम् ॥८९॥ [१५]

[छाया—सखि नवनिधुवनसमरे अङ्कपाली सख्या निविडया।
हारो निवारित एवोच्छ्रियमाणस्ततः कथ रमितम् ॥]

अर्थ—हे सखि! नवीन सुरतरूप युद्ध मे दृढ़ आलिङ्गन रूप सखी ने बीच मे पडनेवाले हार को जब तोड़कर अन्यत्र फेक ही दिया तो बताओ कि फिर व्यवधान रहित दशा मे क्रीड़ा रूप आनन्द की प्राप्ति कैसी हुई।

अत्र वस्तुना हारच्छेदानन्तरमन्यदेव रतमवश्यमभूत् तत्कथय कीदृगिति व्यतिरेकः कहंपदगम्यः।

यहाँ पर वस्तु से हार के टूटने पर अवश्य ही कोई अद्‌भुत आनन्द-दायिनी सुरतक्रीड़ा हुई होगी, उसे बताओ कि कैसे हुई? इस प्रकार व्यतिरेक नामक अलङ्कार 'कहं' (कैसी) इस पद से व्यक्त है।

[इसी प्रकरण में अलङ्कार से वस्तु की व्यञ्जकता का उदाहरण :—]

पविसन्ती घरवारं विअलिअवअणा विलोइऊण पहम्।
खंधे घेत्तूण घडं हा हा णट्ठोति रुअसि सहि किं ति ॥९०॥

[छाया—प्रविशन्ती गृहद्वारं विवलितवदना विलोक्य पन्थानम्।
स्कन्धे गृहीत्वा घटं हा हा नष्ट इति रोदिषि सखि किमिति ॥]

अर्थ—हे सखि ! घर के द्वार में घुसते ही मुँह फेरकर मार्ग को देख कन्धे पर घड़ा लिये ही हाय-हाय घड़ा फूट गया ऐसा कहकर क्यों रोती हो।

अत्र हेत्वलङ्कारेण सङ्केतनिकेतनं गच्छन्तं दृष्ट्वा यदि तत्र गन्तुमिच्छसि तदाऽपरं घटं गृहीत्वा गच्छेति वस्तु किंतिपदद्योत्यम्। यथा वा

यहाँ पर हेतु अलंकार द्वारा संकेत गृह की ओर जाते हुए जार को देखकर यदि तुम वहाँ जाना ही चाहती हो तो दूसरा घड़ा लेकर चली जाओ यह वस्तु 'किति' पद से व्यञ्जित होती है।

[यदि उक्त उदाहरण को स्वतः सम्भवी ही मान लें और कवि निबद्ध वक्तृप्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध न भी मानें तो कोई हानि नहीं।]

[स्पष्टतया पद प्रकाश्य कवि निबद्ध वक्तृप्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध व्यंग्य में अलंकार से वस्तु की व्यञ्जकता का उदाहरणः—]

विहलंखलं तुम सहि दट्ठूण कुडेण तरलतरदिट्ठिम्।
वारप्फंसमिसेण अ अप्पा गुरुओत्ति पाडिअ विहिण्णो ॥ ६१॥ [१६]

[छाया—विश्रृङ्खलां त्वां सखि दृष्ट्वा कुटेन तरलतरदृष्टिम्।
द्वारस्पर्शमिषेण चात्मा गुरुक इति पातयित्वा विभिन्नः ॥]

अर्थ—हे सखि ! अत्यन्त बोझ से व्याकुल परम चञ्चल दृष्टिवाली तुम्हे देखकर अपने को बड़ा भारी और तुम्हारे लिये पीड़ादायक समझ घड़े के द्वार छूने के बहाने से अपने आप को पटक के फोड डाला।

अत्र नदीकूले लतागहने कृतसङ्केतमप्राप्तं गृहप्रवेशावसरे पश्चादागतं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारोपघातव्याजेन बुद्धिपूर्वं व्याकुलतया त्वया घटः स्फोटित इति मया चिन्तितम्, तत्किमिति नाश्वसिषि, तत्समीहितसिद्धये व्रज, अहं ते श्वश्रूनिकटे सर्वं समर्थयिष्ये इति द्वारस्पर्शनव्याजेनेत्यपह्नुत्या वस्तु।

यहा पर नदी के किनारे घने लताकुञ्ज को अपना सङ्केत-स्थल नियत करके वहाँ जार के न पहुँचने पर लौटती हुई घर के भीतर प्रवेश करते समय पीछे से उसे आया देख फिर नदी तक जाने के लिये द्वार

के टक्कर के बहाने से जान बूझ कर घबराई-सी बनकर तुमने घड़े को फोड़ डाला है, यह बात मै समझ गई; परन्तु तुम ढाढस क्यों नहीं बाधती ? तुम अपने कार्य की सिद्धि के लिये जाओ। मैं तुम्हारी सास के सम्मुख सब बाते बनाकर उसका समाधान कर लूँगी, ऐसा 'द्वार स्पर्श के मिष से, इस अपह्नुति अलङ्कार द्वारा वस्तु की व्यञ्जकता सिद्ध होती है।

[पद प्रकाश्य कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध व्यंग्य मे अलङ्कार से अलङ्कार की व्यञ्जकता का उदाहरण :—]

जोह्लाइ महुरसेण अ विइण्णतारुण्ण उस्सुअमणा सा।
बुड्ढावि णवोढव्विअ परहुआ अहह हरइ तुह हिअअम् ॥६२॥[१७]
[छाया—ज्योत्स्नया मधुरसेन च वितीर्णं तारुण्योत्सुकमनाः सा।
वृद्धापि नवोढेव परवधूरहह हरति तव हृदयम् ॥]

अर्थ—[कोई स्त्री अपने उस नायक का उपहास करके कहती है, जो किसी अन्य वृद्ध स्त्री से फँसा हुआ है—] खेद का विषय है कि चादनी, वसन्त ऋतु और मेघ के सेवन से जिस वृद्धा के हृदय में तरुणाई का उमङ्ग आ गया है वह वृद्धा भी दूसरे की नवोढा स्त्री की भाँति तुम्हारे हृदय को अपने वश मे किये हुए है।

अत्र काव्यलिङ्गेन वृद्धां परवधूं त्वमस्मानुज्झित्वाऽभिलाषसीति त्वदीयमाचरितं वक्तु न शक्यमित्याक्षेपः परवहूपदप्रकाश्यः।

यहा पर काव्यलिङ्ग अलङ्कार द्वारा तुम हमे छोड़कर बूढी पराई स्त्री को चाहते हो, यह तुम्हारा आचरण कहने योग्य नहीं है—ऐसा आक्षेप अलङ्ककार 'परवहू' शब्द से प्रकाशित होता है।

एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः। वाक्यप्रकाश्ये तु पूर्वमुदाहृतम्। शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवस्तु पदप्रकाश्यो न भवतीति पञ्चत्रिंशद्भेदाः।

ऊपर प्रदर्शित इन चारो उदाहरणों में पद प्रकाश्य कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध व्यग्य है। जो व्यंग्य वाक्य द्वारा प्रकाशित

होते हैं उनके उदाहरण ऊपर दिखाये जा चुके हैं। शब्द और अर्थ दोनों की शक्ति से उत्पन्न व्यंग्य तो पद प्रकाश्य होता ही नहीं अतएव अठारह प्रकार के वाक्य प्रकाश्य और सत्रह प्रकार के पद प्रकाश्य इस प्रकार सब मिलाकर ध्वनि-काव्य के पैंतीस भेद हुए।

[आगे अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के और भी भेद दिखाये जा रहे हैं।]

(सू० ६०) प्रबन्धेप्यर्थशक्तिभूः ॥४२॥

अर्थ—अर्थ शक्तिमूलक ध्वनि वाक्य तथा पद से प्रकाश्य होने के अतिरिक्त प्रबन्ध के सम्बन्ध से भी प्रकाश्य है।

यथा गृध्रगोमायु संवादादौ

उसका उदाहरण महाभारत के शान्ति पर्व के आपद्धर्म खंड के गृध्र गोमायु संवाद नामक कथा से उद्धृत करके यहाँ लिखा जाता है।

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणि भयङ्करे ॥६३॥
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥६४॥

अर्थ—[सायङ्काल के समय मृत बालक को लेकर श्मशान में आये हुए उसके प्रिय जनों को दिन शेष रहते ही लौटा देने के लिये श्मशान-वासी गृध्र कहता है—] गिद्ध और सियारों से भरे, बहुत-सी ठठरी वाले, घने और सब प्राणियों के लिये भयानक इस श्मशान में अधिक समय तक आप लोगों के ठहरने से क्या लाभ? जो जीव कि मृत्यु को प्राप्त हो चुका है, वह चाहे किसी का प्यारा हो वा शत्रु हो फिर से जी नहीं उठता सभी प्राणियों की ऐसी ही गति होती है।

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरमिदं वचनम्।

उक्त वचन दिन में शक्ति रखनेवाले (दिन मे ही देखनेवाले) गृध्र के कहे हुए हैं, जो चाहता है कि मृत बालक के प्रियजन उसे छोड़कर चले जावें।

[इसके विपरीत सियार इस प्रकार कहता है:—]

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥६५॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥६६॥

अर्थ—हे मूर्खो! देखो अभी आकाश में यह सूर्य विद्यमान है अभी तो स्नेह प्रकट करने ही का अवसर है, अतः इस मृत बच्चे से स्नेह करो। यह मुहूर्त भी बहुत विघ्नों से पूर्ण है अतः यह बालक मृत जान पड़ता है। इस मुहूर्त के टल जाने पर कौन जाने कहीं वह फिर जी उठे? युवावस्था को न पहुँचे हुए, सुवर्ण के समान गौर वर्णवाले इस बालक को गृध्र का वाक्य सुन क्यों बेखटके यहीं छोडकर चले जाते हो अरे! तुम लोग निरे गोबरगणेश ही जान पडते हो!

इति निशि विजृम्भमाणस्य गोमायोर्जनव्यावर्त्तननिष्ठं च वचनमिति प्रबन्ध एव प्रथते। अन्ये त्वेकादश भेदा ग्रन्थविस्तरभयान्नोदाहृताः स्वयन्तु लक्षणतोऽनुसर्त्तव्याः। अपशिब्दात्पदवाक्ययोः।

ये वचन रात्रि में शक्ति विशिष्ट होनेवाले शृगाल के हैं, जो चाहता है कि अभी मृतक के प्रियजन श्मशानभूमि को छोडकर न जाँय।

इस प्रकार के व्यंग्य अर्थ प्रबन्ध ही के अनुसार प्रकट होते हैं। उक्त उदाहरण प्रबन्ध प्रकाश्य स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तु की व्यञ्जकता का है। ऐसे ही प्रबन्ध प्रकाश्य के ग्यारह प्रकार के और भी उदाहरण हो सकते हैं जो कि ग्रथ के अधिक विस्तार के भय से यहाँ पर नहीं दिखलाये गये। लक्षणों के द्वारा अपने आप उनका पता लगा लिया जा सकता है।

मूलकारिका मे जो 'अपि' (भी) शब्द आया है उसका तात्पर्य यह है कि अर्थ शक्तिमूलक ध्वनि काव्य पद प्रकाश्य और वाक्य प्रकाश्य तो होते ही हैं, जिनके उदाहरण ऊपर दिखलाये जा चुके हैं, उनके अतिरिक्त प्रबन्ध प्रकाश्य भी होते हैं जिसका कि उदाहरण ऊपर दिखाया गया है।

[अब आगे ग्रन्थकार कहते हैं—]

(सू० ६१) पदैकदेशरचना वर्णेष्वपि रसादयः ।

अर्थ—पद के (सुबन्त, तिङन्त) प्रकृति, प्रत्यय और उपसर्ग रूप तीनों भागों तथा गौड़ी, पाञ्चाली और वैदर्भी इन तीनों रचनाओं और वर्णों (क ख इत्यादि) से भी रस आदित (रसभास, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलत्व—ये अलक्ष्यक्रम व्यग्य-वाले) की व्यञ्जकता होती है ।

तत्र प्रकृत्या यथा

[पद के एक भाग में धातु रूप प्रकृति की व्यञ्जकता का उदाहरण—]

रइकेलिहिअणिअसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वईपरिचुम्बिअं जअइ ॥६७॥

[छाया—रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥]

अर्थ—रतिक्रीड़ा के समय महादेव जी के द्वारा वस्त्र हर लिये जाने के कारण नङ्गी की गई पार्वती ने जब अपने दोनों हाथों से (पति की) दोनों आँखों को ढँक लिया तब तीसरे ललाट लोचन को (मूँदने का कोई अन्य उपाय न देख) चूम लिया । महादेव जी की वह (तीसरी) आँख विजयी (सर्वोत्कृष्ट) है ।

अत्र जयतीति न तु शोभत इत्यादि । समानेऽपि हि स्थगनव्यापारे लोकोत्तरेणैव व्यापारेणास्य पिधानमिति तदेवोत्कृष्टम् । यथा वा

यहाँ पर जयति (विजयी वा सर्वोत्कृष्ट है) यह क्रिया पद आया है । शोभते (विराजमान है) ऐसा नहीं कहा । यद्यपि आँखों का मूँदना रूपी व्यापार तो तीनों मे था तथापि तीसरी आँख से, जो चुम्बनरूप अद्भुत व्यापार द्वारा मूँद ली गई यही शेष दोनों आँखों की अपेक्षा उसकी उत्कृष्टता है ।

[पद के एक भाग मे नामरूप प्रकृति की व्यञ्जकता का उदाहरणः—]

प्रेयान्सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद्यावन्नयात्युन्मनाः।
तावत्प्रत्युत पाणिसम्पुटगलन्नीवीनिबन्धं धृता
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ॥६८॥

अर्थ—वह प्यारा नायक जब शपथपूर्वक नायिका के चरणों पर गिरा और फिर भी नायिका ने उसका अनादर किया तो जब तक वह उदास होकर घर से दो-तीन पग भी आगे न जाने पाया कि तब तक नायिका ने दौडकर हाथ जोड़ प्रणामकर उसे पकड लिया। इस बीच मे नायिका की नीवी (फूफुदी) खुली जा रही थी जिसे वह अपने हाथ से सँभाले हुए थी। अहो! प्रेम की गति विचित्र होती है।

अत्र पदानीति न तु द्वाराणीति। तिङ्सुपोर्यथा

यहाँ पर 'पदानि' (पगों) ऐसा कहा है न 'द्वाराणि' (द्वारों तक) लिखा। 'द्वाराणि' को छोड 'पदानि' कथन का यह भाव है कि नायिका नायक के द्वार तक पहुँचने के विलम्ब को सह नहीं सकती थी। इससे उस नायिका के औत्सुक्य की विशेषता प्रकट होती है। प्रत्ययरूप पद के एक भाग में सुप् (सज्ञा सम्बन्धी) और तिप् (क्रिया सम्बन्धी) विभक्तियों की व्यञ्जकता का उदाहरण :—

पथि पथि शुकचञ्चूचारुराभाङ्कुराणां
दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च।
नरि नरि किरति द्राक् सायकान्पुष्पधन्वा
पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा ॥६९॥

अर्थ—मार्ग के प्रत्येक भाग मे नये उगे हुए अङ्कुर सुग्गो की चोच के समान मनोहर दिखाई पडते हैं और प्रत्येक दिशाओ मे लताओ को नचानेवाली हवा भी बह रही है। कामदेव भी प्रत्येक मनुष्य पर शीघ्र ही बाण प्रहार कर रहा है तथा प्रत्येक नगर मे

मानिनी स्त्रियों के मान धारण की चर्चा मिटी।

अत्र किरतीति किरक्षस्य साध्यमानत्वम्। निवृत्तेति निवर्त्तनस्य सिद्धत्वं। तिङा सुपा च तत्रापि क्तप्रत्ययेनाऽतीतत्वं द्योत्यते।

यहाँ पर 'किरति' इस क्रिया पद के किरण फेंकने रूप व्यापार की सिद्धि है और निवृत्ता इस पद से निवृत्त (मिटी) हुई यह बात भी सिद्ध है। 'किरति' में तिङ् किया की विभक्ति और विनिवृत्ता मे क्त प्रत्ययान्त प्रातिपदिक मे सुप् (संज्ञा की) विभक्ति लगी है। क्त प्रत्यय से अतीत काल का बोध भी भली भाँति व्यक्त है।

यथा वा

सुप् और तिङ् सम्बन्धी एक और उदाहरण :—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितः
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकैः
तवावस्था चेयं विसृज कठिने! मानमधुना ॥१००॥

अर्थ—प्राण प्यारा तो घर के बाहर बैठा सिर झुकाये भूमि पर कुछ लिख रहा है और उपवास करनेवाली सखियों की आँखे निरन्तर रोते रहने से सूज उठी हैं, पिंजरे मे बन्द सुग्गों ने भी हँसना और पढ़ना छोड़ दिया और तुम्हारी यह अवस्था हो गई। हे कठोर चित्त-वाली नायिका! अब तो तू अपना मान छोड़ दे।

अत्र लिखन्निति न तु लिखतीति तथा आस्ते इति न त्वासित इति अपि तु प्रसादपर्यन्तमास्ते इति भूमिमिति न तु भूमाविति न हि बुद्धि-पूर्वकमपरं किञ्चिल्लिखतीति तिङ्सुब्विभक्तीनां व्यङ्ग्यम्। सम्बन्धस्य यथा—

यहाँ पर 'लिखन्' (लिखता हुआ) न कि 'लिखति' (लिखता है) और 'आस्ते' (है) है। न कि क्रिया समाप्ति द्योतक 'आसीत्' (था) यह पद है। तात्पर्य यह कि जब तक तुम (नायिका) मान परित्याग करके प्रसन्न न हो जाओगी तब तक ऐसा ही व्यापार चलता रहेगा। और

यहाँ पर 'भूमिं' (पृथ्वी को) ऐसा कहा है और 'भूमौ' (पृथ्वी पर) ऐसा नहीं कहा, इससे यह भाव टपकता है कि कुछ समझ बूझ कर नहीं लिख रहा है—ये बातें सुप् और तिङ् विभक्तियों द्वारा स्पष्ट सूचित हो रही हैं।

[पद के एक देश में षष्ठी विभक्ति की व्यञ्जकता का उदाहरण:—]

गामारुहम्मि गामे वसामि णअरट्ठिइं ण जाणामि।
णअरिआणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि ॥१०१॥

[छाया—ग्रामरुहास्मि ग्रामे वसामि नगरस्थितिं न जानामि।
नागरिकाणाँ पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि ॥

अर्थ—[हमारे कलह-काल मे तुम कौन हो? ऐसा आक्षेप करनेवाली किसी नगर वासिनी स्त्री से कोई ग्रामवासिनी स्त्री इस प्रकार कहती है—] मैं गाँव में जन्मी हूँ, गाँव ही में बसती हूँ, मुझे नगर मे बसना नहीं आता। परन्तु नगर-वासिनी स्त्रियों के पतियों को मै अपने वश में कर लेने का सामर्थ्य रखती हूँ। और जो कुछ मै हूँ सो तो हूँ ही।

अत्र नागरिकाणामिति षष्ठ्याः।

यहाँ पर 'नागरिकाणा' (नगर वासिनी स्त्रियों के) इसी षष्ठी विभक्ति द्वारा 'षष्ठी चानादरे' इस पाणिनि सूत्र के अनुसार वक्री (कहनेवाली स्त्री) (ग्रामीण होकर भी) अपने अत्यन्त चतुराई के व्यापार को व्यक्त कर रही है।

[पद के एक भाग में काल के व्यत्यय का उदाहरण :—]

'रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीत्'इति कालस्य। एषा हि भग्नमहेश्वरकार्मुकं दाशरथिं प्रति कुपितस्य भार्गवस्योक्तिः।

'यह क्षत्रियकुमार तो बहुत सुन्दर था। यहाँ भूतकाल की क्रिया 'आसीत्' में वर्तमानकाल की क्रिया की व्यञ्जकता है। महादेव जी के धनुष तोड़े जाने पर क्रुद्ध होकर परशुराम जी ने श्रीरामचन्द्र जी के

उद्देश्य से उक्त वाक्य कहा था।

वचनस्य यथा

[वचन की व्यञ्जकता का उदाहरण—]

ताणं गुणग्गहणाणं ताणं उक्कंठाणं तस्स पेम्मस्स।
ताणं भणिआणं सुन्दर एरिसिअं जाअमवसाणम् ॥१०२॥

[छाया—तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः।
तासां भणितीनां सुन्दर ! ईदृशं जातमवसानम् ॥]

अर्थ—हे सुन्दर नायक ! वैसी गुणग्राहिता का, वैसी उत्सुकता का, उस प्रकार के प्रेम का तथा वैसी चाटु भरी उक्तियों का अब यह परिणाम हुआ !

अत्र गुणग्रहणादीनां बहुत्वं प्रेम्णश्चैकत्वं द्योत्यते।

यहाँ पर गुण ग्रहणादि का बहुत्व तथा प्रेम का एकत्व 'सुप्' विभक्तियों द्वारा स्पष्ट होता है।

पुरुषव्यत्ययस्य यथा—

[पुरुष व्यत्यय की व्यञ्जकता का उदाहरण—]

रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे चेतः प्रमुच्य स्थिर-
प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि।
किं मन्ये विहरिष्यसेबत हतां मुञ्चान्तराशामिमा-
मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारांनिधौ ॥१०३।

अर्थ—[कोई शान्तचित वैरागी अपने आपको मन ही मन धिकारता और हँसता हुआ कहता है—] हे चञ्चल नेत्रवाली कामिनी में रुचि रखने वाले मेरे मन ! तुम निश्चल प्रेम के बड़प्पन से युक्त विरक्तावस्था को छोड़कर इस मृगनयनी को देख क्यों नाच रहे हो ? क्या तुम समझते हो कि हम इसके साथ विहार करेंगे ? अरे ! इस दुराशा को छोड़ो। संसार रूप समुद्र में तैरते समय तुमने तो अपने गले में यह पत्थर की पटिया बांध रखी है।

अत्र प्रहासः।

यहाँ पर 'त्वं मन्ये, अह विहरिष्यसे' ऐसा न कहकर 'त्वं मन्यसे अह विहरिष्ये' ऐसा वाक्य कहना चाहिये था; किन्तु 'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च' (१।४। १०६) पाणिनि रचित अष्टाध्यायी के सूत्रानुसार पुरुष का व्यत्यय अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष का और प्रथम पुरुष के स्थान मे मध्यम पुरुष का प्रयोग हुआ है और यह पुरुष व्यत्यय प्रहास के भाव को व्यक्त करता है।

पूर्व निपातस्य यथा—

[पूर्व निपात की व्यञ्जकता का उदाहरण :—]

येषां दोर्बलमेव दुर्बलतया ते सम्मताः तैरपि
प्रायः केवल नीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुर्वीश्वरैः।
ये क्ष्माशक्र पुनः पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा
स्ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥१०४॥

अर्थ—[कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा में कहता है—] हे पृथ्वीतल के इन्द्र! जिन राजाओं के पास केवल भुजा ही का बल है (नीति का नहीं) वे दुर्बल ही माने जाते हैं। उन राजाओं के द्वारा भी लोगों की इष्टसिद्धि नही हो सकती जो केवल नीति शास्त्र ही के भरोसे रहते हैं। परन्तु जो राजा लोग पराक्रम और नीति दोनों को अंगीकार कर उत्तम क्रम से चलनेवाले हैं—ऐसे आप के समान पवित्र प्रशंसा-भाजन त्रिभुवन मे कदाचित् दो वा तीन ही होंगे, अधिक नहीं।

अत्र पराक्रमस्य प्राधान्यमवगम्यते।

इस श्लोक में 'पराक्रम नय' वाक्यांश में 'नय' शब्द में अल्पाच्तर (स्वर वर्णों की न्यूनता) होने के कारण 'अल्पाच्तरम्' (२।२।३४) इस पाणिनि विरचित अष्टाध्यायी के सूत्र द्वारा उसे पूर्व रखना चाहिये था जिससे 'नय पराक्रम' वाक्यांश व्युत्पन्न होता; किन्तु 'पराक्रम' पद के 'अभ्यर्हित' (श्रेष्ठ) होने के कारण 'अभ्यर्हितञ्च' इस वररुचि विरचित वार्तिक के द्वारा उसका पूर्व निपात हुआ। अतः 'पराक्रम' पद

उद्देश्य से उक्त वाक्य कहा था।

वचनस्य यथा

[वचन की व्यञ्जकता का उदाहरण—]

ताणं गुणग्गहणाणं ताणं उक्कंठाणं तस्स पेम्मस्स ।
ताणं भणिआणं सुन्दर एरिसिअं जाअमवसाणम् ॥१०२॥

[छाया—तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः ।
तासां भणितीनां सुन्दर! ईदृशं जातमवसानम् ॥]

अर्थ—हे सुन्दर नायक! वैसी गुणग्राहिता का, वैसी उत्सुकता का, उस प्रकार के प्रेम का तथा वैसी चाटु भरी उक्तियों का अब यह परिणाम हुआ!

अत्र गुणग्रहणादीनां बहुत्वं प्रेम्णश्चैकत्वं द्योत्यते।

यहाँ पर गुण ग्रहणादि का बहुत्व तथा प्रेम का एकत्व 'सुप्' विभक्तियों द्वारा स्पष्ट होता है।

पुरुषव्यत्ययस्य यथा—

[पुरुष व्यत्यय की व्यञ्जकता का उदाहरण—]

रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे चेतः प्रमुच्य स्थिर-
प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि।
किं मन्ये विहरिष्यसेबत हतां मुञ्चान्तराशामिमा-
मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारांनिधौ ॥१०३।

अर्थ—[कोई शान्तचित वैरागी अपने आपको मन ही मन धिक्कारता और हँसता हुआ कहता है—] हे चञ्चल नेत्रवाली कामिनी में रुचि रखने वाले मेरे मन! तुम निश्चल प्रेम के बड़प्पन से युक्त विरक्तावस्था को छोड़कर इस मृगनयनी को देख क्यों नाच रहे हो? क्या तुम समझते हो कि हम इसके साथ विहार करेंगे? अरे! इस दुराशा को छोड़ो। संसार रूप समुद्र में तैरते समय तुमने तो अपने गले में यह पत्थर की पटिया बाँध रखी है।

अत्र प्रहासः।

यहाँ पर 'त्वं मन्ये, अहं विहरिष्यसे' ऐसा न कहकर 'त्वं मन्यसे अहं विहरिष्ये' ऐसा वाक्य कहना चाहिये था; किन्तु 'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च' (१।४।१०६) पाणिनि रचित अष्टाध्यायी के सूत्रानुसार पुरुष का व्यत्यय अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष का और प्रथम पुरुष के स्थान में मध्यम पुरुष का प्रयोग हुआ है और यह पुरुष व्यत्यय प्रहास के भाव को व्यक्त करता है।

पूर्व निपातस्य यथा—

[पूर्व निपात की व्यञ्जकता का उदाहरण :—]

येषां दोर्बलमेव दुर्बलतया ते सम्मताः तैरपि
प्रायः केवल नीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुर्वीश्वरैः।
ये क्ष्माशक्र पुनः पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा
स्ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥१०४॥

अर्थ—[कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा में कहता है—] हे पृथ्वीतल के इन्द्र! जिन राजाओं के पास केवल भुजा ही का बल है (नीति का नहीं) वे दुर्बल ही माने जाते हैं। उन राजाओं के द्वारा भी लोगों की इष्टसिद्धि नहीं हो सकती जो केवल नीति शास्त्र ही के भरोसे रहते हैं। परन्तु जो राजा लोग पराक्रम और नीति दोनों को अंगीकार कर उत्तम क्रम से चलनेवाले हैं—ऐसे आप के समान पवित्र प्रशंसा-भाजन त्रिभुवन में कदाचित् दो वा तीन ही होंगे, अधिक नहीं।

अत्र पराक्रमस्य प्राधान्यमवगम्यते।

इस श्लोक में 'पराक्रम नय' वाक्यांश में 'नय' शब्द में अल्पाच्तर (स्वर वर्णों की न्यूनता) होने के कारण 'अल्पाच्तरम्' (२।२।३४) इस पाणिनि विरचित अष्टाध्यायी के सूत्र द्वारा उसे पूर्व रखना चाहिये था जिससे 'नय पराक्रम' वाक्यांश व्युत्पन्न होता; किन्तु 'पराक्रम' पद के 'अभ्यर्हित' (श्रेष्ठ) होने के कारण 'अभ्यर्हितञ्च' इस वररुचि विरचित वार्तिक के द्वारा उसका पूर्व निपात हुआ। अतः 'पराक्रम' पद

की प्रधानता व्यक्त हुई।

विभक्तिविशेषस्य यथा—

[विभक्ति विशेष की व्यञ्जकता का उदाहरण :—]

प्रधनाध्वनि धीरधनुर्ध्वनिभृति विधिरैरयोधितव दिवसम्।
दिवसेन तु नरप भवानयुद्ध विधिसिद्धसाधुवादपदम् ॥१०५॥

अर्थ—हे राजन्! वीरों के धनुष की गम्भीर टङ्कार से पूर्ण युद्ध के स्थल में आपके वैरी लोग दिन भर लड़ते ही रह गये (विजय नहीं प्राप्त कर सके) फिर भी आप से पार नहीं पा सके। किन्तु ब्रह्मा और सिद्ध-गणों से वाह-वाह की ध्वनि द्वारा प्रशंसित आपने एक ही दिन मे युद्ध समाप्त कर दिया और विजय प्राप्त कर ली।

अत्र दिवसेनेत्यपवर्गतृतीया फलप्राप्तिं द्योतयति।

यहाँ पर 'दिवसेन' (एक ही दिन में) यह पद 'अपवर्गे तृतीया' (२।३।६) इस पाणिनी सूत्र के अनुसार कार्य की समाप्ति का प्रकाशक है।

[क रूप तद्धित प्रत्यय द्वारा प्रकृति के एक भाग की व्यञ्जकता का उदाहरण :—]

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठाललितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥१०६॥

अर्थ—घर में अँटारी की ऊँची खिड़की पर बैठकर रति के समान सुन्दरी मालती नामक नायिका साक्षात् कामदेव के समान सुन्दर नायक को बारबार निकट की गली में घूमते हुए देखकर प्रबल उत्कण्ठायुक्त हो, बहुत ही मुरझाये हुए दया के योग्य शरीरावयवों से दुबली होती हुई चली जाती है।

अत्रानुकम्पावृत्तेः करूपतद्धितस्य।

यहाँ पर 'अङ्गकैः' (दया योग्य शरीरावयवों द्वारा) पद में जो "क"

रूप तद्धित प्रत्यय है वह अनुकम्पा (करुणा) योग्य दशा को प्रकट करता है।

[उपसर्ग रूप प्रकृति के एक देश की व्यञ्जकता का उदाहरण:—]

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान्।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥१०७॥

अर्थ—[मालती माधव नाटक में माधव नामक नायक अपने मित्र मकरन्द से अपनी अवस्था का वर्णन करता है—] कोई अद्भुत विकार जिसके परिणाम वा समाप्ति का कुछ ठिकाना नहीं है, सब प्रकार के कथनों से भी जिसका निरूपण नहीं हो सकता, जो कभी जन्मान्तर में भी हमारे अनुभव-पथ में अवतीर्ण नहीं हुआ, जो विवेक को भली भाँति नष्ट करके महामोह को बढ़ाकर दुर्लङ्घ्य हो गया है, वह अनिर्वचनीय कामज विकार मेरे अन्तःकरण को मोहित करता है और पीड़ा उत्पन्न करता है।

अत्र प्रशब्दस्योपसर्गस्य।

यहाँ पर 'प्रध्वंस' शब्द में 'प्र' उपसर्ग समूल विवेक का नाशक ऐसे भाव को व्यक्त करता है।

[निपातरूप पद के एक देश की व्यञ्जकता का उदाहरण :—]

कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विषः।
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम् ॥१०८॥

अर्थ—[किसी राजा से उसका मन्त्री कहता है—] हे महाराज! आपने जैसे ही अहङ्कार की ओर मुख फेरा (ध्यान दिया) वैसे ही हमारे शत्रु मार डाले गये अँधेरा तभी तक ठहरता है जब तक कि सूर्य उदयाचल की चोटी पर नहीं पहुँच पाता है।

अत्र तुल्ययोगिताद्योतकस्य 'च' इति निपातस्य।

यहाँ पर तुल्ययोगितालङ्कार सूचक 'च' इस निपात मे व्यञ्जकता है।

[अनेक प्रकृति प्रत्यय रूप पदैकदेश की व्यञ्जकता का उदाहरणः—]

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि पुनर्देवो न जानाति तम्।
वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहति—
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥१०९॥

अर्थ—[विभीषण रावण को समझाता हुआ कहता है:—] हे देव ! ये श्री रामचन्द्र जी अपनी वीरता के गुणों से चौदहों भुवन में बड़ी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं; परन्तु यदि महाराज उन्हें नहीं जानते हैं तो हम लोगों का भाग्य ही विपरीत है। रामचन्द्र जी तो वे हैं जिन्होंने एक ही बाण के प्रहार से पंक्ति में स्थित बड़े-बड़े ताड़ के वृक्षों मे क्रमशः सात छेद कर दिये और उन सातों छेदों से निकलने वाले सातो स्वरों द्वारा वायु भी वैतालिक के समान उन्हीं की कीर्ति गाया करता है।

अत्रासाविति भुवनेष्विति गुणैरिति सर्वनामप्रातिपदिकवचनानां न त्वदिति न मदिति अपि तु अस्मदित्यस्य सर्वाक्षेपिणः भाग्यविपर्ययादित्यन्यथासंपत्तिमुखेन न स्वभावमुखेनाभिधानस्य।

यहाँ पर 'असौ' (ये) ऐसे सर्वनाम की 'भुवनेषु' (चौदहों भुवन में) इस प्रातिपदिक की, और 'गुणैः' (गुणों से) इन पदों में बहुवचन की व्यञ्जकता है। 'तेरा नहीं' 'मेरा नहीं', किन्तु 'हम लोगों का' यह शब्द सब पर आक्षेप बोध कराता है, 'भाग्य विपर्यय' इस शब्द से प्रकारान्तर की सम्पत्ति (मोक्ष) द्वारा अभावरूप विनाश के अनुल्लेख की भी व्यञ्जकता सिद्ध होती है।

[अनेक प्रकृति प्रत्ययादि पदैकदेश की व्यञ्जकता का शृंगाररस में उदाहरणः—]

तरुणिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे।
अधिवसति सकललजनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ॥११०॥

अर्थ—भयभीत मृग के समान चञ्चल नेत्रों वाली यह नायिका सब सुन्दरी स्त्रियों की शिरोभूषण हो जाती हैं, जब कि तरुणावस्था की कलाओं को सींचती और भौहो को कामदेव के धनुष के समीप रखकर उसके व्यापारों की शिक्षा प्राप्त करती है।

अत्र इमनिजव्ययीभावकर्मभूताधाराणां स्वरूपस्य तरुणत्वे इति धनुषः समीपे इति मौलौ वसतीति त्वादिभिस्तुल्ये एषां वाचकत्वे अस्ति कश्चित्स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारी स एव व्यञ्जकत्वं प्राप्नोति।

यहाँ पर 'तरुणिमनि' (युवावस्था में) इस पद मे इमनिच् प्रत्यय की, 'अनुमदन धनुः' (कामदेव के धनुष के समीप) इस पद में अव्ययी भाव समास की और 'मौलिम्' (शिर पर) इस पद में कर्मभूत आधार रूप स्वरूप की क्रमशः व्यञ्जकता है। यद्यपि 'तरुणिमनि' तरुणत्व में, 'अनुमदनधनुः' मदनधनु के समीप में, और 'मौलि' मौलि पर, इन सब उदाहरणों मे 'त्व' इत्यादि के साथ वाचकत्व की तुल्यता अवश्य है; तथापि 'तरुणिमनि' आदि में तरुणत्व मे आदि की अपेक्षा कोई स्वरूप की विशेषता है ही, जिससे चमत्कार उत्पन्न होता है। उसी के द्वारा इन प्रत्ययो में भी व्यञ्जकता प्राप्त होती है।

एवमन्येषामपि बोद्धव्यम्।

इसी प्रकार पदैकदेश आदि और प्रकृति प्रत्यय आदि की व्यञ्जकता को भी समझ लेना चाहिये।

वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूपनिरूपणे उदाहरिष्यते। अपि-शब्दात्प्रबन्धेषु नाटकादिषु।

वर्णों और रचनाओ की व्यञ्जकता काव्य के गुण और स्वरूप के निरूपण के प्रकरण मे (अष्टम उल्लास में) उदाहरण देकर प्रदर्शित की जायेगी। ऊपर की कारिका में जो 'वर्णेष्वपि' ऐसा कहा गया है पर, अपि (भी) शब्द से तात्पर्य प्रबन्धों और नाटकादिकों से है।

एवं रसादीनां पूर्वगणितभेदाभ्यां सह षड्भेदाः।

इस प्रकार रसादिक के पूर्व में गिनाये गये भेदों सहित छः भेद

(अर्थात् वाक्य, पद, पद के एक देश, रचना, वर्ण और प्रबन्ध में प्रकट होने वाले) होते हैं। इस प्रकार—

(सू० ६२) भेदास्तदेकपञ्चाशत्

वे सब भेद मिलकर संख्या मे इक्यावन होते हैं।

व्याख्यातः

इन भेदों का निरूपण ऊपर किया जा चुका है।

[अविवक्षित वाच्य के अर्थान्तर सक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत (वाच्य) नामक दो भेद हुए। ये दोनों पदगत और वाक्यगत भी होते हैं। अतएव अविवक्षित वाच्य के चार भेद हुए। विवक्षितान्यपर वाच्य रूप असलक्ष्यक्रम व्यंग्य के पद प्रकाश्य, वाक्य-प्रकाश्य, पदैकदेश-प्रकाश्य, रचना-प्रकाश्य, वर्ण-प्रकाश्य और प्रबन्ध-प्रकाश्य —ये सब मिला कर छः भेद हुए। अब संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के इकतालीस भेद इस प्रकार गिने जाते हैं। शब्द शक्तिमूलक व्यंग्य के पदगत वस्तु, पदगत अलङ्कार, वाक्यगत वस्तु और वाक्यगत अलङ्कार यों चार भेद हुए। अर्थ-शक्तिमूलक व्यंग्य के स्वतःसम्भवी, कवि प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध और कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध—ये तीनों भेद वस्तु व अलङ्कार के भेद छः प्रकार के हुए। उनमें से प्रत्येक के वस्तु वा अलङ्कार के व्यंजक होने के कारण सब मिलाकर बारह प्रकार के हुए। ये बारहों फिर पद-गत, वाक्यगत और प्रबन्धगत होने के कारण छत्तीस प्रकार के हुए। शब्द और अर्थ उभयशक्तिमूलक व्यंग्य तो एक ही प्रकार का (अर्थात् वाक्य गत मात्र) होता है। इसके पदगत आदि भेद नहीं होते। इस प्रकार सब मिलाकर संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के इकतालीस भेद हुए। इनमें ऊपरवाले दस भेद और मिलाने से ध्वनिकाव्य के कुल इक्यावन भेद हो गये।]

[ध्वनिकाव्य के विभिन्न भेदों के परस्पर संमिश्रण से जो और भी कई एक भेद हो सकते हैं उनका भी निरूपण किया जाता है।]

(सू० ६३) तेषामन्योन्ययोजने ॥४३॥

सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया।

अर्थ—इन भेदों के परस्पर मिलाने और तीन प्रकार के सङ्कर तथा एक प्रकार की ससृष्टि के मिलाने से (परस्पर गुणन कर देने से) और भी अनेक भेद हो जाते हैं।

न केवलं शुद्धा एवैकपञ्चाशद्भेदा भवन्ति यावत्तेषां स्वप्रभेदैरेकपञ्चाशता संशयास्पदत्वेनानुग्राह्यानुग्राहकतयैकव्यंजकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधेन सकरेण परस्परनिरपेक्षरूपयैकप्रकारया संसृष्ट्या चेति चतुर्भिगुणने।

मूलकारिका का अर्थ स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि केवल शुद्ध इक्यावन ही भेद नहीं होते, किन्तु इन इक्यावन भेदों के साथ तीन प्रकार के सङ्कर अर्थात् (१) सशयास्पदत्व (जहाँ दो व्यंग्यों में से कौन प्रधान है इसका निर्णय न हो सके) (२) अनुग्राह्यानुग्राहकता (जहाँ दो व्यग्यों मे अङ्गाङ्गिभावहो (अर्थात् एक प्रधान और दूसरा अप्रधान हो) (३) एकव्यञ्जकानुप्रवेश) (जहाँ पर एक ही व्यग्य अर्थ की सिद्धि के लिये दो व्यंग्य उपयुक्त हुए हों) और (४) परस्पर निरपेक्ष रूप एक प्रकार की संसृष्टि (तिल तण्डुल की भाँति ऐसा संमिश्रण कि दोनों व्यग्य विलग विलग स्पष्ट दिखाई पड़ें अथवा दोनों की समप्रधानता हो)। इन चारों भेदों के परस्पर समिश्रण व गुणन करने से—

(सू० ६४) वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (१०४०४)

अर्थ—वेद (४) ख (०) अब्धि (४) वियत् (०) और चन्द्र (१) सख्यक अर्थात् 'अङ्काना वामतोगतिः' के अनुसार १०४०४ भेद हो जाते हैं।

शुद्धभेदैः सह

और इन्हें भी फिर शुद्ध भेद के साथ जोड़ देने से

(सू० ६५) शरेषुयुगखेन्दवः (१०४५५) ॥४४॥

अर्थ—शर (५) इषु (५) युग (४) ख (०) और इन्दु (१) अर्थात् १०४५५ भेद होते हैं।

तत्र दिङ्मात्रमुदाहियते ।

उनमें से केवल दिग्दर्शनार्थ कुछ उदाहरण यहाँ दिखाये जाते हैं।

[सन्देह विशिष्ट दो प्रकार की ध्वनि के सङ्कर का उदाहरण :—]

खणपाहुणिआ देअर जाआए सुहअ किंपि दे भणिआ ।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई ॥१११॥

[छाया—क्षणप्राघुणिका देवर ! जायया सुभग किमपि ते भणिता ।
रोदिति गृहपश्चाद्भागवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी ॥]

अर्थ—भौजाई कहती है कि हे देवर ! क्षण भर के लिये तुम्हारे यहाँ पाहुन बनकर आई उस स्त्री से तुम्हारी पत्नी ने न जाने क्या कह दिया कि वह दुःखी होकर घर के पिछवाड़े वाले छज्जे पर बैठी रो रही रही है। उस बिचारी को जाकर मनाओ ।

अत्रानुनयः किमुपभोगलक्षणेऽर्थान्तरे संक्रमितः किमनुरणनन्यायेनोपभोगे एव व्यंग्ये व्यञ्जक इति सन्देहः ।

यहाँ पर अनुनय (मनाना) यह शब्द लक्षणा से उपभोग रूप अर्थान्तर में संक्रमित है ? अथवा अनुरणन की रीति से स्वयं व्यञ्जक बनकर उपभोग रूप अर्थ मे परिणत होता है ? यह सन्देह विशिष्ट है।

[अनुग्राह्यानुग्राहक तथा एक व्यञ्जकानुप्रवेश रूप सङ्कर और एक प्रकार की संसृष्टि के सम्मिश्रित भेद का उदाहरण :—]

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथंभविष्यति ह हा हा देवि ! धीरा भव ॥११२॥

अर्थ—चिकने और काले रङ्ग की चमक वाले बादल, जिसमें बगुलों की पाँति खेल रही है, आकाश में भले छाये रहें। जल बिन्दु से भरे पवन के ठण्ढे-ठण्ढे झोंके भी मनमाने बहते चलें। आनन्द-पूर्वक कूक मचाने वाले मेघों के मित्र मयूरगण भी भले ही कूकें। मैं तो कठोर चित्त राम हूँ, सब कुछ सह लूँगा; परन्तु हाय ! मेरी प्यारी

सीता की क्या दशा होती होगी ? हे प्यारी ! तुम ऐसी स्थिति में धैर्य धारण करो।

अत्र लिप्तेति पयोदसुहृदामिति च अत्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोः संसृष्टिः। ताभ्यां सह रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्यानुग्राह्यानुग्राहकभावेन रामपदलक्षणैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चार्थान्तरसंक्रमितवाच्यरसध्वन्योः सङ्करः। एवमन्यदप्युदाहार्यम्।

यहाँ पर 'लिप्त' (छाये हुए) और 'पयोदसुहृदा' (मेघों के मित्रों का) ये दोनों शब्द अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य हैं। क्योंकि अमूर्त आकाश में द्रव पदार्थ के सयोग से प्रस्तुत किसी वस्तु से लेपन रूपी क्रिया का होना सम्भव नहीं। अतएव छाये रहना ऐसा अर्थान्तर स्वीकार करना पड़ता है। इसी प्रकार निर्जीव पदार्थरूप मेघों के साथ मयूरों की मित्रता भी असम्भव है। इसलिये सुखदायक ऐसा अर्थान्तर ग्रहण करना पड़ता है। परस्पर स्वतन्त्र भाव से मिलित होने के कारण यहाँ पर इन दोनों ('लिप्त' और 'पयोदसुहृदां' में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यों) की संसृष्टि है। इन दोनों अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यों के साथ 'रामोऽस्मि' (मैं राम हूँ) इस अर्थान्तर सक्रमित वाच्य का अनुग्राह्यानुग्राहक भाव (अङ्गाङ्गिभाव) से सङ्कर है। तथा राम शब्द से लक्षणा द्वारा एक व्यञ्जकतानुप्रवेश समेत अर्थान्तर सक्रमित वाच्य का विप्रलम्भ शृङ्गाररस तथा राम शब्द के अर्थान्तर (कठोर चित्त और दुःख सहिष्णुता आदि) रूप ध्वनि का समिश्रण भी है।

इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं।

पञ्चम उल्लास

एवं ध्वनौ निर्णीते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य भेदानाह—

इस प्रकार ध्वनि काव्य का निर्णय कर चुकने पर अब गुणीभूत व्यङ्ग (मध्यम काव्य) के भेदों के प्रदर्शनार्थ ग्रन्थकार कहते हैं—

(सू० ६६) अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥४५॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।

अर्थ—गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद स्मरण किये गये हैं । जैसे—(१) अगूढ (जिसे असहृदय जन भी अनायास जान सकें), (२) अपराङ्ग (पराये का अङ्ग अर्थात् उपकारक) (३) वाच्यसिद्ध्यंग (जिसके अधीन वाच्य अर्थ की सिद्धि हो उसका कारण), (४) अस्फुट (जिसे सहृदय लोग भी कठिनाई से समझ सकें), (५) सन्दिग्ध प्राधान्य (जहाँ पर इस बात का सन्देह हो कि वाच्य अर्थ प्रधान है या व्यंग्य अर्थ), (६) तुल्य प्राधान्य (जहाँ पर व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारकारी न हो), (७) काकुध्वनि से आक्षिप्त (तुरन्त ही प्रकाशित) और (८) असुन्दर (जहाँ पर चमत्कार की उत्पत्ति के लिये वाच्य अर्थ की भी अपेक्षा रहे)।

कामिनीकुचकलशवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव ।

जो व्यंग्य सुन्दरी स्त्री के कुम्भतुल्य स्तन के समान गूढ अर्थात् कुछ ढका हुआ और कुछ प्रकट रहता है वही चमत्कार जनक होता है । किन्तु जो अगूढ अर्थात् वाच्य अर्थ की भाँति स्पष्टरूप से प्रकट रहता है वह (स्त्री के अनावृत स्तन के समान) चमत्कार जनक नहीं होता। अतएव ऐसा व्यंग्य मध्यम काव्य मे गिना जाता है ।

[आठों भेदों के उदाहरण क्रमशः नीचे लिखे जाते हैं—]

अगूढं यथा—

[अगूढ व्यंग्य में अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का उदाहरण :—]

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त-
सूचीव्यधव्यतिकरेणयुनक्ति कर्णौ।
काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि
जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि॥११२॥

अर्थ—[विराट् नगर मे बृहन्नला के रूप में कालयापन करने वाले पाण्डुपुत्र अर्जुन कीचक के पराभव से दुखित द्रौपदी से अपनी हीन दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं—] पूर्वकाल मे मै इतना प्रतापी था कि मेरा शत्रु अपने को धिक्कार देकर स्वय मेरी शरण मे आकर तपी हुई लोहे की सलाई से अपन कानों को वेधता था, परन्तु अब वही मैं यहाँ करधनी गूथने का व्यापार कर रहा हूँ। मै तो मानो जीता ही नहीं हूँ। अतः मैं क्या कर सकता हूँ।[1]

अत्र जीवन्नित्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य

यहाँ पर जीवन शब्द उपयुक्त जोवन (इष्ट कार्य की पूर्ति करने मे समर्थ) के लिये अर्थान्तर सक्रमित है। अतएव मेरे ऐसे जीवन से मर जाना ही भला था, ऐसा व्यग्य अर्थ अगूढ़ स्पष्ट ही प्रतीयमान) है।

[अगूढ व्यग्य अर्थ मे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का उदाहरण :—]

---

[1]प्राचीन टीकाकारों ने इस श्लोक का ऐसा ही अर्थ किया है। उदाहरण चन्द्रकादि में यह भी लिखा है कि यह बात देशाचार सिद्ध है कि शरणागत शत्रु के कान जलती लोहे की सलाई से वेधे जाते थे। श्रीगुरुवर महामहोपाध्याय सर, डाक्टर गगानाथ जी, झा, एम्० ए०, डी० लिट्० इस श्लोक के प्रथमार्द्ध का अर्थ यों करते हैं—प्राचीनकाल में शत्रुओं के तिरस्कारपूर्ण शब्द सदा मेरे कानों को वेधनेवाली जलती सुइयों के समान चुभते थे।

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा
गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदीर्घिकासु।
एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-
पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बि बिम्बम् ॥११४॥

अर्थ—[कवि प्रातःकाल का वर्णन करते हुए कहता है—] खिले हुए लाल कमल की धूलि से पीले रङ्गवाले भौंरे घर की बावलियों पर मधुर स्वर से गुञ्जार मचा रहे हैं और उदयगिरि का चुम्बन करनेवाला सूर्य का यह बिम्ब भी नये दुपहरियाफूल की पंखुड़ियों की भाँति चमक रहा है।

अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य।

यद्यपि 'चुम्बन' शब्द का अर्थ दो प्राणियों का परस्पर वक्त्रसंयोग है तथापि यहाँ पर केवल (जड़ पदार्थों ही के दिखाई देनेवाले) संयोग के लिये वह उपयुक्त हुआ है। प्रातःकाल के वर्णन में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के रूप में यह भी एक अगूढ व्यंग्य का उदाहरण है।

[अर्थ शक्तिमूलक व्यंग्य में अगूढ व्यग्यरूप मध्यम काव्य का उदाहरण:—]

अत्रासीत् फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगाक्षि! राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥११५॥[१]

अर्थ—[पुष्पक विमान पर विराजमान श्रीरामचन्द्र जी सीता को लङ्कायुद्धक्षेत्र दिखलाते हुए कहते हैं] हे मृगलोचनि! यहाँ पर नागपाश से बाँधे जाने का कार्य संघटित हुआ था। जब तुम्हारे देवर की छाती में शक्ति द्वारा कठोर घाव लगा था तब हनुमान जी यहीं पर द्रोणाचल को उठा लाये थे। इसी स्थान पर लक्ष्मण ने दिव्य अस्त्रों द्वारा मेघनाद को परलोक पठाया था और यहीं पर किसी ने राक्षसराज रावण के कण्ठवन का छेदन किया था।

अत्र केनाप्यत्रेत्यर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य । 'तस्याप्यत्र' इति युक्तः पाठः ।

यहाँ पर 'केनापि' (किसी ने) इस शब्द का अर्थ शक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यंग्य 'मैंने' ऐसा अर्थ अगूढ (स्पष्ट) है। अतएव यह मध्यम काव्य का उदाहरण है। 'तस्याप्यत्र' ऐसा पाठ रखने से यह श्लोक उत्तम काव्य का उदाहरण बनाया जा सकता है।

अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा (वाक्यार्थीभूतस्य) अङ्गं रसादि अनुरणनरूपं वा । यथा

गुणीभूत व्यंग्य का दूसरा भेद 'अपरस्याङ्गम्' (पराये का अङ्ग) ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी पराये रस आदि का अथवा वाच्यार्थ का (वाक्य के तात्पर्य की प्रधानता वाले वाक्य का) अङ्ग कोई और रसादिक बन गया हो। अथवा अनुरणनरूप सलक्ष्यक्रम व्यंग्य ही हो तो 'अपरस्याङ्गम्' (पराये का अङ्ग) समझना चाहिये।

[एक रस शृंगार के पराये (करुणा) के अङ्गीभूत होने का उदाहरण :—]

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥११६॥

अर्थ—[युद्धस्थल में गिरे हुए राजा भूरिश्रवा के कटे हुए हाथ को लेकर विलाप करती हुई उसकी विधवा रानी कहती है] अरे! यह वही हाथ है जो (मेरी) करधनी को खींचता, मोटे-मोटे स्तनों को मीजता, नाभि, उरु और जघन का स्पर्श करता तथा नीवी के बधनों को ढीला कर देता था।

अत्र शृङ्गारः करुणस्य ।

यहाँ पर शृङ्गार रस करुण रस का अङ्ग बन गया है। [तात्पर्य यह है कि वर्णन का मुख्य विषय तो भूरिश्रवा की बधू का विलाप करुण रसात्मक है; परन्तु उसके हाथों के व्यापारो का वर्णन रूप जो

शृङ्गार है वह मुख्य न होकर गौण है। यह पराये का अङ्गरूप मध्यम काव्य का उदाहरण है।]

[भाव के अङ्गीभूत रस का उदाहरण :—]

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्तितालक्तक—
व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम्।
स्पर्द्धाबन्धसमृद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः
कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ॥११७॥

अर्थ—[महादेव जी के प्रणाम करने पर पार्वती जी के मानभङ्ग का वर्णन करते हुए कवि कहता है—] कैलासवासी भगवान् शिव जी के ललाट-लोचन की ज्योति से पार्वती जी के पैरों मे जो महावर के रंग की लाल कान्ति उत्पन्न हो गयी है और उससे चरण-नखों की जो चटकीली शोभा हो गई वह (शोभा) सदा तुम लोगों की रक्षा करे। विजयेच्छा से निरंतर उद्दीप्त जिस (शोभा) के द्वारा चिरकाल से बढ़ी हुई लाल कमल के सदृश (श्री पार्वती जी के नेत्रों की) कान्ति तुरन्त ही निवृत्त[1] कर दी जाती है।

अत्र भावस्य रसः।

यहाँ पर कवि का पार्वती विषयक (रति नामक) भक्ति भाव प्रधान है और वह भव भवानी विषयक शृङ्गार रस का अङ्ग बन गया है।

[एक भाव के अङ्गीभूत भावान्तर का उदाहरण :—]

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधय-
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्यं नमः।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद्भुव-
स्तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥११८॥

अर्थ—[कवि किसी राजा की स्तुति में कहता है—] हे पृथ्वी देवि!

---

[1] अर्थात् शिव जी के नत हो जाने पर पार्वती जी की लाल आँखें उतर जाती हैं।

तुम बहुत ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों और विस्तीर्ण समुद्रों को सँभालती हुई कुछ भी नहीं थकी हो अतः मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। हे राजन्! जब तक मै ऐसा कह कर पृथ्वी ही की प्रशंसा करता हूँ तब तक उस पृथ्वी को भी सँभालने वाली आपकी भुजाओं का स्मरण हो जाता है और मेरी वाणी रुक जाती है—अर्थात् फिर आगे कुछ भी नहीं कहते बन पड़ता।

अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य।

यहाँ पर पृथ्वी विषयक रति नामक भाव, राज विषयक भक्तिभाव का अङ्ग बन गया है।

[भाव के अङ्गीभूत रसाभास और भावाभास का उदाहरण :—]

वन्दीकृत्य नृप द्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः।
अस्माकं सुकृतैर्दृशोः निपतितोऽस्यौचित्यवारांनिधे
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे॥११६॥

अर्थ—[कोई कवि किसी राजा की स्तुति में कहता है :—] हे राजन्! आपकी सेना के योद्धा गण शत्रुओ की मृगनयनी स्त्रियों को वन्दी करके उनके पतियों के सामने ही उनका आलिङ्गन करते, कोप शान्त्यर्थ उन्हें प्रणाम करते, पकड़ लेते और सर्वाङ्ग चुम्बन भी करते हैं। आपके वैरी लोग यह कहकर आपकी स्तुति करते हैं कि हे राजन्! आप उचित कार्यकर्ता लोगों में प्रधान हैं। आप हमारे पूर्वकृत पुण्यों के प्रभाव से दृष्टिगोचर हुए है। अब हमारी सब विपत्तियाँ दूर हो गईं।

अत्र भावस्य रसाभासभावाभासौ प्रथमार्धद्वितीयार्धद्योत्यौ।

इस श्लोक में पूर्वार्द्ध द्वारा अननुरक्ता स्त्रियों पर सैनिको की काम चेष्टा शृङ्गार रस का आभास प्रकाशित है। तथा शत्रुओं द्वारा स्तुति किये जाने से राजविषयक भावाभास भी उदाहृत है। और ये दोनों रसाभास और भावाभास राजविषयक भक्ति भाव के अङ्ग बन गये हैं।

[भाव के अङ्गीभूत भावशान्ति का उदाहरण :—]

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात् ॥१२०

अर्थ—हे राजन् ! आप के शत्रुओं का जो गर्व निरंतर तलवार फटकारने, भौंहे टेढ़ी करके डाँटने-डपटने और सिंहनाद करने में बारम्बार प्रकट होता दिखाई पड़ता था, वह आपके सामने आते ही न जानें कहाँ लुप्त हो गया ?

अत्र भावस्य भावप्रशमः ।

यहाँ पर गर्वरूप व्यभिचारी भाव की शान्ति राजविषयक भक्ति-भाव का अङ्ग हो गई है ।

[भाव के अङ्गीभूत भावोदय का उदाहरण :—]

साकं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां
कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते ।
अन्याभिधायि तव नाम विभो गृहीतं
केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥१२१॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! आपका शत्रु अपने मित्रों के बीच बैठकर ज्यों ही मृगनयनी स्त्रियों के साथ मद्यपान की क्रीडा में प्रवृत्त होना चाहता था कि इतने में किसी ने धोखे से ही आपका नाम ले लिया ? बस उसी समय हे महाराज ! आपके शत्रु की कुछ विलक्षण-सी (भय जनित विकार से कम्प आदि की पैदा करनेवाली) दशा हो गई ।

अत्र त्रासोदयः ।

यहाँ पर शत्रुगत त्रास नामक भाव का उदय राजविषयक भक्ति भाव का अङ्ग हो गया है ।

[भाव के अङ्गीभूत भाव-सन्धि का उदाहरण :—]

असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः ।
प्रमोदं वो दिश्यात्कपटवटुवेषापनयने
त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥१२२॥

अर्थ—ब्रह्मचारी का वेश धारण करने वाले महादेव जी एक ओर तो पार्वती जी के बाल्यकाल में प्रकट होनेवाले तपस्या के दुःसह भाव की अवस्था को नहीं सह सकते थे और दूसरी ओर पार्वती जी की विश्वासयुक्त बातचीत भी उन्हें अत्यन्त रोचक लगती थी। अतएव छल से धारण किये हुए ब्रह्मचारी वेश के परित्याग करने में एक साथ ही शीघ्रता और शिथिलता से युक्त वे (महादेव जी) तुम लोगों को महानन्द प्रदान करें।

अत्रावेगधैर्ययोः सन्धिः

यहाँ पर आवेग और धैर्यरूप भावों की सन्धि शिवविषयक रति भाव की अङ्गीभूता है।

[भाव के अङ्गीभूत भाव शबलत्व का उदाहरण :—]

पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर ह ह हा व्युत्क्रमः क्वासि यासि।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कश्चित्फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ॥१२३॥

अर्थ—हे पृथ्वीनाथ! आपके वन में निवास करने वाले शत्रु की कुमारी कन्या फल और नये पत्ते चुनते समय किसी कामुक को देख प्रकार कहती है कि अरे! कहीं कोई हम लोगों को देख न ले! हे चपल! तू यहाँ से भाग जा। अरे इतनी शीघ्रता क्यों? मैं तो अभी कुमारी हूँ अरे मुझे अपने हाथ का सहारा तो दे। हाय! ऐसा करना अनुचित है! अरे! तू कहाँ है? क्या चला ही जाता है?

अत्र शङ्काऽसूयाधृतिस्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता।

यहाँ पर क्रम से शङ्का, असूया, धैर्य, स्मरण, श्रम, दीनता, विबोध और औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों की शबलता राजविषयक भक्ति भाव का अङ्ग बन गई है।

एते च रसवदाद्यलङ्काराः। यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि तथाऽपि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्।

इन्हीं ऊपर कहे गये गुणीभूत रसादिकों का नाम रसवत् आदि अलङ्कार है, [जहाँ पर रस गुणीभूत हो वह रसवत्, जहाँ भाव गुणीभूत हो वह प्रेयस्, जहाँ पर रसाभास और भावाभास गुणीभूत हो वह ऊर्जस्वि और जहाँ भावशान्ति गुणीभूत हो वह समाहित अलङ्कार कहा जाता है]। यद्यपि भावोदय, भावसन्धि और भावशबलत्व को लोगों ने अलङ्कार कह कर वर्णन नहीं किया है, तथापि जो कोई इन तीनों को भी अलङ्कार मानता हो उसके लिए ऐसा कहा गया है।

यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषयः यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यंग्ययोः स्वप्रभेदादिभिः सह सङ्करः संसृष्टिर्वा नास्ति तथाऽपि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ती'ति क्वचित्केनचिद्व्यवहारः।

यद्यपि ऐसा विषय तो कहीं न मिलेगा कि जहाँ पर ध्वनिकाव्य और गुणीभूत व्यंग्य का किसी न किसी भेद के साथ सङ्कर (क्षीर-नीर मिश्रणवत्) वा संसृष्टि (तिल तण्डुलवत् मिश्रण) न हो जाय; परन्तु 'प्राधन्येन व्यपदेशा भवन्ति' अर्थात् मुख्यता ही के कारण नामकरण किया जाता है--इस न्याय के अनुसार कहीं पर किसी के मुख्य चमत्कार के कारण उसी का नाम लिया जाता है। जहाँ पर रसादिक स्वयं अङ्गी (प्रधान) बनकर चमत्कार उत्पन्न करे वहाँ पर ध्वनि काव्य होता है और जहाँ पर वे केवल अङ्गीभूत (अप्रधान) बनकर विशेष चमत्कार उत्पन्न करें, वहाँ पर गुणीभूत व्यंग्य वा मध्यमकाव्य होता है।

[शब्दशक्तमूलक अनुरणनरूप उपमालङ्कार (जो संलक्ष्यक्रम व्यंग्य में गिना जाता है) की वाच्याङ्गता में (वाच्यार्थ के उत्कर्ष में) 'अपरस्याङ्ग' रूप गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण :—]

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम्।
कृतालङ्काभर्तुर्वदन परिपाटीषु घटना
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता नत्वधिगता ॥१२४॥

अर्थ—राजसेवा से खिन्नचित्त किसी कवि का कथन है—] मैंने

जनस्थान (मनुष्यों की बस्ती या पञ्चवटी वन) के बीच, कनकमृगतृष्णा (मृग तृष्णा के समान मिथ्या स्वर्ण की प्राप्ति के लिए या सोने के मृगरूप मारीच को पकड़ने) के लोभ से बुद्धि के अन्धे हो चक्कर लगाये, वैदेहि (निश्चय करके दो या हे सीते !) ऐसे शब्द कह-कहकर पग-पग पर आँसू भी बहाये तथा दुष्ट स्वामी को मुख भंगी आदि के अनुसार उनकी पर्याप्त सेवा भी की (या लङ्केश रावण के शिरसमूह पर बाणों की वर्षा की)। उक्त प्रकारों से मैंने श्री रामचन्द्र जी की समता तो कर ली, परन्तु फिर भी मुझे उनकी तरह 'कुशलवसुता' (धनसम्पत्ति का सत्फल या सीता जी) नहीं प्राप्त हुई।

अत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाच्याङ्गतां नीतः।

यहाँ पर शब्दशक्तिमूलक सलक्ष्यक्रम व्यंग्य मे श्री रामचन्द्र जी के के साथ याचक के उपमानोपमेय भाव को वाच्य अर्थ का उपकारक बना दिया है। (अर्थात् रामचन्द्र जी के अर्थ में घटित होनेवाले व्यंग्य अर्थ को) प्रकरणानुसार याचक के पक्ष में घटित होनेवाले वाच्यार्थ का अङ्ग (अप्रधान रूप से उपकारक) बना दिया है।

[अर्थशक्तिमूलक अनुरणनरूप सलक्ष्यक्रम व्यंग्य मे वस्तु का वाच्यार्थ के अङ्गीभूत होनेवाले 'अपरस्याङ्ग' का उदाहरण :—]

आगत्य सम्प्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गी-
मम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः।
एनां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभावे
तन्वङ्गि ! पादपतनेन सहस्ररश्मिः॥१२५॥

अर्थ—हे कृशाङ्गि ! अन्यत्र कहीं रात बिताकर आनेवाला यह सहस्र किरणों वाला सूर्य अब प्रातःकाल धीरे-धीरे आकर विरह से सङ्कुचित गात्र वाली इस कमलिनी को पाद-पतन द्वारा (किरण सम्पर्क, या चरणों पर प्रणाम करने की क्रिया से) प्रसन्न कर रहा है।

अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः ।

यहाँ पर अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य में वस्तुरूप नायक-नायिका का वृत्तान्त स्वतन्त्र कमलिनी और सूर्य के वृत्तान्त पर अध्यारोप करके प्रकट किया गया है ।

वाच्यसिद्ध्यङ्गं यथा—

[एक वक्तृगत वाच्य सिद्ध्यङ्ग का उदाहरण—]

अभिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणं च जलदभुजगजंप्रसह्यकुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥१२६॥

अर्थ—मेघरूपी सर्प से उत्पन्न विष (जल वा हलाहल) बलपूर्वक विरहणी स्त्रियों को चक्कर, अनभिलाप, (अनिच्छा) उदासीनता—निश्चेष्टता, मूर्च्छा, अन्धापन शारीरिक दुर्बलता और मरणासन्न दशा उत्पन्न करता है ।

अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत् ।

यहाँ पर विष शब्द को अर्थ हलाहल व्यंग्य है । वह भुजगरूप वाच्य अर्थ का सिद्धि का उपकारक है ।

यथा वा—

[भिन्न वक्तृगत वाच्य सिद्ध्यंग उदाहरण :—]

गच्छाम्यच्युत दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
किन्त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः सम्भावयत्यन्यथा ।
इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा—
माश्लिष्यत्पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिःपातुवः ॥१२७॥[३]

अर्थ—[श्रीकृष्ण जी से एकान्त में भेंट होने पर कोई गोपी कहती है—] हे अच्युत ! अब मैं जाती हूँ, क्या आपके दर्शन से कभी चित्त को संतोष भी होता है ? परन्तु करें क्या ? इस प्रकार से एकान्त में मिलित दो जनों (स्त्री पुरुषों) के विषय में दुष्ट लोग कुछ और ही (व्यभिचार विषयणी) कल्पना करने लगते हैं । ऐसे विशिष्ट (सार्थक,

साभिप्राय) सम्बोधन समेत विशेष स्वर से उस स्थान पर व्यर्थ ठहरने की सूचना देकर जो गोपी खेद से अलसाई जा रही थी उसे आलिङ्गन करते हुए. रोमाञ्चित शरीर भगवान् श्रीकृष्ण तुम लोगों की रक्षा करें।

अत्राच्युतादिपदव्यङ्ग्यमामंत्रणेत्यादिवाच्यस्य । एतच्चैकत्रैकवक्तृगतत्वेन अपरत्र भिन्नवक्तृगतत्वेनेत्यनयोर्भेदः ।

यहाँ अच्युत (अस्खलित वा निर्दोष) आदि पदों का व्यंग्य अर्थ आमन्त्रण (सम्मति प्रदान) आदि पदों के वाच्य अर्थ की सिद्धि का कारण है।

उक्त दोनों वाच्यसिद्ध्यंग, गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरणों मे भेद इस बात का है कि पूर्व उदाहरण मे कवि ही स्वयं एक वक्ता है और पिछले उदाहरण मे श्लोक के पूर्वार्द्ध में गोपी और उत्तरार्द्ध में कवि (यों भिन्न-भिन्न) दो वक्ता हैं।

अस्फुटं यथा—

[अस्फुट व्यंग्य रूप मध्यम काव्य का उदाहरण—]

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता ।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ॥१२८॥ [४]

अर्थ—[कोई स्त्री अपने प्रेमपात्र से कहती है—] हे प्रिय ! आपके न देख पाने से मेरे चित्त में आपके दर्शन की लालसा बढ़ती है और दर्शन पाने पर वियोग का भय रहता है। अतएव चाहे आपका दर्शन मिले या न मिले दोनों अवस्था में आपके द्वारा सुख की प्राप्ति नहीं ही होती।

अत्रादृष्टो यथा न भवसि वियोगभयं च यथा नोत्पद्यते तथा कुर्या इति क्लिष्टम् ।

यहाँ पर 'हे प्रिय ! आप ऐसा कार्य कीजिये जिससे आप अदृष्ट (न दिखाई देने वाले) भी न हों और ऐसा काम करें जिससे आपके वियोग का दुःख भी न हो' ऐसा व्यंग्य अर्थ बड़ी कठिनाई से बोधगम्य होता है।

सन्दिग्धप्राधान्यं यथा—

जहाँ पर प्रधान अर्थ सन्देहविशिष्ट हो ऐसे मध्यम काव्य का उदाहरण:—

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठेव्यापारयामास विलोचनानि॥१२६॥ [५]

अर्थ—चन्द्रोदय के प्रारम्भकाल में समुद्र की भाँति चञ्चल चित्त और धैर्य से स्खलित महादेव जी बिम्बा फल के समान (लाल) अधर वाले पार्वती जी के मुख की ओर अपनी आँखें फेरने लगे ।

अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः ।

यहाँ पर शिवजी ने पार्वती जी के मुख को चूमना चाहा"—ऐसा व्यंग्य अर्थ अभीष्ट है, या केवल आँख फेरना रूप वाच्य अर्थ ही प्रधानतया इष्ट है, यह बात संशयग्रस्त है ।

तुल्यप्राधान्यं यथा—

वाच्य तथा व्यंग्य अर्थ की तुल्य प्रधानता वाले मध्यम काव्य का उदाहरण:—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥१३०॥ [६]

अर्थ—[1]हे राक्षस राज ! ब्राह्मणों को पीड़ित करनेवाले व्यापार को छोड़ने से आप ही लोगों की उन्नति है और (हम) परशुराम इसी दशा में आप के मित्र होंगे, अन्यथा आप लोगों पर रुष्ट हो जायँगे ।

---

[1]उद्योत चन्द्रिका सुधासागर कार आदि ने इस पद्य को रावण के लिये परशुराम के दूत की उक्ति बतलाई है। और कुछ ने रावण के मंत्री माल्यवान की उक्ति बतलाई है । किन्तु वास्तव में इसे महावीर चरित नाटक के द्वितीय अङ्क में परशुराम जी ने माल्यवान को रावण के उद्देश्य से पत्र में लिखा था ।

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षणात्क्षयं करिष्यतीति व्यंग्यस्य वाच्यस्य च सम प्राधान्यम् ।

यहाँ पर जो व्यंग्य अर्थ है कि परशुराम क्षणभर में सब क्षत्रियों की भाँति राक्षसों का भी संहार कर डालेंगे वह वाच्यार्थ ही के समान मुख्यार्थवत् प्रतीत होता है, अर्थात् दोनों प्रकार के अर्थों की प्रधानता एक-सी है ।

काक्वाक्षिप्त यथा—

काकुध्वनि द्वारा शीघ्रता से प्रकाशित होने वाले मध्यम काव्य का उदाहरण:—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिःपणेन ॥१२१॥ [७]

अर्थ—[पाण्डुपुत्र भीमसेन युधिष्ठिर के सन्धि के प्रस्ताव को सुन कर क्रुद्ध हो सहदेव से कहते हैं—] क्या मैं युद्धस्थल में क्रोध से सौ कौरवों को मार न डालूँगा ? क्या मैं दुःशासन की छाती से बहता रक्त न पीऊँगा ? क्या मैं गदा से दुर्योधन की दोनों जङ्घाएँ तोड़ न डालूँगा ? आप लोगों के (न कि मेरे अथवा प्रजावर्ग के) राजा युधिष्ठिर चाहें तो (पाँच गाँव ग्रहण रूप) पण स्वीकार कर सन्धि कर ले ।

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादिव्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम् ।

यहाँ पर 'मैं अवश्य ही मार डालूँगा' इत्यादि व्यंग्य अर्थ निषेध रूप वाच्य अर्थ के साथ ही प्रकाशित हो रहा है ।

असुन्दरं यथा—

असुन्दर व्यंग्य युक्त मध्यम काव्य का उदाहरण :—

वाणीर कुडगुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए ।
घरकम्म वावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइं ॥१२२॥ [८]

[छाया—वानीरकुञ्जो ड्डीनशकुनिकोलाहलं श्रृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वा सीदन्त्यङ्गानि ॥]

अर्थ—[घर के समीपवाले लताकुञ्ज में संकेत-स्थान नियत करके वहाँ के पक्षियों के उड़ने के कोलाहल को सुनकर नायिका ने वहाँ पर अपने जार की उपस्थिति का अनुमान कर लिया। उसी के विषय में कहा गया है—] बेत के घने कुञ्ज से उड़ते पक्षियों के कोलाहल को सुनते हुए घर के कामों में फँसी हुई बहू के अङ्ग-अङ्ग व्याकुल[1] हो रहे हैं।

अत्र दत्तसङ्केतः कश्चिल्लतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् सीदन्त्यङ्गानीति वाच्यं सचमत्कारम्।

यहाँ पर संकेत किये गये किसी उपनायक ने घने लताकुञ्ज में प्रवेश किया—ऐसे व्यंग्य अर्थ की अपेक्षा बहू के अङ्ग-अङ्ग व्याकुल होते हैं ऐसा वाच्य अर्थ ही विशेष चमत्कारकारक प्रकट हो रहा है।

[गुणीभूत व्यंग्य के विशेष भेदों के विषय में आगे कहते हैं—]

(सू० ६७) एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥४६॥

अर्थ—इन उपर्युक्त गुणीभूत व्यंग्यों के विशेष भेदों को यथोचित रीति से पूर्व की तरह ध्वनिकाव्य के भेद निरूपणानुसार समझ लेना चाहिये।

यथायोगमिति "व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा। ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्" इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्।

मूलकारिका में 'यथायोग' (यथोचित रीति से) कहने का भाव यह है कि गुणीभूत व्यंग्य के ऊपर कहे गये केवल आठ ही भेद नहीं हैं, किन्तु अर्थान्तर संक्रमित वाच्य आदि उपाधियों द्वारा जैसे ध्वनि काव्यों के अनेक शुद्ध सङ्कीर्ण आदि भेद गिनाये गये हैं, वैसे ही गुणीभूत

---

[1]क्योंकि उसे अपने जार से मिलने का अवसर नहीं प्राप्त हो सका।

व्यंग्य के भेदों को भी समझ लेना चाहिये। इस विषय में ध्वनिकार (आनन्दवर्धन) की सम्मति का उल्लेख किया जाता है—

'जब (अलङ्कार रहित) वस्तुमात्र से अलङ्कारों की व्यञ्जना होती है तब निश्चय करके उस काव्य का नाम 'ध्वनि' इस व्यवहार से स्वीकार करने योग्य है; क्योंकि काव्य के नाम का उपयोग अलङ्कार ही की अपेक्षा से होता है।' इस प्रकार ध्वनिकार द्वारा निर्दिष्ट उक्त रीति से जहाँ वस्तुमात्र द्वारा अलङ्कार की प्रतीति होती हो वहाँ गुणीभूत व्यंग्य का व्यवहार नहीं मानना चाहिये।

[ऊपर चतुर्थ उल्लास में ध्वनि के भेद दिखला आये हैं अब उनके साथ गुणी भूत व्यंग्य रूप मध्यम काव्य के भेदों का भी संमिश्रण करने से भेद होते हैं उनके प्रदर्शनार्थ कहते हैं—]

(सू०६८) सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः ससृष्टिसङ्करैः।

अर्थ—रसवत् आदि अलङ्कार तथा वाच्यालङ्कार से युक्त उन गुणीभूत व्यंग्य के साथ ध्वनि काव्य के भेदों का मिश्रण उनकी संसृष्टि (तिल-तण्डुल न्याय से मेल) और सङ्कर (नीर-क्षीर न्याय से मेल) वाले भेद के साथ मिला करके लेखा लगाया जावे।

सालङ्कारैरिति तैरेवालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः। तदुक्तं ध्वनिकृता-

उक्त कारिका का अर्थ विशद करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं कि यहाँ पर 'सालङ्कारैः' शब्द का यह अर्थ है कि उन (रसवत् आदि अलङ्कारों के साथ) और (उपमादि वाच्यालङ्कारों से युक्त) वस्त-रूप गुणीभूत व्यंग्यों के साथ (एकशेष, द्वन्द्व समास द्वारा) ऐसा अर्थ ग्रहण किया जावे। इस विषय में भी ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन का कथन है कि—

"स गुणीभूतव्यंग्यः सालंकारैः सह प्रभेदैः स्वैः
संकरसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतत बहुधा ॥" इति

वह ध्वनिरूप काव्य वाच्यालङ्कारों समेत गुणीभूत व्यंग्यों के तथा निज के भेद-प्रभेदों से भी मिलकर पुनः सङ्कर और संसृष्टि के भेदों

द्वारा अनेक प्रकार का हो जाता है।

(सू० ६६) अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्यातिभूयसी ॥४७॥

अर्थ—इस प्रकार से परस्पर ध्वनि और गुणीभूत व्यग्य के भेद-प्रभेद के संमिश्रण ने भिन्न-भिन्न भेदो की सख्या बहुत अधिक हो जाती है।

एवमनेन प्रकारेण अवान्तरभेदगणनेऽतिप्रभूततरा गणना, तथाहि शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणनायामानन्त्यम्। का गणना तु सर्वेषाम्।

इस प्रकार के अवान्तर भेदो की गणना मिला देने से भेदों की सख्या बहुत ही अधिक हो जाती है। जब अकेले शृङ्गार रस ही के भेदों और प्रभेदो की सख्या अनन्त हो जाती है तब फिर शेष रसादि की भी सब संख्या मिलाकर गिनती कहाँ तक की जा सकती है? अर्थात् इन सब की सख्या (ठीक-ठीक लेखा लगाने पर) परार्ध्य सख्या से भी अधिक हो जावेगी।

सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः। व्यंग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथाहि किञ्चिद्वाच्यतां सहते किञ्चित्त्वन्यथा। तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं चेति। अविचित्रं वस्तुमात्रम् विचित्रं त्वलङ्काररूपम्। यद्यपि प्राधान्येन तदलङ्कार्यम् तथापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तथोच्यते। रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाऽभिधीयेत। नचाभिधीयते। तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे तस्याऽप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधान-द्वारेणैव प्रतीयते इति निश्चीयते। तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव। मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः।

फिर भी सक्षेप मे लेखा लगाने से ध्वनिकाव्य के प्रमुख तीन भेद होते हैं क्योंकि व्यग्य (अर्थ) भी तीन ही प्रकार का होता है—उसका विवरण इस प्रकार है। कुछ व्यग्य तो वस्तु और अलङ्कार रूप होकर वाच्यार्थ योग्य होता है। और कुछ (जो रसादि रूप हैं) उससे भिन्न होता है, अर्थात् वाच्यार्थ मानने के योग्य नहीं होता। उनमें से भी

वाच्यार्थ के योग्य व्यंग्य के विचित्र और अविचित्र नामक दो भेद होते हैं। अविचित्र तो वह है जो केवल वस्तुमात्र होता है। और विचित्र वह है जो अलङ्कार स्वरूप होता है। यद्यपि मुख्य रूप से वह विचित्र ध्वनि काव्य अलङ्कार्य है तथापि ब्राह्मण श्रमण न्याय से यहाँ पर उस का उल्लेख अलङ्कार स्वरूप शब्दों से किया जाता है। रसादि लक्षण अर्थ तो कदापि स्वप्न में भी वाच्य नहीं होता, क्योंकि वह तो रस आदि वा शृङ्गार शब्दों द्वारा कहा जाता; परन्तु ऐसा कहा तो नहीं जाता। रस आदि वा शृंगार आदि शब्दों के प्रयोग किये जाने पर भी यदि विभावादि (रसादि के कारणों का) उल्लेख न किया जावे तो रस की प्रतिपत्ति (सिद्धि) नहीं होती। और जहाँ रस आदि शब्द उपयोग में नहीं लाये जाते; किन्तु विभावादि कारणों का उपयोग होता है वहाँ रस प्रतीति होती है। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से विभावादि ही के कथन द्वारा रस आदि की प्रतीति होती है; यही बात निश्चित होती है। इस कारण से रसादिक व्यंग्य ही होते हैं। इन्हें लक्ष्य अर्थ के अन्तर्गत नहीं मान सकते। क्योंकि उसमें मुख्यार्थ का बाध, उस (मुख्य अर्थ) का योग, और रूढि, या इनमें से किसी एक को उपस्थित रहना चाहिये; परंतु यहाँ पर रसादि के प्रकरण में वह उपस्थित नहीं रहता है।

अर्थान्तरसङ्क्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं व्यङ्ग्यं विना लक्षणैव न भवतीति प्राक् प्रतिपादितम्। शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवाद व्यङ्ग्यत्वम्।

ऊपर यह सिद्ध कर आये हैं कि अविवक्षित वाच्य नामक ध्वनि के दोनों भेदों—अर्थान्तर सङ्क्रमित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यों में वस्तुमात्र रूप व्यंग्य के विना लक्षणा हो ही नहीं सकती। तथा शब्द शक्तिमूलक व्यंग्य में अभिधा द्वारा एक अर्थ के नियन्त्रित (बद्ध) हो जाने से तद्भिन्न जो कोई अन्य अर्थ निकलता है उसके साथ

उपमादि अलङ्कारों की व्यञ्जकता निर्विवाद है।

अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्य रूपाणां पदार्थानामाकांक्षासन्निधियोग्यतावशात्परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्त्ता व्यंग्यस्याभिधेय तायाम्।

अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य मे जो व्यञ्जकता है उसकी सिद्धि के लिये अभिहितान्वयवादियों के मत मे व्यंग्य अर्थ अभिधेय (शब्द कीअभिधा शक्ति के द्वारा समझे जाने के योग्य) नहीं है, यह अत अव सिद्ध की जाती है। अभिहितान्वयवादी के मत मे संकेत व्यक्ति विशेष में होता ही नहीं (नहीं तो आनन्त्य और व्यभिचार आदि दोष पीछे आ पड़ेंगे,) अतएव जातिरूप पदार्थों का जहाँ पर आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण परस्पर संसर्ग से वाक्य का वह विशेष रूप अर्थ प्रकाशित होता है, जो पदों का अभिधेय अर्थ भी नहीं माना जा सकता (अर्थात् जिन अभिहितान्वय-वादियों के मत मे वाक्य का अर्थ ही तात्पर्यनामक एक अन्य शक्ति द्वारा विदित होता है न कि अभिधा शक्ति द्वारा अभिधेय होकर ज्ञात होता है।) तो भला उनके मत मे व्यंग्य अर्थ को अभिधेय कैसे स्वीकार कर सकेंगे?

[इस कथन का सारांश यह है कि जिन अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के मत मे वाच्यार्थ ज्ञान के विषयीभूत ससर्ग को शक्त वा संकेतित अर्थ की ज्ञानोपस्थिति का कारण अभिधा ही नहीं प्रकट कर सकती, अतएव तात्पर्य नामक एक अन्य शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है; उनके मत मे वाक्यार्थज्ञान से पीछे उत्पन्न होनेवाले व्यग्य अर्थ का ज्ञान भला अभिधा व्यापार के प्रभाव से कैसे प्रकट होगा? अर्थात् अभिहितान्वयवादियों के मत मे व्यग्य अर्थ की उपस्थिति के लिये अभिधा से भिन्न व्यञ्जना नाम का कोई अन्य व्यापार अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा।]

[अब अन्विताभिधानवादी के मत का भी विशेष विवरण लिखकर

यह सिद्ध करते हैं कि उनके मत में भी व्यञ्जना व्यापार को विना स्वीकार किये काम न चलेगा। अतएव कहते हैं कि मैं—]

येऽप्याहुः

अन्विताभिधानवादी लोग जो कहते हैं कि—

"शब्दवृद्धाभिधेयाश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥१॥
अन्यथानुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम्।
अर्थापत्त्यावबोधेत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥२॥"

अर्थ—जब कि बालक साक्षात् ज्ञान द्वारा कथित शब्द प्रयोजक और प्रयोज्यवृद्ध तथा उनके परस्पर के सकेतित (वाच्यार्थ) पदार्थों को विषयीभूत करता है और सुननेवाले प्रयोज्य वृद्ध के अनुमान और चेष्टा से उनके कहे हुए अर्थ को समझ भी लेता है तो उसकी सिद्धि किसी अन्य प्रकार से न होकर अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा वाचक शब्द और वाच्य अर्थ इन दोनों के सम्बन्ध को जान लेने से होती है। उक्त रीति से प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति नामक तीनों प्रमाण द्वारा सकेत ज्ञान का निर्णय निश्चित करना चाहिये।

इति प्रतिपादित दिशा—'देवदत्त गामानय' इत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगाद्देशाद्देशान्तरं सास्नादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धे नयति सति-'अनेनास्माद्वाक्या देवंविधोऽर्थः प्रतिपन्नः' इतितच्चेष्टयाऽनुमाय तयोरखण्ड-वाक्यवाक्यार्थयोरर्थापत्त्या वाच्यवाचकभावलक्षणं सम्बन्धमवधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते। परतः'चैत्र गामानय देवदत्त अश्वमानय देवदत्त गां नय' इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तन्तमर्थमवधारयतीति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारि वाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव सङ्केतो गृह्यते इति विशिष्टा एव पदार्थाः वाक्यार्थो न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्।

उक्त दोनों कारिकाओं में कही गई रीति के अनुसार जब उत्तम वृद्ध कहता है कि देवदत्त! गाय को लाओ और मध्यम वृद्ध

[1]सास्नादिमती गाय नामक वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है। तब उसकी चेष्टा द्वारा बालक अनुमान करता है कि इसने इस प्रकार के वाक्य द्वारा इस प्रकार के अर्थ को समझ लिया है और उन सम्मिलित वाक्य और वाक्यार्थ का अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा वाच्य वाचक रूप लक्षणवाले सम्बन्ध का निर्णय करके इस विषय में व्युत्पत्ति अर्थात् विशेष ज्ञान प्राप्त करता है। तदन्तर हे चैत्र! गाय को लाओ, हे देवदत्त घोड़े को ले जाओ, हे देवदत्त! गाय को ले जाओ इत्यादि वाक्यों के प्रयोग से अमुक शब्दों का अमुक-अमुक साङ्केतिक अर्थ निश्चित होता है। इस प्रकार से अन्वय (गाय शब्द के प्रयोग करने पर) और व्यतिरेक (गाय शब्द के प्रयोग न करने पर) द्वारा प्रवृत्ति (ले आने) और निवृत्ति (ले जाने वाले वाक्य ही उपयोग के योग्य होते हैं। निदान वाक्य में प्रयुक्त पदों ही के साथ अन्वित मिलित) पदार्थों द्वारा अन्वित ही पदों का सङ्केत ग्रहण होता है। न कि अन्य वस्तु से अनन्वित पद का साकेतिक अर्थ गृहीत होता है; अर्थात् अन्वय विशिष्ट शब्दान्तर से युक्त) पदों ही के अर्थ को वाक्यार्थ समझना चाहिये, न कि पदों के अर्थों को एकत्र करके उनका विशेषता से वाक्यार्थ ज्ञान होता है (जैसे कि अभिहितान्वयवादी लोग मानते हैं।)

यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः पदार्थःसङ्केतगोचरः तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिनः।

यद्यपि भिन्न-भिन्न वाक्यों में प्रयोग किये गये शब्द ये वे ही हैं इस प्रकार पहिचान कर निश्चित कर लिये जाते हैं। अतएव भिन्न-भिन्न पदार्थों से अन्वित पदों का अर्थ ही संकेत द्वारा गृहीत होता है।

---

[1]गाय या बैल के गले में लटकने वाले चमड़े का नाम 'सास्ना' है।

तथापि वह सङ्केत सामान्य युक्त होकर ही विशेष रूप में गृहीत होता है। क्योंकि अन्वित पदार्थों के ही विशेष रूप हुआ करते हैं। यह अन्विताभिधानवादियों का मत है।

तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः सङ्केतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तरगतोऽसङ्केतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा।

उन अन्विताभिधानवादियों के मत में भी सामान्य (लाना आदि क्रिया के साधारण धर्म) संयुक्त ही विशेषरूप (गाय का लाना आदि) पदार्थ संकेत का विषय है। जिनके मत में सामान्यावच्छादित (सामान्य युक्त) विशेष रूप पदार्थ की अपेक्षा अधिक विशेष-भूत (गाय का लाना इत्यादि) पदार्थ संकेत का विषय न होने से वाच्यार्थ ही अभिधा व्यापार द्वारा गम्य नहीं है, किन्तु वाक्यार्थ (गाय लाओ आदि) के अन्तर्गत होकर प्रतीत होता है, उन लोगों के मत में 'निःशेषच्युत' इत्यादि प्रतीक वाले श्लोक के अर्थ सम्बन्ध में (उसके समीप नहीं गई—ऐसा कहने पर उसके समीप गई ही) जो अर्थान्तर प्रकाशित हुआ उसके विधि आदि की अभिधेयार्थता कैसे मानी जा सकती है।

अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्त्वन्विताभिधाने अन्वितविशेषस्त्ववाच्य एव इत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव वाक्यार्थः।

अभिहितान्वयवादियों के मत में अनन्वित (असंसृष्ट) अर्थ और अन्विताभिधानवादियों के मत में भिन्न पदार्थ मात्र से अन्वित पदार्थ ही अभिधेय होता है। किन्तु अन्वित विशेष (गाय से अन्वित लाना आदि क्रिया) तो वाच्यार्थ होता ही नहीं। साराश यह है कि दोनों मतों में वाक्यार्थ का ज्ञान अभिधाव्यापार द्वारा नहीं होता है। (तो फिर व्यंग्य अर्थ का अभिधा व्यापार द्वारा प्रतीत होना तो कदापि स्वीकार नहीं किया सकता)।

यदप्युच्यते 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानिकल्प्यन्ते' इति। तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वम्वा शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वं ज्ञापकत्वन्तु

अज्ञातस्य कथं ज्ञातत्वं च सङ्केतेनैव स चान्विमात्रे एवं च निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इत्यविचारिताभिधानम् ।

कुछ मीमासकों का मत है कि नैमित्तिक के अनुसार ही निमित्त की कल्पना कर ली जाती है, अर्थात् शब्द सुन लिये जाने के पश्चात् जहाँ तक की अर्थ प्रतीति होती है तहाँ तक अभिधा व्यापार ही स्वीकार करने योग्य है; क्योंकि अर्थप्रतीति का कारण (निमित्त) शब्द को छोड़कर और कोई भी वस्तु उपस्थित नहीं है, अतएव व्यंग्य की भी प्रतीति नैमित्तिकी (निमित्त कारण द्वारा उत्पन्न) है अतः निमित्त कारण शब्द के द्वारा अभिधा व्यापार ही से व्यंग्य अर्थ की भी प्रतीति मानी जाय। इसके उत्तर में ग्रन्थकार पूछते हैं कि यहाँ पर निमित्त कारण कारकत्व है अथवा ज्ञापकत्व ? शब्द के प्रकाशक मात्र होने से उसका कारकत्व तो माना नहीं जा सकता, हाँ, ज्ञापकत्व रूप निमित्त माना जा सकता है; परन्तु जिस शब्द के अर्थ का ज्ञान ही नहीं हुआ है उसका ज्ञापकत्व ही कैसा ? शब्द का जो ज्ञापकत्व निमित्त स्वीकार किया गया है वह तो केवल संकेत के द्वारा। और यह संकेत भी केवल अन्वित पदार्थ में रहता है, न कि अन्वित विशेप (अर्थात् व्यग्य आदि) में भी। क्योंकि अन्वित विशेष में भी सङ्केत ग्रहण स्वीकर कर लेने से अन्योन्याश्रय दोष आ पड़ेगा, वह ऐसा कि व्यत्पत्ति की इच्छा करने वाले के लिये तो शब्दार्थ के संकेत की उपस्थिति शब्द द्वारा हो, और ज्ञाता के लिये शब्दार्थ की उपस्थिति सकेत द्वारा हो। इस प्रकार परस्पर अन्योन्याश्रय दोष आ पड़ता है। अतएव अन्वित विशेष में सकेत ग्रहण स्वीकार करना असङ्गत है। निदान जब तक निमित्त (कारण रूप शब्द) का नियत निमित्तत्व (अन्वित विशेष मे संकेत ग्रहण) निश्चित् नहीं हो जायगा तब तक नैमित्तिक (व्यग्य-अर्थ) की प्रतीति ही कैसे होगी ? अतएव जो लोग कहते हैं कि नैमित्तिक के अनुसार निमित्त की कल्पना कर ली जाती है उनका यह कथन अविवेकमूलक है।

[साराश यह है कि शब्दार्थ का ज्ञान विना किसी व्यापार विशेष के हो नहीं सकता। जैसे कि वाच्य और लक्ष्य अर्थों का ज्ञान अभिधा और लक्षणा नामक व्यापारों के द्वारा होता है। वैसे ही व्यंग्य अर्थ के ज्ञान के लिये भी किसी व्यापार को स्वीकार करना पड़ेगा। व्यंग्य अर्थ की उपस्थिति मे शब्द का ज्ञापकत्व निमित्त स्वीकार करना तो ग्रन्थकार का भी अभिमत है; किन्तु व्यञ्जना व्यापार की स्वीकृति विना उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि शब्द का निमित्तत्व विना किसी व्यापार विशेष के मान लिया जायगा तो फिर वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ ग्रहण के लिये भी अभिधा और लक्षणा नामक व्यापारों की ही क्या आवश्यकता है? इसलिये जो लोग व्यञ्जना व्यापार को स्वीकार किये बिना अर्थज्ञान के लिये शब्द का निमित्तत्व स्वीकार करते हैं उनका मत युक्तिसङ्गत नहीं है।]

ये त्वभिदधति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इति 'यत्परः-शब्दः स शब्दार्थः' इति चविधिरेवात्र वाच्य इति। तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवा चोयुक्तेर्देवानां प्रियाः। तथाहि 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोप दिश्यते' इति कारक-पदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमाना प्रधानक्रियानिर्वर्त्त कस्वक्रियाभिसंबन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति ततश्चादग्धदहनन्याये न यावदप्राप्तं तावद्विधीयते यथा ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात्सिद्धे 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्र विधेयं हवनस्यान्यतः सिद्धेः 'दध्ना जुहोति' इत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्र विधेयम्।

जो लोग कहते हैं कि शब्द के अर्थ का ज्ञान क्रमशः बाण के व्यापार की भाँति बढ़ता और प्रबलतर होता जाता है वैसे ही जहाँ तक शब्द द्वारा अर्थ बोध हो सकता है वहाँ तक अभिधा व्यापार ही स्वीकार किया जाय। अतएव अन्वित विशेष वा विधि को भी वाच्यार्थ ही के अन्तर्गत मानना चाहिये और व्यञ्जना व्यापार की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं। वे भी यथार्थ तात्पर्य के ज्ञाता नहीं हैं किन्तु

देवताओं के प्यारे (बलि के पशु अर्थात् मूर्ख) ही हैं क्योंकि उन्होंने मीमांसकों की युक्ति का ठीक-ठीक भाव नहीं समझा। बात तो यह है कि जब भूत (सिद्ध) और भव्य (साध्य) पदार्थों का उच्चारण एक साथ किया जाता है तो भूत का उपदेश केवल भव्य के लिये ही किया जाता है। इस नियम के अनुसार जो कारक पदार्थ क्रिया पदार्थ के साथ अन्वित होते हैं तो प्रधान क्रिया को निबाहने वाले निजी क्रिया के आश्रित होने से वे साध्य (क्रिया द्वारा निष्पन्न होने योग्य) होते हैं। तदनन्तर जो अब तक नहीं जला है वही आग में जल सकता है इस न्याय से जहाँ तक क्रिया की प्राप्ति नहीं हुई है वहाँ तक कारक पदार्थ के साथ कहे हुए क्रिया पदार्थ में क्रियामात्र के अंश के विधेय या साध्य होने में तात्पर्य रहता है। इस विषय में एक उदाहरण जैसे—'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति', जब प्रमाणान्तरों से ऋत्विजों का प्रचरण रूप अनुष्ठान सिद्ध है तब (लाल पगड़ी वाले ऋत्विक् चलें) इस उपदेश वाक्य में ऋत्विजों की पगड़ियाँ लाल होनी चाहिये—इतना मात्र तात्पर्य है। अथवा जब अन्यत्र हवन के विधान की आज्ञा दी जा चुकी है तो 'दध्ना जुहोति' (दही से हवन करे) इस विधि वाक्य से केवल इतना ही तात्पर्य है कि हवन क्रिया दही द्वारा सम्पादित की जाय।

क्वचिदुभयविधिः क्वचित्त्रिविधिरपि यथा 'रक्तं पटं वय' इत्यादौ एकविधिर्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा ततश्च 'यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यम्' इत्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यन्न तु प्रतीतमात्रे एवं हि 'पूर्वो धावति' इत्यादावपराद्यर्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात्।

किसी किसी वाक्य में दो और किसी-किसी में तीन-तीन विधियाँ (आज्ञा रूप क्रियाएँ) भी हो सकती हैं। जैसे 'लाल कपड़ा बुनो' इस वाक्य में एक, दो या तीन विधि हो सकती हैं। भाव यह है कि यदि कोई भी वस्तु उपस्थित नहीं है तो एक विधि तो यह हुई कि सूत को लाकर बुनो; दूसरी विधि यह हुई कि कपड़े के रूप में बुनो और तीसरी विधि यह हुई कि कपड़े को लाल रंग से रँगो। अतः यहाँ

पर तीन कार्य करने हैं, अर्थात् बुनना, कपड़े का, लाल रंग से। इन तीनों विधियों में से जो असिद्ध होगी उसी के सिद्ध करने के लिये विधि क्रिया का प्रयोग किया जाता है। अतएव कहा गया है कि 'यदेव विधेय तत्रैव तात्पर्यमिति' अर्थात् जो विधेय (साध्य) रहता है उसी के लिये विधि कही जाती है। भाव यह है कि कथित शब्द का प्रकरणानुसार उपस्थित व्यापार मात्र से तात्पर्य रहता है; न कि किसी भी सम्बन्ध से उपस्थित होने वाले अर्थ से।

[साराश यह है कि जो शब्द विधेय की प्रतीति के लिये कहा गया है वह व्यंग्य की भी प्रतीति उत्पन्न करे—ऐसा समझना भूल होगी। यहाँ पर अर्थप्रतीति से व्यंग्यार्थ ज्ञान का आशय न होकर केवल विधेयमात्र की अवगति (ज्ञान विषयता) से है। व्यंग्य प्रतीति के लिये तो अवश्य किसी व्यापारान्तर की प्रतीक्षा होगी। नहीं तो यदि किसी भी सम्बन्ध से प्रतीत अर्थ के बोध को ऐसे ही स्वीकार कर लेंगे तो कहीं 'पूर्वो धावति' (अगला दौड़ता है) का अर्थ 'अपरो धावति' (पिछला दौड़ता है) ऐसा विपरीत अर्थ स्वीकार कर लेना पड़ेगा। और ठीक-ठीक अर्थप्रतीति के नियमों का तो लोप ही हो जायगा।]

यत्तु 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः, इत्यत्र 'एतद्गृहे न भोक्तव्यम' इत्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इति उच्यते तत्र चकार एक वाक्यता सूचनार्थः न चाख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभाव इति विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति 'विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुङ्क्थाः' इत्युपात्त शब्दार्थे एव तात्पर्यम्।

जो लोग कहते हैं कि 'विष भक्षय, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' अर्थात् चाहे विष खा लो, परन्तु इस मनुष्य के घर भोजन मत करना। इस वाक्य से 'एतद्गृहे न भोक्तव्यम्' अर्थात् इस मनुष्य के घर भोजन नहीं करना चाहिये इतना ही तात्पर्य है। इसी को वाक्यार्थ मान लेना उचित भी है। (इस रीति से जैसे तात्पर्य वाक्य के पदों से भिन्न अर्थवाला होता है वैसे ही व्यंग्य अर्थ भी मान लिया जाय) उसके अतिरिक्त

किसी व्यञ्जना व्यापार के मानने की कोई आवश्यकता नहीं है तो इस प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि यहाँ पर 'च' यह अक्षर जिसका कि अर्थ 'और' है उक्त दोनों वाक्यों की एक वाक्यता कराता है और 'भक्षय' (खाओ) तथा 'भुङ्क्ष्वाः' (खाइये) इन दोनों क्रिया पदों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव (गौण मुख्य भाव) है। इस कारण से मित्र के कथित विषभक्षण रूप वाक्य को अमुख्य न मानना चाहिये। किन्तु इस मनुष्य के घर में भोजन करना विषभक्षण की अपेक्षा भी अधिक हानिकारक है—ऐसा अर्थ कथित शब्दों ही से तात्पर्य द्वारा प्रकाशित होता है।

यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः ततः कथं 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' इत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वं कस्माच्च लक्षणा लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः किमिति च श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थानसमाख्यानां पूर्व पूर्व बलीयस्त्वमित्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम्।

यदि शब्द सुन लेने के पश्चात् जितना अर्थ प्रतीत हो उतने सब में अभिधा व्यापार ही मान लिया जाय तो 'हे ब्राह्मण! तुम्हें पुत्र उत्पन्न हुआ है' अथवा हे ब्राह्मण! तुम्हारी कुमारी कन्या गर्भवती हो गई' इत्यादि वाक्यों के अभिधेयार्थ हर्ष और विषाद आदि क्यों न कहे जायँ? और फिर लक्षणा नामक एक भिन्न व्यापार के मानने का भी कौन प्रयोजन है? लक्ष्य अर्थ भी क्रमशः बढ़ने वाले अभिधा व्यापार के द्वारा ही क्यों न सिद्ध मान लिया जाय? और फिर क्यों श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन छहों में पिछलों की अपेक्षा पूर्व वाले बलिष्ठ माने जावें? इन सब बातों पर ध्यान देने से अन्विताभिधानवादी के मत में भी विधिवाक्य (उस अधम व्यक्ति के निकट गमन रूप) की व्यञ्जकता सिद्ध होती है।

किञ्च 'कुरु रुचिम्' इति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्त्तिनि कथं दुष्ट

त्वम् । नह्यत्रासभ्योऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेति एवमादि अपरित्याज्यं स्यात् ।

और भी, यदि किसी काव्य में 'कुरु रुचिम्' ये दोनों पद उलट कर रख दिये जायँ तो काव्य क्यों दूषित हो ? भिन्न पदार्थों से अन्वित किसी पद द्वारा यहाँ पर असभ्य (अश्लील) अर्थ तो बोधगम्य है नहीं कि उसको अभिधेय मान लें। अतएव 'कुरु रुचि' को उलट कर पढने में काव्य मे 'चिहु' शब्द को परित्याग योग्य क्यों मानें ? ('कुरु रुचिं' के पदों को उलटने से जो रुचिं कुरु' ऐसा वाक्य बनता है उसमें जो चिङ्कु पद आया है, काश्मीर की भाषा में उसका अश्लील अर्थ होता है। इस अश्लील अर्थ की उपस्थित व्यञ्जना व्यापार स्वीकार न करनेवालों के मत में असिद्ध ही रहेगी, परन्तु काव्य में ऐसे अश्लील पदों का उपयोग दोष माना गया है)।

यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेयते तदासाधुत्वादीनां नित्यदोषत्व कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभाग करण मनुपपन्न स्यात्। न चानुपपन्न सर्वस्यैव विभक्ततया प्रतिभासात् वाच्यवाचकभावव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकताश्रयणे तु व्यङ्ग्यस्य बहुविधत्वात्क्वचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यत एव विभागव्यवस्था।

यदि वाच्य-वाचक भाव से भिन्न व्यंग्य व्यञ्जक भाव स्वीकार न किये जायँगे तो असाधुत्व आदि दोषों की नित्यता तथा कष्टत्व आदि दोषों की अनित्यता के विभाग कैसे सिद्ध होंगे ? ये विभाग भी असिद्ध नहीं हैं, क्योंकि प्रत्येक विलग-विलग प्रकट भी रहते हैं। यदि वाच्य-वाचक भाव से भिन्न व्यंग्य व्यञ्जक भाव स्वीकार कर लिया जाय तो व्यंग्य के नाना प्रकार युक्त होने के कारण कहीं-कहीं पर किसी का उचित होना सिद्ध हो जायगा तथा इनके विभाग के नियम भी ठीक उतरेंगे।

[सामान्यतः 'पिनाकी' और 'कपाली' इन दोनों शब्दों का वाच्यार्थ तो 'शिव जी' ही है; परन्तु व्यञ्जना द्वारा 'कपाली' पद में जो जुगुप्सा

का भाव प्रकट होता है वह 'पिनाकी' पद में नहीं है। इसी कारण से]

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।

अर्थ—कपाली (मनुष्य के खोपड़ियों की माला धारण करने वाले) शिव जी के समागम की प्रार्थना मे इस समय दो वस्तुएँ (चन्द्रमा की कला और पार्वती जी) शोचनीय दशा को प्राप्त हो गई हैं।

इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम्।

इत्यादि पदो मे 'पिनाकी' से विलक्षण होने ही के कारण 'कपाली' इस पद के प्रयोग से काव्य की शोभा बढ जाती है—ऐसा विचार लेना चाहिये।

अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ। न हि 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते। तथा च 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति, कर्मकरणान्निवर्तामहे इति साध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति, सतापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थस्तत्र तत्र प्रतिभाति।

और भी, किसी वाक्य का जो वाच्य अर्थ है वह तो सभी सुनने वा समझने वालों को एक ही सा प्रतीत होता है। अतएव नियत (सीमाबद्ध) है। जैसे 'सूर्यास्त हुआ' इस वाक्य का वाच्य अर्थ सदा एक-रूप ही रहेगा कुछ और नहीं होगा; परन्तु व्यञ्जना द्वारा प्रतीत इसी वाक्य का अर्थ अपने-अपने प्रकरण तथा वक्ता और श्रोता आदि के भेद से अनेक प्रकार का हो जाता है। जैसे—'सूर्यास्त हुआ' इस वाक्य को यदि राजा अपने सेनापति से कहता है तो अर्थ होगा कि शत्रुओं को बलपूर्वक पीस डालो। यदि इसी वाक्य को कोई दूती अभिसारिका नायिका से कहे तो अर्थ होगा कि अभिसार के लिये प्रस्तुत हो जाओ।

यदि सखी वासकसज्जा नायिका से कहे तो अर्थ होगा 'लो तुम्हारा प्रियतम आ पहुँचा'। यदि कर्मचारियों मे परस्पर बातचीत हो रही हो तो अर्थ होगा कि अब कार्य करना रोक दो'। यदि सेवक, किसी ब्राह्मण से कहे तो अर्थ होगा कि 'सन्ध्योपासन कीजिये' आप्त पुरुष कार्यवश किसी बाहर जानेवाले से कहे तो अर्थ होगा कि 'अब दूर मत जाओ'। गृहस्थ यदि अहीर से कहे तो अर्थ होगा कि 'गायों को घर के भीतर लाओ'। दिन भर का तपा मनुष्य अपने बन्धुओं से कहे होगा कि 'अब ताप नहीं हो रहा है'। बनिया अपने भृत्यों से कहे तो अर्थ होगा कि 'बिकने की वस्तुओं को बटोर लो'। प्रोषित-पतिका नायिका अपनी सखी से कहे तो अर्थ होगा कि 'अब तक मेरा प्रियतम नहीं आया'। इत्यादि अगणित अर्थ अपनी-अपनी दशा के अनुकूल भासित होते रहेंगे।

वाच्यव्यङ्ग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना

वाच्य और व्यंग्य इन दोनो अर्थों मे 'निःशेषच्युत, इत्यादि प्रतीक वाले श्लोक मे निषेध (तू उसके निकट नहीं गई) और विधि (तू उसी के समीप गई) के कारणों से भेद है।

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥१३३॥

अर्थ—हे आर्य वृन्द ! द्वेषभाव को छोड़ यथार्थ विचारपूर्वक ठीक युक्तियुक्त कार्य को बतलाइये कि सेवन करने योग्य नितम्ब (गिरि मध्य भाग) पर्वतों के हैं अथवा सेवन करने योग्य नितम्ब (कटि पश्चाद्भाग) कामावेश से सस्मितमुख विलासिनी युवतियों के हैं ?

इत्यादौ संशयशान्तश्रृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चयरूपेण।

इस श्लोक के वाच्य अर्थ में तो संशय है, परन्तु व्यंग्य अर्थ मे तो यह निर्णय है कि शान्त (वैरागी) पुरुष तो पर्वत के नितम्बों का और कामी विलासी पुरुष युवतियों के नितम्बों का सेवन करे। (अतएव सन्देह गर्भित होने से वाच्य अर्थ निर्णय रूप अर्थ वाले व्यंग्य अर्थ से भिन्न है)। इसी प्रकार—

कथमवनिपदर्पो यन्निशातासिधारा—
दलनगलितमूर्ध्ना विद्विषां स्वीकृता श्रीः।
ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता
त्रिदिवमपगताङ्गैर्वल्लभा कीर्तिरेभिः ॥१२४॥

अर्थ—हे राजन् ! आप इस बात पर भला क्या घमण्ड करते हैं कि आपने अपनी तीक्ष्ण तलवार की धार से शत्रुओं के शिर काट गिराये ? और उनकी सम्पत्ति भी छीन ली ? क्या आपको यह बात भी विदित है कि यद्यपि शत्रु मार डाले गये तथापि क्षत-विक्षत शरीर भी वे लोग आपकी प्यारी कीर्त्ति को अपने साथ स्वर्ग मे घसीट ले गये ?

इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वारूपस्य।

इस श्लोक के वाच्य अर्थ मे राजा की निन्दा और व्यग्य अर्थ में उसी की स्तुति झलकती है। इस प्रकार दोनों अर्थों में स्वरूप का भेद है।

पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः कालस्य, शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन च आश्रयस्य शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य, बोद्धृमात्रविदग्धव्यपदेशयोः प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च करणात् कार्यस्य गतोऽस्तमर्क इत्यादौ प्रदर्शितनयेन संख्यायाः—

वाच्यार्थ की प्रतीति पहिले और व्यग्य की पीछे होती है। इस प्रकार दोनों अर्थों की प्रतीति में काल का भेद भी है। दोनों अर्थों में आश्रय का भी भेद रहता है। क्योंकि वाच्य अर्थ तो केवल शब्दों के आश्रित रहता है। परन्तु व्यंग्य अर्थ तो शब्दों, उनके किसी भाग, अनेक भिन्न-भिन्न अर्थों और अक्षर योजनादि के भरोसे भी प्रकट हो जाता है। दोनों के निमित्त (कारणों) मे भी भेद रहता है। क्योंकि वाच्यार्थ तो केवल शब्दों के साकेतिक अर्थज्ञान मात्र से विदित हो जाता है। परन्तु व्यंग्यार्थज्ञान के लिये प्रकरण आदि तथा विशुद्ध बुद्धि

की भी सहायता अपेक्षित रहती है। उन दोनों के कार्यों में भी भेद है। वाच्यार्थ से केवल ज्ञानवान् मनुष्य को अर्थप्रतीति होती है; परन्तु व्यंग्यार्थ से चतुर सहृदय व्यक्ति के चित्त में चमत्कार भी उत्पन्न होता है। सूर्यास्त हुआ इस वाक्य का वाच्यार्थ तो एक ही है, परन्तु व्यंग्यार्थ तो अगणित होते हैं, जैसा कि ऊपर दिखला चुके हैं। इस प्रकार दोनों अर्थों मे सख्या का भेद भी है। ऐसे ही दोनों अर्थों में विषय का भेद भी स्वीकार करना चाहिये जैसे :—

कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वणं अहरं।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एण्हि ॥१३५॥

[छाया—कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥]

अर्थ—अपनी प्रियतमा के ओठों को क्षत-विक्षत देखकर किस पुरुष को क्रोध नहीं आ जाता है? अरे भौंरों सहित कमल के फूल को सूँघने वाली चञ्चला स्त्री अब तू मेरा निषेध न मानने का परिणाम भोग।

इत्यादौ सखीतत्कान्तादिगतत्वेन विषयस्य च भेदेऽपि यद्येकत्वं तत्क्वचिदपि नीलपीतादौ भेदो न स्यात्। उक्तं हि—'अयमेव हि भेदो भेद हेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च'—इति।

इत्यादि उदाहरणों में नायिका की सखी और उसके पति, सास, सपत्नी आदि से सम्बद्ध वार्तालाप मे विषय का भेद भी है। यदि इतने प्रकार के अनेक भेद होते हुए भी वाच्य और व्यंग्य इन दोनों अर्थों को एक ही मानना इष्ट है तो फिर कहीं भी नीले पीले रङ्ग वाले पदार्थों में भी भेद मानने का कौन काम है? लोगों ने कहा भी है कि भेद का कारण भी यही है कि परस्पर विरुद्ध धर्मों का ज्ञान हो और भेद का कारण भी बना रहे। वाचक शब्दों में तो अर्थज्ञान की अपेक्षा रहती है, परन्तु व्यञ्जक शब्दों मे तो अर्थज्ञान की भी वैसी अपेक्षा नहीं रहती। इस कारण से भी वाचकत्व और व्यञ्जकत्व एक ही पदार्थ नहीं है।

वाचकानामर्थापेक्षा व्यंजकानान्तु न तदपेक्षत्वमिति न वाचकत्वमेव व्यञ्जकत्वम्। किं च वाणीरकुडंगेत्यादौ प्रतीयमानमर्थमभिव्यज्य वाच्यं स्वरूपे एव यत्र विश्राम्यति तत्र गुणीभूतव्यंग्येऽतात्पर्यभूतोऽप्यर्थः स्व शब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवतरन् कस्य व्यापारस्य विपयतामवलम्बतामिति।

और भी 'वाणीर कुडङ्गु' इत्यादि श्लोक मे व्यंग्य अर्थ को प्रकट कर के जहाँ वाच्यार्थ अपने स्वरूप ही मे चमत्कार दिखला कर रह जाता है वहाँ गुणीभूत व्यंग्य के असुन्दर उदाहरण वाले व्यंग्य मे जो अर्थ न तो शब्दों ही से प्रकट होता है न उनका तात्पर्य ही है। वह (अर्थ) किस व्यापार के विपय के सहारे ठहर सकेगा?

ननु 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्' इति, 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्' इत्यादौ, लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति तदवगमश्च शब्दार्थायत्तः प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम। उच्यते। लक्षणीयस्यार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकाशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव न खलु मुख्येनार्थेनाऽनियतसम्बन्धो लक्षयितुं शक्यते। प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविशेषवशेन नियतसम्बन्धः अनियतसम्बन्धः सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते। न च—

यदि कोई कहे कि 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' अर्थात् मैं राम हूँ सब कुछ सहता हूँ या 'रामेण प्रिय जीवितेन तु कृत प्रेम्णः प्रियेनोचित' अर्थात् हे प्यारी सीते! जिसे अपना जीवन प्यारा है ऐसे राम ने प्रेम के अनुकूल क्रिया नहीं की' और 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्' अर्थात् 'ये श्रीराम जी अपनी वीरता के गुणों से चौदहों भुवन मे बड़ी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं'; इत्यादि उदाहरणों मे एक ही राम शब्द के अनेक लक्ष्य अर्थ होते हैं [जैसे—प्रथम उदाहरण में राम, सब दुःखों के भोगों का भाजन; द्वितीय उदाहरण मे निष्करुण और तृतीय उदाहरण में महाबली

योद्धा] और अर्थान्तरसङ्क्रमित इत्यादि प्रकरण मे विशेष अर्थ बोध के कारण भी होते हैं। उनका ज्ञान भी शब्द और अर्थ ही के अधीन हुआ करता है। तथा उसमे भी प्रकरण आदि की अपेक्षा रहती ही है तो लक्ष्य अर्थ ही पर सतोष क्यों न कर ले ? इस नये प्रतीत होने वाले व्यंग्यार्थ के मानने का कौन-सा प्रयोजन है। इसके उत्तर मे ग्रन्थकार कहते हैं कि लक्ष्य अर्थ अनेक प्रकार का होता है; पर वह भी अनेक अर्थ वाले शब्दों के वाच्य अर्थ के समान सीमाबद्ध ही रहता है। जिस अर्थ का मुख्य अर्थ से नियत सम्बन्ध नहीं है उसका बोध लक्षणा द्वारा नहीं हो सकता। परन्तु व्यग्य अर्थ मे तो प्रकरण आदि के भेद के कारण नियत सम्बन्ध, अनियत सम्बन्ध और सम्बद्ध सम्बन्ध भी रहकर प्रकाशित होता है। विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि के प्रकरण मे जहाँ मुख्य अर्थ की बाधा (अनुपपत्ति) नहीं है वहाँ लक्षणा कैसे हो सकेगा ? जैसे निम्नलिखित उदाहरण मे—

"अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअन्धिअ सेज्जाए महणिमज्जहिसि॥१२२॥"

[इस श्लोक का छाया और उसका अर्थ ऊपर तृतीय उल्लास के ३७ वें पृष्ठ पर लिखा जा चुका है।]

इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ मुख्यार्थबाधः। तत्कथमत्र लक्षणा लक्षणायामपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयितव्यमिति प्रतिपादितम्।

और फिर ऊपर सिद्ध भी कर आये हैं कि लक्षणा व्यापार के प्रकरण मे प्रयोजन आदि के प्रकाशनार्थ व्यञ्जना व्यापार का आश्रय ग्रहण करना ही पड़ेगा।

यथा च समयसव्यपेक्षाऽभिधा तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसमयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः।

जैसे कि अभिधा व्यापार के लिये सङ्केत की आवश्यकता रहती है वैसे ही लक्षणा व्यापार के लिए मुख्यार्थबाध आदि तीनों कारणों की

अपेक्षा रहती ही है। इसी कारण से लोगों ने लक्षणा को अभिधा का पुछल्ला कहा है।

न च लक्षणात्मकमेव ध्वननम् तदनुगमेन तस्य दर्शनात्। न च तदनुगतमेव अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात्। न चोभयानुसार्येव अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः, न च शब्दानुसार्येव अशब्दात्मकनेत्रविभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेरित्यभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्नवनीय एव।

ऐसा भी न समझ लेना चाहिये कि लक्षणा के साथ व्यञ्जना भी नियम से रहा करती है; इसलिए व्यञ्जना लक्षणात्मिका (लक्षणा से अभिन्न) है। क्योंकि व्यञ्जना लक्षणा ही के साथ रहती हो—ऐसा भी नियम नहीं है। व्यञ्जना अभिधा के सहारे भी रह सकती है। ऐसा भी नियम नहीं है कि व्यञ्जना अभिधा और लक्षणा इन्हीं दोनों के सहारे पर रह सकती हो, व्यञ्जना तो ऐसे वर्णों के आधार पर भी हो सकती है जिनका कुछ भी वाच्य अर्थ नहीं है। उच्चरित शब्दों ही में व्यञ्जना रहती हो ऐसा भी नियम नहीं है; विना शब्दोच्चारण किये भी नेत्र विभाग आदि से (कटाक्ष आदि द्वारा) देखने आदि कार्यों में भी व्यञ्जना व्यापार का उपयोग प्रसिद्ध है। अतएव अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा इन तीनों प्रकार के शब्द व्यापारों को छोड़ ध्वनन इत्यादि का पर्यायवाची व्यञ्जनात्मक व्यापार युक्तियों द्वारा खण्डनीय नहीं है।

[ऊपर नियत सम्बन्ध, अनियत सम्बन्ध और सम्बद्ध सम्बन्ध की चर्चा की गई है। उनमें से प्रत्येक का उदाहरण यहाँ पर क्रमशः प्रदर्शित किया जाता है।]

तत्र "अत्ता एत्थ" इत्यादौ नियतसम्बन्धः "कस्स व ण होइ रोसो" इत्यादावनियतसम्बन्धः।

नियत सम्बन्ध का उदाहरण 'अत्ता एत्थ णिमज्जइ' इत्यादि प्रतीक वाला श्लोक है। [जिसका अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है। यहाँ पर वाच्य अर्थ तो सेज पर गमन का निषेध-सूचक है परन्तु व्यंग्य अर्थ सेज

पर आगमन की अनुमति का द्योतक है ।] अनियत सम्बन्ध का उदाहरण भी उपर्युक्त 'कस्स व ण होइ' इत्यादि प्रतीक वाला (१३५वाँ) श्लोक है । [इसका भी अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है । यहाँ पर वाच्य अर्थ का विषय तो दष्टाधरा नायिका है । परन्तु व्यंग्य अर्थ के विषय नायक, पड़ोसिन, उपपति, सपत्नी, सास, उपपति की स्त्री आदि अनेक (अनियत सम्बन्ध) हो सकते हैं ।]

[सम्बद्ध-सम्बन्ध का उदाहरण :—]

विपरीअरए लच्छी बम्हं दट्ठूण णाहिकमलट्ठम् ।
हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झत्ति ढक्केइ ॥१३७॥

[छाया—विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम् ।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति ॥]

अर्थ— विपरीत रति के समय जब भगवती लक्ष्मी जी ने भगवान् विष्णु जी के नाभिकमल में स्थित प्रजापति ब्रह्मा को देखा तो कामावेग की व्याकुलता के कारण भगवान् विष्णु की दाहिनी आँख को तुरन्त ढक लेती हैं ।

इत्यादौ सम्बद्धसम्बन्धः । अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयः तेन पद्मस्य सङ्कोचः ततो ब्रह्मणः स्थगनं तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेन अनियन्त्रणं निधुवनविलसितमिति ।

यहाँ पर 'हरि' इस पद से (विष्णु की) दाहिनी आँख में सूर्य की स्थिति व्यञ्जित होती है । उसके मूँदने से सूर्यास्त हो जायगा, फलतः कमल भी मुँद जायगा और ब्रह्मा उसी में छिप जायँगे—ऐसा हो जाने पर लक्ष्मी जी के गोपनीय अङ्ग न दिखेंगे और तब सुरत विलास भी निर्विघ्न सम्पन्न होगा ।

'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः वाक्यमेव च वाचकम्' इति येऽप्याहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्त्तव्यैवेतिः तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव ।

वेदान्ती लोग जो कहते हैं कि "अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ

एव वाच्यः वाक्यमेव च वाचकम्' अर्थात् क्रिया कारक भाव से हीन-बुद्धि द्वारा भली भाँति ग्रहण करने योग्य वाक्यार्थ ही वाच्य होता है। और वाक्य ही को वाचक मानना उचित है। [तात्पर्य यह है कि क्रिया कारक भाव बिना धर्मिधर्म भाव के अवलम्बन किये नहीं हो सकता। संसार के मिथ्या होने के कारण धर्मिधर्म भाव भी सिद्ध नहीं होता! तथा ब्रह्म के निर्गुण होने से उसमे भी धर्मिधर्म भाव का समावेश नहीं है। निदान पद पदार्थ के विभागो को बिना माने ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सच्चा, ज्ञान स्वरूप, और अन्तरहित है, इस महावाक्य द्वारा अखण्ड ब्रह्म का बोध हो जाता है। इसी रीति से व्यंग्य अर्थ भी वाक्यों द्वारा बोध का विषय होने मे वाक्य ही की एक शक्ति विशेष मात्र है और कुछ नहीं—यह वेदान्तियों का सिद्धान्त है।] इसके उत्तर मे ग्रन्थकार कहते हैं कि समार की व्यवहार दशा मे अविद्या का अवलम्बन माननेवाले उन वेदान्तियो के मत मे भी पद और पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ेगी। अतः इस पक्ष मे भी ऊपर कहे गये उदाहरणों में विधि (तुम उस नायक के समीप गई थी) इत्यादि व्यंग्य अवश्य होंगे।

[व्यक्तिविवेक नामक ग्रन्थ के रचयिता न्यायाचार्य महिम भट्ट का मत है कि व्यग्यार्थ ज्ञान अनुमान द्वारा होता है, अब ग्रन्थकार मम्मट भट्ट महिम भट्ट के मत का उपस्थापन करके उसका खण्डन भी करते हैं।]

ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते, यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गात्। एवं च सम्बन्धाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपः पर्यवस्यति। तथाहि—

[न्यायाचाय महिम भट्ट का कथन है—] वाच्य अर्थ से सम्बन्ध न रखने वाले अर्थ की तो प्रतीति ही नहीं हो सकती। नहीं तो कहीं किसी वाक्य से किसी भी मनमाने अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। इस

प्रकार से बिना किसी नियत सम्बन्ध के व्यंग्य-व्यञ्जक भाव अवश्य ही होगा—ऐसा नियम नहीं है। किन्तु व्याप्तित्व, नियत और धर्मिनिष्ठ होने से इन तीन प्रकार के लिङ्गों (हेतुओं) से लिङ्गी (साध्य व अनुमेय पदार्थ) के ज्ञान का जैसे अनुमान किया जाता है, व्यंग्य अर्थ की प्रतीति भी उसी रूप में परिणत होती है।

[साध्य (अनुमेय पदार्थ) का सपक्ष (नियमपूर्वक किसी पदार्थ की प्राप्ति के स्थान) में होना व्याप्ति कही जाती है। उसी साध्य का विपक्ष (पक्ष से भिन्न ऐसा स्थान जहाँ वह पदार्थ नियमपूर्वक अप्राप्य हो) में न होना (अर्थात् अभाव) नियत कहलाता है। पक्ष सहित होने को धर्मिनिष्ठ कहते हैं। अनुमान के प्रकरण मे इन तीनों के ज्ञान की परम आवश्यकता रहती है। इनमें से किसी एक मे भेद वा व्यत्यय पड जाने से निश्चित अनुमान ज्ञान में बाधा पड़ जाती है।]

[अनुमान द्वारा व्यंग्य अर्थ के ज्ञान को उत्पन्न करने वाला उदाहरण :—]

"भम धम्मिअ बीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण।
गोलाणईकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥१३८॥

[छाया—भ्रम धार्मिक ! विश्रब्धः स शूनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥]

अर्थ—[गोदावरी नदी के तट पर स्थिति निकुञ्ज को अपना सङ्केत स्थल बताने वाली कोई अभिसारिका नायिका अपने कार्य मे विघ्न स्वरूप फूल चुनने वाले, किसी धर्मात्मा पुरुष से (उसके नदी तीर गमन के निवारणार्थ) कहती है:—] हे धर्मात्मा पुरुष, अब आप वहाँ जाकर बेखटके घूमिये, क्योंकि गोदावरी नदी के तीर पर स्थित घने निकुञ्ज के निवासी उस घमण्डी सिंह ने आज उस कुत्ते को (जो आप को भूँक-भूँक कर डरवाया करता था) मार डाला है।

अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमण-

मनुमापयति। यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः।

यहाँ पर कुत्ते की अनुपस्थिति से (घर में) घूमने की विधि (संमति) कही गई है। और गोदावरी नदी के तीर पर सिंह के उपस्थित होने से वहाँ पर घूमने के निषेध का अनुमान किया गया है। व्याप्ति का प्रकार इस तरह है। जहाँ-जहाँ भीरु पुरुष घूमता है वहाँ-वहाँ भय के कारणों के अभाव (अनुपस्थिति) को पाकर ही वह घूमता है। और गोदावरी नदी के किनारे सिंह उपस्थित है; अतः व्यापक नियम के विरुद्ध कारण की प्राप्ति हुई। अतएव यह अनुमान किया गया कि गोदावरी नदी के तीर पर सिंह की उपस्थिति के कारण घूमने के लिये वहाँ न जाना और कुत्ते के मारे जाने पर भी घर ही में बेखटके भ्रमण करना उचित है।

अत्रोच्यते। भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः अपि तु वचनात् न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च तत्कथमेव विधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः।

इस विषय में काव्यप्रकाशकार मम्मट भट्ट जी का कथन है कि कभी-कभी भीरु पुरुष भी गुरु अथवा स्वामी की आज्ञा से अथवा अपनी प्यारी स्त्री ही के प्रेम से किंवा इसी प्रकार के किसी अन्य कारण से भय के उपस्थिति रहने पर भी निर्दिष्ट स्थल पर घूमने जाता ही है। अतएव यह हेतु कि जहाँ-जहाँ भीरु मनुष्य घूमता है वहाँ-वहाँ भय के कारणों के अभाव ही में घूमता है अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है। कोई पुरुष स्पर्श भय से कुत्ते से डरता हुआ भी वीरता के कारण सिंह से भी नहीं डरता, ऐसा भी हो सकता है। अतएव यह हेतु कि कुत्ते तक से डरता है तो सिंह से अवश्य ही डरता होगा, विरुद्ध भी पड़ जाता है। गोदावरी नदी के तट पर सिंह की उपस्थिति न तो प्रत्यक्ष प्रमाण

द्वारा और न अनुमान ही से सिद्ध की गई है ; किन्तु वचन मात्र से। और उस वचन की भी कोई प्रामाणिकता नहीं। एक तो ये वचन व्यभिचारिणी स्त्री के हैं, जिनका सत्य होना ही सदिग्ध है और दूसरे अर्थ के साथ इसके सम्बन्ध होने मे भी सन्देह है। इस प्रकार से यह हेतु असिद्ध भी है। अतः इस प्रकार के दोष विशिष्ट हेतु से साध्य (व्यंग्यार्थ) की सिद्धि कैसे हो सकती है?

तथा निःशेपच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति अतःश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोगे एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि।

इसी प्रकार निःशेषच्युत इत्यादि प्रतीक वाले श्लोक मे सम्भोग का पता देने वाले 'चन्दन का लेप छूटना' आदि जो कारण कहे गये हैं वे अन्यान्य कारणो से भी हो सकता हैं। तदनुकूल यहाँ पर स्थान के नाम से वर्णन किये गये हैं। वे लक्षण केवल उपभोग ही के लिये नियत नहीं हैं। अतएव अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हेतु हैं। (और अनुमान ज्ञान की सिद्धि के बाधक हैं।)

व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम्। नचात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम्। एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थः उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तद् अदूषणम्।

व्यञ्जना शक्ति को स्वीकार करने वाले विद्वान् 'अधम' पद की सहायता से इसकी व्यञ्जकता मान लेते हैं। यह बात ऊपर कही जा चुकी है। और यहाँ पर जो 'अधम' पद कहा गया है वह भी किसी पक्के प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं है। अतएव ऐसी दशा मे भला कैसे अनुमान किया जा सकता है? व्याप्ति आदि कारणों की उपपत्ति वा सिद्धि के बिना भी इस प्रकार के शब्द से ऐसा अर्थ निकल सकता है, इस मत के स्वीकार करने वाले व्यक्तिवादी (व्यञ्जना व्यापार) को स्वीकार करने वाले) विद्वान् के मत में यह कोई दोष ही नहीं है।

षष्ट उल्लास

[अब ग्रन्थकार प्रसङ्गतः प्राप्त अधम काव्य का निरूपण करते हुए कहते हैं—]

(सू० ७०) शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिश्चित्रार्थशब्दयोः ॥४८॥

अर्थ—शब्दचित्र और अर्थचित्र नामक जो अधम काव्य के दो भेद ऊपर (प्रथम उल्लास में) उदाहरण द्वारा दिखाये गये हैं उनमे शब्द और अर्थ दोनों की विचित्रता चाहे दोनों में ही पाई जाती हो फिर भी गौण और मुख्य के भेद से उनके शब्दचित्र और अर्थचित्र ये दो नाम दिये गये हैं।

[तात्पर्य यह है कि यद्यपि शब्दचित्रवाले उदाहरणों में अर्थचित्र भी पाये जा सकते हैं और अर्थचित्रवाले उदाहरणों मे शब्दचित्र भी दुष्प्राप्य नहीं हैं। तथापि जिस कविता में केवल शब्दों ही का विशेष चमत्कार है, अर्थ का उतना नहीं, उस कविता को शब्द चमत्कार की मुख्यता से शब्दचित्र कह कर उद्धृत करते हैं। वैसे ही जिस कविता में अर्थचित्र ही प्रधानरूप से प्रदर्शित हों और शब्दगत चत्मकार वैसे न हों अर्थात् शब्द चमत्कार गौण हों तो उस कविता को अर्थ चमत्कार की प्रधानता की दृष्टि से अर्थचित्र के नाम से उद्धृत करते हैं, इस प्रकार समझना चाहिये।]

न तु शब्दचित्रेऽर्थस्याचित्रत्वम् अर्थचित्रे वा शब्दस्य। तथा चोक्तम्।

ऐसा कदापि न समझना चाहिये कि शब्दचित्रवाले उदाहरण मे अर्थचित्र होगा ही नहीं। अथवा अर्थचित्र के उदाहरण मे शब्दचित्र ही न होगा। जैसा कहा भी है—

"रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥
रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥" इति

अर्थ—बहुतेरे अलकार शास्त्रज्ञों ने रूपक, उपमा आदि अर्थालंकारों ही को नाना प्रकार से काव्य का अलकार (भूषणकर्ता) कहा है, (शब्दालंकार को नहीं)। जैसे सुन्दरी स्त्री का भी मनोहर मुख बिना कुण्डल आदि भूषणों के शोभित नहीं होता, वैसे ही बिना अर्थालकार के काव्य की शोभा नहीं होती। दूसरे अलकार शास्त्र के वेत्ता लोग रूपक, उपमा आदि अर्थालङ्कारों को बाह्य (बाहरी अर्थात् काव्यार्थ प्रतीति के पीछे उत्पन्न होने वाले) बतलाते हैं। वे सुबन्त और तिङन्त पदों के अनुप्रास आदि वा रचनादिरूप शब्दालकार ही को अधिक चमत्कारकारक मानते हैं, और कहते हैं कि शब्द रचना का चतुराई जितनी चित्ताकर्षक होती है उतनी अर्थालंकार की नहीं। परन्तु हम लोगों को तो दोनों प्रकार के भेदों से विशिष्ट काव्य चमत्कारजनक होने से रुचते हैं।

शब्दचित्रं यथा—

शब्दचित्र का उदाहरण :—

प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभः
तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः।
उदयति ततो ध्वान्तध्वंसक्षमः क्षणदामुखे
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥१२६॥

अर्थ—रात्रि के प्रारम्भ काल में चन्द्रमा पहले तो कुछ ललाई लिये हुए, फिर सुवर्ण के समान पीली चमकवाला, तदनन्तर प्रिय विरह से व्याकुल कृशांगी स्त्री के कपोल तल के समान और अन्त में जड़ से

छाल हटाई हुई चिकनी कमलिनी सा उज्ज्वल दिखाई पड़ता है। वैसा बनकर अन्धकार को दूर करने की शक्ति से विशिष्ट होकर (चन्द्र बिम्ब) उदय को प्राप्त होता है।

[इस श्लोक में दो मकारों का, कतिपय तकारों का, दो ककार, दो धकार, दो त्वकार, दो छकारों का तथा कतिपय सकार, छकार और लकारों का अनुप्रासरूप शब्दालंकार प्रदर्शित है।]

अर्थचित्रं यथा—

अर्थचित्र का उदाहरण :—

ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र
क्षोभाय पक्ष्मलदृशामलकाः खलाश्च।
नीचाः सदैव सविलासमलीकलग्ना
ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति ॥१४०॥

अर्थ—बहुत पलकों (बरौनियों) युक्त नेत्रों वाली सुन्दरी स्त्रियों की अलकावली और खलमण्डली केवल दिखाई ही देने पर किसके चित्त में क्षोभ नहीं उपजातीं? ये दोनों नीच हैं। दोनों ही विलास के साथ अलीक (ललाटपट्ट वा मिथ्या भाषण) में प्रेम से लिपटी रहा करती हैं तथा अपनी कुटिलता (टेढ़ापन वा ओछापन) के साथ श्यामता (कालेपन वा नीच स्वभाव) का भी ये कभी परित्याग नहीं करतीं।

[इस श्लोक में समुच्चय और दीपक आदि अर्थालंकार के उदाहरण प्रदर्शित किये गये हैं।]

यद्यपि सर्वत्र काव्येऽन्ततो विभावादिरूपतया पर्यवसानम् तथापि स्फुटस्य रसस्यानुपलम्भादव्यङ्ग्यमेतत्काव्यद्वयमुक्तम्। अत्र च शब्दार्थालंकारभेदाद्बहवो भेदाः ते चालंकारनिर्णये निर्णेष्यन्ते।

यद्यपि अन्ततोगत्वा सभी काव्यों का विभावादिरूप में ही परिणाम देखने में आता है तथापि जहाँ पर रस आदि स्फुट (स्पष्ट) रूप से भासित नहीं होते और व्यंग्य भी रहता है, उसी स्थल पर इन शब्द-

चित्र और अर्थचित्र नामक अधम काव्यों का उल्लेख किया जाता है। इस चित्र काव्य प्रकरण मे शब्दालंकार और अर्थालंकार के अनेक भेद-प्रभेद होते हैं जिनका विस्तारपूर्वक निर्णय अलकार निर्णय ही के प्रकरण में (नवम तथा दशम उल्लास में) किया जायगा।

सप्तम उल्लास

काव्यस्वरूपं निरूप्य दोषाणां सभान्यलक्षणमाह

तीनों प्रकार के काव्यों अर्थात् उत्तम (ध्वनि), मध्यम (गुणीभूत व्यंग्य) और अधम (शब्द और अर्थ चित्रयुत व्यंग्य रहित) का स्वरूप निरूपण करके अब उनके दोषों के साधारण लक्षण गिनाये जाते हैं—

(सू०७१) मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।

उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥४६॥

अर्थ—मुख्य अर्थ के ज्ञान के विघातक कारणों को दोष कहते हैं, काव्य में रस तो मुख्य होता ही है; परन्तु उसी रस के आश्रित (उपकारक होने के कारण अपेक्षित) वाच्य अर्थ भी मुख्य होता है। और रस तथा वाच्य अर्थ इन दोनों के उपयोग में आने वाले शब्दादिक भी हैं; अतएव उन शब्दों और अर्थों में भी दोष होता है।

हतिरपकर्षः । शब्दाद्याः इत्याद्यग्रहणाद्वर्णरचने ।

मूलकारिका में हति, अपकर्ष (विघात)। शब्दाद्याः अर्थात् शब्द आदि। आदि के कहने से शब्दों के साथ वर्णों (अक्षरों) और रचनाओं का भी ग्रहण होता है।

विशेषलक्षणमाह

अब काव्यगत दोषों के विशेष लक्षण कहे जाते हैं—

(सू०७२) दुष्ट पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।

निहितार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाश्लीलम् ॥५०॥

सन्दिग्धमप्रतीत ग्राम्य नेयार्थमथ भवेत्क्लिष्टम् ।

अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत्समासगतमेव ॥५१॥

अर्थ—पदों के दोष सोलह प्रकार के होते हैं। वे निम्नलिखित हैं:—

(१) श्रुतिकटु, (२) च्युत संस्कृति, (३) अप्रयुक्त, (४) असमर्थ,

(५) निहतार्थ, (६) अनुचितार्थ, (७) निरर्थक, (८) अवाचक, (९) तीन प्रकार के अश्लील, (१०) सन्दिग्ध, (११) अप्रतीत, (१२) ग्राम्य, (१३) नेयार्थ (१४) क्लिष्ट, (१५) अविमृष्टविधेयांश और (१६) विरुद्ध-मतिकृत्।

(१) श्रुतिकटु परुषवर्णरूपं दुष्टं यथा—

[श्रुतिकटु अर्थात् कानों को कठोर लगने वाले पद दोषयुक्त माने जाते हैं।]

उदाहरणः—

अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गतरङ्गितैः।

आलिङ्गितः स तन्वंग्या कार्तार्थ्यं लभते कदा ॥१४१॥

अर्थ—मदनोत्सव के निवासस्थान स्वरूप कटाक्षों के फेरने से उमङ्गयुक्त उस कृशाङ्गी से आलिङ्गित होकर वह युवा पुरुष कब कृतार्थता (सफलता) को पावेगा?

अत्र कार्तार्थ्यमिति।

यहाँ पर 'कार्तार्थ्य' यह पद श्रुति कटु (श्रवण को कटु लगने वाला) है।

(२) च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीन यथा—

'च्युत संस्कृति' से तात्पर्य यह है कि जो व्याकरण के नियमानुकूल न हो [अर्थात् जिस प्रयोग मे व्याकरण सम्बन्धी भूल हो] उदाहरणः—

एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डुर—
प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्श क्षमं लक्ष्यते।
तत्पल्लीपतिपुत्रि! कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना—
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः ॥१४२॥

अर्थ—हे क्षुद्र ग्रामाधीश की बेटी! ये जो तुम्हारे दोनों स्तन अधपके तेंदू के फल के समान सुन्दर मध्यभाग विशिष्ट हैं। उनके किनारे के भाग कुछ पीतवर्ण के हैं। वे (स्तन) पुलिन्द (भील) युवक द्वारा मर्दन किये जाने योग्य दिखाई देते हैं। अतः इन्हे पत्ते से ढाँक

कर मत रखो। क्योंकि हाथियों के समूह अपने गण्डस्थलों के अभय दान के लिए दीन होकर तुम से ऐसी याचना (प्रार्थना) करते हैं। [क्योंकि खुला रहने के कारण स्तनों की ओर आकृष्ट होकर पुलिन्द हाथियों को नहीं मारेगा।]

अत्रानुनाथते इति। 'सर्पिषो नाथते' इत्यादावेवाशिष्येव नाथतेरात्मनेपदं विहितम् "आशिषिनाथ" इति। अत्र तु याचनमर्थः। तस्मात् 'अनुनाथतिस्तनयुगम्' इति पठनीयम्।

यहाँ पर 'अनुनाथते' यह प्रयोग व्याकरण से अशुद्ध है। क्योंकि 'सर्पिषो नाथते' (मुझे घी मिले—ऐसी आशीष चाहता है) इत्यादि उदाहरणों में आशीर्वाद ही के अर्थ में 'नाथ' धातु आत्मनेपदी होता है। प्रमाण के लिये पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के १।३।२७ सूत्र पर कात्यायन विरचित वार्तिक में 'आशिषि नाथः' अर्थात् आशीर्वादार्थक 'नाथ' धातु आत्मनेपदी रूप ग्रहण करे, ऐसा नियम है। पर यहाँ तो उक्त धातु का अर्थ याचना (प्रार्थना) है अतएव परस्मैपदी का रूप बनाकर 'अनुनाथतिस्तनयुगम्' यह शुद्ध पाठ रखना उचित है।

(३) अप्रयुक्तं तथा आम्नातमपि कविभिर्नादृतम्। यथा

अप्रयुक्त अर्थात् व्याकरण आदि के नियमों से शुद्ध होने पर भी कवियों ने जिन शब्दों का प्रयोग न किया हो—ऐसे पदों का उपयोग दोषयुक्त माना जाता है।

उदाहरण :—

यथायं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते।
तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथ वा ॥१४६॥

अर्थ—यह पुरुष तो सदा अत्यन्त कठोर आचरण वाला दिखलाई पड़ता है अतः मैं समझता हूँ कि इसका उपास्य देवता भी कोई पिशाच अथवा राक्षस है।

अत्र दैवतशब्दो 'दैवतानि पुंसिवा' इति पुंस्याम्नातोऽपि न केनचित्प्रयुज्यते।

यहाँ पर 'दैवत' शब्द का प्रयोग पुल्लिंग मे किया गया है। यद्यपि अमरकोश में 'दैवतानि पुंसिवा' अर्थात् 'दैवत' शब्द का प्रयोग नपुं॰सकलिंग और पुल्लिंग में विकल्प करके होता है, ऐसा नियम लिखा है तथापि किसी कवि ने इस शब्द का पुल्लिंग मे प्रयोग नहीं किया है। अतएव पुल्लिंग में 'दैवत' शब्द का प्रयोग अप्रयुक्त नामक दोष से युक्त है।

(४) असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः। यथा

असमर्थ अर्थात् जिस अर्थ के बोध के लिए किसी शब्द का पाठ तो कोशादि में किया गया हो; परन्तु उस अर्थ के बोध की शक्ति उस शब्द में न हो।

उदाहरण :—

तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्चितसत्कृतिः।
सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम् ॥१४४॥

अर्थ—अन्यान्य तीर्थों में स्नान कर पुण्यभागी होकर अब यह तपस्वी गंगा जी को जाता है।

अत्र हन्तीति गमनार्थम्

यहाँ पर 'हन्ति' शब्द का प्रयोग 'जाता है' इस तात्पर्य से किया गया है। परन्तु 'हन्ति' शब्द में गमन अर्थ के बोध की शक्ति नही है।

(५) निहतार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तं। यथा

निहतार्थ से तात्पर्य उस शब्द से है, जिसके दो अर्थों मे से एक प्रसिद्ध हो और दूसरा अप्रसिद्ध। उनमे से वह अप्रसिद्ध अर्थ में उपयुक्त किया गया हो। उदाहरण :—

यावकरसार्द्रपादप्रहारशोणितकचेन दयितेन।
मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिचुम्बिता सहसा ॥१४५॥

अर्थ—महावर से गीले चरण के प्रहार मे जिसके बाल कुछ-कुछ लाल रंग के हो गये हैं, ऐसे प्यारे पति ने नायिका को भय से चञ्चल और मुग्ध (किंकर्तव्यविमूढ) देखकर सहसा उसका अनेक बार चुम्बन किया।

अत्र शोणितशब्दस्य रुधिरलक्षणेनार्थेनोज्ज्वलीकृतत्वरूपोऽर्थो व्यवधीयते ।

यहाँ पर 'शोणित' शब्द के 'रुधिर' रूप प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ लाल रंग का ऐसा अप्रसिद्ध अर्थ व्यवहित (विलम्ब में प्रतीति योग्य) होता है । अतएव यह निहतार्थ दोष युक्त है ।

(६) अनुचितार्थं यथा—

अनुचितार्थ का उदाहरण:—

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते
प्रयत्नतः सत्त्रिभिरिष्यते च या ।
प्रयान्ति तामाशुगतिं यशस्विनो
रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः ।।१४६।।

अर्थ—जिस गति को तपस्वी लोग अधिक समय के परिश्रम द्वारा पाते हैं और दीर्घकाल तक यज्ञों के अनुष्ठान करने वाले बड़े-बड़े यत्नों से जिस गति को प्राप्त करते हैं । उसी गति को युद्ध रूप अश्वमेध यज्ञ मे पशुवत् बलिदान किये गये वीर यशस्वी तुरन्त ही पा जाते हैं ।

अत्र पशुपदं कातरतामभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थम् ।

यहाँ पर 'पशु' यह पद कातरता का सूचक होने से अनुचित अर्थवाला हो गया है ।

(७) निरर्थकं पादपूरणमात्रप्रयोजनं चादिपदम् । यथा

निरर्थक च, इत्यादि उन पदों को कहते हैं जो केवल श्लोक के चरण भर के पूरा करने के लिये उपयोग मे लाये जाते हैं । उनका कुछ और प्रयोजन नहीं होता ।

उदाहरण :—

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते मम हि गौरि ।
अभिवाञ्छितं प्रसिद्ध्यतु भगवति ! युष्मत्प्रसादेन ।।१४७।।

अर्थ—खिले हुए कमल के पराग के समान शुभ्र चमकवाली थी

भगवती पार्वती जी ! मुझे ऐसी आशीष दीजिये कि आपके अनुग्रह से मेरी इष्ट सिद्धि हो ।

अत्र हि शब्दः ।

यहाँ पर श्लोक मे 'हि' शब्द निरर्थक है ।

(८) अवाचकं यथा

अवाचक दोप का उदाहरण:—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥१४८॥

अर्थ—[युधिष्ठिर को युद्ध के लिए प्रेरणा देती हुई द्रौपदी कह रही हैं—] जिस वीर का क्रोध कभी निष्फल नहीं होता, और जो अपनी उदारता से दूसरों की विपत्तियों का निवारण कर सकता है, सभी लोग ऐसे मनुष्य के वशवर्ती हो जाते हैं। परन्तु जो तुच्छ (अनुदार) जीव क्रोध से रहित है। उसका आदर न तो मित्रों द्वारा किया जाता है और न उसके शत्रु ही उससे डरते हैं।

अत्र जन्तुपदमदातर्यर्थे विवक्षितन्तत्र च नाभिधायकम् ।

यहाँ पर 'जन्तु' (तुच्छ जीव) पद का 'अदाता' (दान न करने वाला) के अर्थ में प्रयोग करना इष्ट है । परन्तु 'जन्तु' शब्द से 'अदाता' पद का बोध नहीं होता । अतएव यह अवाचक है ।

यथा वा

अवाचक का एक अन्य उदाहरण :—

हा धिक् सा किल तामसी शशिमुखी दृष्टा मया यत्र सा
तद्विच्छेदरुजाऽन्धकारितमिदं दग्धं दिनं कल्पितम् ।
किं कुर्मः कुशले सदैव विधुरो धाता न चेत्तत्कथं
तादृग्यामवतीमयो भवति मे नो जीव लोकोऽधुना ॥१४९॥

अर्थ—[उर्वशी के विरह मे व्याकुल राजा पुरूरवा कहते हैं—] हा ! मुझे धिक्कार है कि वह तो अँधेरी रात थी जब मैं उस चन्द्रमुखी को देख पाया था । परन्तु उसके वियोग से यह प्रकाशमय दिन भी

दुःखदायी और तिमिरपूर्ण हो गया। हाय! क्या करूँ? इष्ट पदार्थों के विषय में विधाता सदैव प्रतिकूल ही रहता है नहीं तो क्यों मेरा समस्त जीवन काल उसी प्रकार की रात्रि से युक्त नहीं हो जाता?

अत्र दिनमिति प्रकाशमयमित्यर्थेऽवाचकम्।

यहाँ पर 'दिन' यह शब्द प्रकाशमयकाल के लिये अवाचक है।

यच्चोपसर्गसंसर्गादर्थान्तरगतम्। यथा—

जिसमें उपसर्ग लगाने से कोई शब्द अपने ठीक अर्थ को छोड़ किसी भिन्न अर्थ का वाचक बनाया जा सकता है—ऐसे अवाचक का उदाहरण:—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी—
सम्भृताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥१५०॥

अर्थ—अपने पति महादेव जी के नृत्त का अनुकरण करते समय पार्वती जी का ऊपर की ओर उठाया गया वह चरण विजयी है जो देवी के शरीर रूप निर्मल सौन्दर्य की बावली में उत्पन्न कमल की शोभा को भली भाँति धारण करता है। जिस चरण रूप कमल में जङ्घा काण्ड ही लम्बा नाल है, नख की प्रभा ही केसरों की पंक्ति के समान नतोन्नत है, नये लगाये हुए महावर की चमक का विस्तार ही नये पत्ते हैं और नूपुर बजने के सुन्दर शब्द ही जहाँ भौंरे के गुंजार के समान हैं।

अत्र दधदित्यर्थे विदधदिति।

यहाँ 'दधत्' (धारण करता है) अर्थ में 'विदधत्' ('वि' उपसर्ग युक्त वही शब्द) अवाचक है। क्योंकि 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'धा' धातु का अर्थ विधान (कार्य करना वा अनुष्टान) हो जाता है।

(६) त्रिधेति व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वात्। यथा

लज्जा, घृणा और अमङ्गल (अशकुन) के भावों के प्रकाशक होने से तीन प्रकार के अश्लील पद होते हैं।

क्रमशः उदाहरण :—

साधन सुमहद्यस्य यन्नान्यस्य विलोक्यते ।
तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहेतारालितां भ्रुवम् ॥१५१॥ [१]

अर्थ—जिस राजा की सेना इतनी बड़ी है कि जैसी किसी अन्य के पास देखने में नहीं आती, उस बुद्धिमान राजा की टेढी भौंह (क्रोधयुक्त दृष्टि को, कौन सह सकता है ?

[यहाँ पर साधन शब्द के पुरुष चिह्न के भी बोधक होने के कारण यह लज्जाजनक अश्लीलता का उदाहरण हो गया है ।]

[घृणा जनक अश्लीलता का उदाहरण :—]

लीलातामरसाहतोऽन्यवनितानिश्शङ्कदष्टाधरः
कश्चित्केसरदूषितेक्षण इव व्यामील्य नेत्रे स्थितः ।
मुग्धा कुड्मलिताननेन दधती वायुं स्थिता तत्र सा
भ्रान्त्या धूर्ततयाथवा नतिमृते तेनानिशं चुम्बिता ॥१५२॥ [२]

अर्थ—किसी पुरुष के निचले ओठ को किसी पर स्त्री ने बेखटके काट लिया था [अथवा जिस पुरुष ने बेखटके पर स्त्री के निचले ओठ को काट लिया था] जब उसकी नायिका ने खेल ही खेल मे उसे कमल से मार दिया तब कुछ कमल की धूलि से भरी आँख वाला बन कर वह नायक आँखे मूँद कर ठमक गया । भोली भाली नायिका अपना मुख गोला करके उसकी आँखो में वायु बहाने (फूँकने) लगी । स्त्री को ऐसा करता देखकर उस नायक ने भूल से अथवा धूर्तता से बिना प्रणाम किये ही चिरकाल तक उस स्त्री का मुख चुम्बन किया ।

[यहाँ पर वायु शब्द का अपान वायु अर्थ भी होता है, अत. जुगुप्साजनक अश्लीलता का यह उदाहरण है ।]

[अमङ्गल सूचक अश्लीलता का उदाहरण :—]

मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशात्
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽद्य जातः ।

रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे कं हरेऽप वर्हीं ॥१५३॥ [३]

अर्थ—मन्द-मन्द वायु से आन्दोलित, घनी, सुन्दर रूपवाली मोर की पूँछ आज मेरी प्यारी के लुप्त (अदृश्य) हो जाने पर शत्रुहीन हो गई। उस मनोहर केश कलाप वाली प्यारी स्त्री के संमुख भला मयूर किसको विजित कर सकता था। जब कि रति काल मे फूलों से गुथे हुए उसके कच बन्धन बिखर पड़ेंगे।

[यहाँ पर 'विनाश' शब्द के मृत्यु अर्थ का बोधक होने से यह अमङ्गल सूचक अश्लील है।]

एषु साधनवायुविनाशशब्दा व्रीडादिव्यञ्जकाः।

ऊपर उद्धृत इन तीनों श्लोकों में क्रमशः 'साधन' (सेना वा लिङ्ग) वायु (पवन वा अपान वायु) और विनाश (अदर्शन वा मृत्यु) लज्जा, जुगुप्सा और अशकुन का बोध कराते हैं।

(१०) सन्दिग्धं यथा

सन्दिग्ध का उदाहरण :—

आलिङ्गितस्तत्रभवान् संपराये जयश्रिया।
आशीः परम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ॥१५४॥

अर्थ—युद्ध मे जयश्री से समालिङ्गित होकर प्रतिष्ठा योग्य आप वन्दनीय आशीर्वाद की श्रेणी को सुनाकर (शत्रुओं पर) कृपा कीजिये।

अत्र वन्द्यां किं हठहृतमहिलायां किम्वा नमस्यामिति सन्देहः।

यहाँ पर 'वन्द्या' शब्द के दो अर्थ इस प्रकार लगते हैं—

बलात्कार से छीन ली गई महिला, अथवा प्रणाम के योग्य स्त्री व्यक्ति। उदाहृत श्लोक में 'वन्द्या' से तात्पर्य किस अर्थ से है, प्रथम वा द्वितीय से—इसका सन्देह यहाँ पर बना ही रह जाता है। अतएव यह सन्दिग्ध है।

(११) अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम्। यथा

अप्रतीत पद वह है जो केवल एक ही शास्त्र में प्रसिद्ध हो। उदाहरण :—

सम्यग्ज्ञानमहाज्योतिर्दलिताशयताजुषः।
विधीयमानमप्येतन्न भवेत्कर्म बन्धनम् ॥१५५॥

अर्थ—तत्वज्ञान रूप महाप्रकाश के कारण जिसकी सब वासनाएँ क्षीण हो गई हैं, ऐसे भाव वाले मनुष्य से किये गये ये कर्म बन्धन स्वरूप नहीं होते।

अत्राशयशब्दो वासनापर्यायो योगशास्त्रादावेव प्रयुक्तः।

यहाँ पर 'आशय' शब्द जो वासना का पर्यायवाची है केवल योगशास्त्र ही मे उपयुक्त होता है। इस कारण से अन्यत्र अप्रतीत कहा जायगा।

(१२) ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम्। यथा

ग्राम्य उसे कहते हैं जो केवल (पामरों के बीच) लोक ही में प्रचलित हो न कि शास्त्रों मे। (सभ्य समाज में) उदाहरण :—

राकाविभावरीकान्तसंक्रान्तद्युति ते मुखम्।
तपनीयशिलाशोभा कटिश्च हरते मनः ॥१५६॥

अर्थ—हे प्यारी! पूर्णिमा की रात्रि के चन्द्रमा ने अपनी चमक तुम्हारे मुख में सक्रान्त (प्रतिबिम्बित) कर दी है। तुम्हारा वैसा मुख और सोने की शिला के समान तुम्हारी कमर मेरे मन को लुभाती है।

अत्र कटिरिति।

यहाँ पर 'कटि' (कमर) शब्द ग्राम्य है।

(१३) नेयार्थं।निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्। क्रियन्ते सांप्रतं काश्चित्काश्चिन्नैव त्वशक्तितः।' इति यन्निषिद्ध लाक्षणिकम्। यथा

नेयार्थ से तात्पर्य उस प्रकार के पद से है जो कुमारिल भट्ट के मतानुसार लक्षणा के लिये निषिद्ध बतलाया गया है। 'शक्ति विशिष्ट सामर्थ्य से प्रसिद्ध अथवा शब्द स्वभाव ही से सिद्ध अनादि काल

वाली कुछ लक्षणाएँ होती हैं और कुछ तो प्रयोजन के अनुसार बना ली जाती हैं। इन रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणाओं को छोड़कर शक्तिहीन होने से और लक्षणाएँ स्वीकार नहीं की जाती हैं।' इस प्रकार जो रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणा से भिन्न लाक्षणिक शब्द हैं उन्हीं की सज्ञा नेयार्थ है।

उदाहरण :—

शरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरीप्रियम्।
करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातनातिथिम् ॥१५७॥

अर्थ—हे कृशाङ्गि ! तुम्हारा मुख उस चन्द्रमा को थप्पड लगाने का पात्र बनाता है, जो शरद ऋतु मे विशेष शोभित होकर पूर्णिमा की रात्रि का प्यारा मित्र बनता है।

अत्र चपेटापातनेन निर्जितत्वं लक्ष्यते।

यहाँ पर 'चपेटापातन' (थप्पड़ लगाना पद से विजय करना अर्थ लक्षित होता है।

अथसमासगतमेव दुष्टमिति सम्बन्धः। अन्यत्केवलं समासगतं च।

मूल कारिका में (नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम्) जो अथ शब्द कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि इसके आगे जो दुष्ट पद कहे गये हैं, वे समासगत ही दुष्ट पद होते हैं, न कि वाक्यगत। ऊपर उदाहरण द्वारा प्रदर्शित जो तेरह दुष्ट पद उल्लिखित हैं वे समासगत भी होते हैं और बिना समस्त पद में प्रयुक्त पृथक् पृथक् वाक्यगत भी होते हैं।

(१४) क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता। यथा

क्लिष्ट उस पद को कहते हैं जिसकी अर्थप्रतीति में बाधा होने के कारण कष्ट हो तथा जो विलम्ब से ध्यान में चढ़े।

उदाहरण :—

अत्रिलोचनसम्भूतज्योतिरुद्गमभासिभिः।
सदृशं शोभतेऽत्यर्थं भूपाल तव चेष्टितम् ॥१५८॥

अर्थ—हे राजन् ! आपका चरित्र महर्षि अत्रि के नेत्रों से उत्पन्न

(चन्द्रमा) की ज्योति (चाँदनी) के उदय से खिलनेवाली (कुमुदिनी) के पुष्पों के समान बहुत अधिक शोभित हो रहा है।

अत्राऽत्रिलोचनसम्भूतस्य चन्द्रस्य ज्योतिरुद्गमेन भासिभिः कुमुदैरित्यर्थः।

यहाँ पर 'अत्रिलोचनसम्भूतस्य' अत्रि के नेत्रों से उत्पन्न अर्थात् चन्द्रमा की ज्योति चाँदनी के उदय से खिलनेवाले कुमुदिनी के पुष्पों से—ऐसा अर्थ विलम्ब से ध्यान में चढ़ता है।

(१५) अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत्। यथा

अविमृष्टविधेयांश उस पद को कहते हैं जिसमे विधेय रूप अंश प्रधानतया अनुक्त ही रह कर छूट जाय [अर्थात् जहाँ पर विधेय समास के अन्तर्गत होकर छिप जाय या अप्रधान बन जाय]।

[बहुव्रीहि समास में अविमृष्टविधेयाश का उदाहरण:—]

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा—
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम्।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां!
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः ।।१५१।।

अर्थ—[रावण कहता है—] अरे! औद्धत्यपूर्वक काटे गये कण्ठों से निरन्तर बहती हुई रक्त धाराओं के द्वारा श्री महादेव जी के चरणों का क्षालन कर उनके अनुग्रह से समस्त ससार को विजय कर जिन (मेरी भुजाओं) ने झूठी महिमा प्राप्त की है। और कैलास पर्वत के उठाने के आवेग सूचक कठोर गर्व के कारण जो अत्यन्त बलिष्ठ हैं; उन मेरी भुजाओं का क्या फल? जो इस लङ्कापुरी की रक्षा करने मे श्रम करना ही पड़ा।

अत्र मिथ्यामहिमत्वं नानुवाद्यम् अपि तु विधेयम्। यथा वा

यहाँ पर 'मिथ्यामहिमत्वम्' (झूठी महिमा) इस पद को उद्देश्य रूप मे न रख कर विधेय रूप मे रखना उचित था।

[कर्मधारय समास में अविमृष्टविधेयाश का उदाहरण:—]

स्रस्तां नितम्बादवरोपयन्ती पुनः पुनः केसर दामकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य ॥१६०॥

अर्थ—पार्वती जी अपने नितम्ब स्थल से खिसक पड़ने वाली मौलश्री के फूलों की मालायुक्त करधनी को वारंवार यथास्थान (नितम्ब स्थल पर) चढ़ा लेती थीं। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो स्थान के ठीक ठीक पहिचानने वाले कामदेव ने उस कर्धनी को धनुष की दूसरी डोरी के समान थाती रूप में वहाँ पर रख दिया हो।

अत्र द्वितीयत्वमात्रमुत्प्रेक्ष्यम्। मौर्वीं द्वितीयामिति युक्तः पाठः। यथावा

यहाँ पर द्वितीयत्व की ही विवक्षा आवश्यक थी, इसलिये 'मौर्वीं द्वितीया' ऐसा पाठ रखना उचित था।

[बहुव्रीहि समास में अविमृष्टविधेयांश का एक और उदाहरणः—]

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥१६१॥

अर्थ—हे मृग के छौने के समान नेत्रों वाली पार्वति! भला देखो तो वर में विवाह योग्य जो-जो गुण खोजे जाते हैं (अर्थात् रूप, कुल और धन इत्यादि) उनमें से महादेव जी में कोई एक भी है? शरीर तो उनका तीन आँखवाला (विकृत), जन्म का कुछ पता ठिकाना भी नहीं और सदैव नङ्गे ही रहते हैं लँगोटी तक नहीं जुरती, तो भला उनके पास और धन ही क्या होगा?

अत्र 'अलक्षिता जनिः' इति वाच्यम्। यथा वा

यहाँ पर 'अलक्ष्य जन्मता' न कह कर 'अलक्षिता जनिः' कहना उचित था, जिसमे पता न लगना यह बात विधेयरूप हो जाती।

[नञ् समास (तत्पुरुष) मे अविमृष्टविधेयांश का उदाहरण :—]

आनन्दसिन्धुरतिचापलशालिचित्त—
सन्दाननैकसदनं क्षणमप्यमुक्ता।
या सर्वदैव भवता तदुदन्तचिन्ता
तान्तिं तनोति तव सम्प्रति धिग्धिगस्मान् ॥१६२॥

अर्थ—[लक्ष्मण जी सीता के वियोग मे दुःखी श्रीरामचन्द्र जी से कहते हैं—] जो आपके लिये सुख का समुद्र थीं और आपके अत्यन्त चञ्चलता विशिष्ट चित्त को बाँध रखने का एक स्थान थीं, जिन्हें आप क्षण भर के लिये भी छोड़ते न थे, अब उनके समाचार पाने की चिन्ता से जो आप खिन्न हो रहे हैं इससे हम लोगों को बारंबार धिक्कार है।

अत्र 'न मुक्ता' इति निषेधो विधेयः। यथा

यहाँ पर 'न मुक्ता' (नहीं छोडते थे) ऐसा कह कर निषेधवाचक 'न' को ही विधेय बनाना उचित था और 'अमुक्ता' कह कर नञ् समास के अन्तर्गत उसे नहीं करना चाहिये था। जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से प्रकट होता है—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥१६३॥

अर्थ—[राजा पुरुरवा कहते हैं—] मुझे मारने के लिये उद्यत यह नवीन मेघ है, घमण्डी राक्षस नहीं। दूर से ताना गया यह इन्द्र-धनुष है, न कि उस राक्षस का धनुष; तीखी धाराओं की यह मूसला-धार वर्षा है, न कि बाणों की पंक्ति, और यह स्वर्ण रेखा सदृश चमकीली बिजली है न कि मेरी प्यारी उर्वशी।

इत्यत्र। न त्वमुक्ततानुवादेनान्यदत्र किञ्चिद्विहितम्। यथा

इस उदाहरण में निषेध वाचक 'न' ही को विधेय बनाया है। 'आनन्द सिन्धु' इत्यादि प्रतीकवाले श्लोक में यदि अमुक्ता को 'अनु-वाद्य' (उद्देश्य) स्वीकार कर लें तो फिर श्लोक भर में और कोई विधेय ही नहीं मिलता। जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से प्रकट होता है—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थानसक्तः सुखमन्वभूत् ॥१६४॥

अर्थ—उस राजा (दिलीप) ने निडर होकर अपनी रक्षा की। नीरोग रहकर धर्माचरण किया। लोभ रहित होकर धन ग्रहण किया और बिना आसक्त हुए ही सुखोपभोग किया।

इत्यत्र अत्रस्तत्वाद्यनुवादेनात्मनो गोपनादि।

यहाँ पर अत्रस्त (निडर) आदि को अनुवाद्य बनाकर गोपन आदि क्रियाओं को विधेय कर दिया है।

(१६) विरुद्धमतिकृद्यथा

विरुद्धमतिकृत् दोष का उदाहरण :—

सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः।
अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे ॥१६५॥

अर्थ—चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल और सयानेपन की चेष्टा रखनेवाला यह जन तुम्हारा अकारण मित्र है। हम उसका क्या वर्णन करें?

अत्र 'कार्यम्बिना मित्रम्' इति विवक्षितम् 'अकार्ये मित्रम्' इति तु प्रतीतिः।

यहाँ पर 'कार्य विना मित्रं' (विना कार्य का मित्र अर्थात् अकारण मित्र) यह कहने की इच्छा है; किन्तु अकार्य (कुकर्म वा अनुचित कर्म में) मित्र—ऐसी प्रतीति होती है, जो इष्ट अर्थ के ठीक विपरीत है।

यथा वा—

विरुद्धमतिकृत् दोष का अन्य उदाहरण :—

चिरकालपरिप्राप्तलोचनानन्ददायिनः।
कान्ता कान्तस्य सहसा विदधाति गलग्रहम् ॥१६६॥

अर्थ—चिरकाल के अनन्तर आये हुए और आँखों को आनन्द देने वाले पति का सुन्दर स्त्री तुरन्त ही गला पकड़ लेती है। (अर्थात् दृढ़ालिङ्गन करने के लिए गला धर लेती है।)

अत्र 'कण्ठग्रहम्' इति वाच्यम्।

यहाँ पर 'गलग्रह' (गला पकड़ लेना) न कह कर 'कंठग्रह' ही

कहना उचित था। [क्योंकि गलग्रह एक राग का नाम है। अतएव वह प्रेमपूर्वक आलिङ्गन के विपरीत अर्थ प्रकट करता है।]

यथा वा—

इसी विरुद्ध मतिकृत् दोष का एक तीसरा उदाहरण :—

न त्रस्तं यदि नाम भूतकरुणासन्तानशान्तात्मनः
तेन व्यारुजता धनुर्भगवतो देवाद्भवानीपतेः।
तत्पुत्रस्तु मदान्धतारकबधाद्विश्वस्य दत्तोत्सवः
स्कन्दः स्कन्द इव प्रियोऽहमथ वा शिष्यः कथं विस्मृतः ॥१६७॥

अर्थ—[मिथिलापुरी में श्री रामचन्द्र जी द्वारा शिव के धनुष के तोड़े जाने का समाचार पाकर परशुराम जी अपने मनमें विचार करते हैं—] यदि उस दशरथ पुत्र ने धनुष तोडते समय भवानीपति देवता महादेव जी का भय न किया तो न सही; क्योंकि वे तो जीवों पर दया करनेवाले शान्तचित्त व्यक्ति हैं, परन्तु उनके पुत्र स्कन्द का तो उसे अवश्य स्मरण करना चाहिये था, क्योंकि उस स्कन्द ने गर्व मे चूर (अन्धे) तारकासुर का विनाश करके लोगों को स्वस्थ (निश्चिन्त) किया था, अथवा स्कन्द ही के समान पराक्रमी उनका प्रिय शिष्य जो मैं (परशुराम) हूँ उसी को राजकुमार ने क्यों भुला दिया?

अत्र भवानीपतिशब्दो भवान्याः पत्यन्तरे प्रतीतिं करोति।

यहाँ पर भवानीपति (भव, शिव जी, उनकी पत्नी भवानी, पार्वती, उनके पति, स्वामी) यह शब्द भवानी के किसी और पति के होने की प्रतीति उत्पन्न कराता है।

यथा वा—

इसी विरुद्ध मतिकृत् दोष का एक चौथा उदाहरण :—

गोरपि यद्वाहनतां प्रासवतः सोऽपि गिरिसुतासिंहः।
सविधे निरहङ्कारः पायाद्वः सोऽम्बिकारमणः ॥१६८॥

अर्थ—वे अम्बिकारमण भगवान् महादेव जी तुम्हारी रक्षा करें, जिनका वाहन बनकर (नन्दी) बैल भी ऐसा (प्रभावशाली) हो गया

कि उसके निकट स्थित पार्वती जी का वाहन (परम क्रूर स्वभाव) सिंह भी अहङ्कार रहित रहता है।

अत्राम्बिकारमण इति विरुद्धां धियमुत्पादयति।

यहाँ पर 'अम्बिकारमण' पद से एक विरुद्ध अर्थ (माता का जार) भासित होता है।

श्रुतिकटु समासगतं यथा

श्रुति कटु आदि तेरहों दोष समासगत भी हो सकते हैं। उनमें से समासगत श्रुतिकटु का उदाहरण :—

> **सा दूरे च सुधासान्द्रतरङ्गितविलोचना।**
> **बर्हिनिर्ह्रादनार्होऽयं कालश्च समुपागतः ॥१६१॥**

अर्थ—[श्री रामचन्द्र जी कहते हैं—] अमृत की घनी तरंगों के समान नेत्रोंवाली (अत्यन्त प्यारी वधू सीता) तो मुझ से बहुत दूर पर स्थित है और मोरों से कूक कराने वाला यह वर्षा काल भी निकट आ पहुँचा।

[यहाँ पर 'बर्हिनिर्ह्रादनार्ह' यह समस्त पद श्रुति कटु है।

एवमन्यदपि ज्ञेयम्।

इसी प्रकार से शेष बारहों दोषों के समासगत उदाहरण भी जान लेने चाहियें।

[अब दोषों का निरूपण करते हुए आगे कहते हैं।]

(सू० ७४) अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम्।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥५२॥

अर्थ—ऊपर जिन श्रुतिकटु आदि सोलह दोषों का उल्लेख कर आये हैं उनमे से च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक को छोड़कर शेष तेरह दोष वाक्यों मे भी पाये जाते हैं, और इन सोलहों मे से सब कहीं कई एक पद के भाग में भी पाये जाते हैं।

केचन न पुनः सर्वे। क्रमेणोदाहरणम्।

कई एक कहने का भाव यह है कि सभी सोलहों प्रकार के दोष (पद के भाग में) नहीं (पाये जाते)। उनके क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं।

[वाक्यगत श्रुतिकटु का उदाहरण :—]

सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितॄनतार्प्सीत्सममंस्त बन्धून।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च॥ १७१॥

अर्थ—उस (राजा दशरथ) ने वेदों का अध्ययन किया, यज्ञों द्वारा देवताओं की पूजा की, पितरों को श्राद्ध तर्पण आदि से परितुष्ट किया, बन्धुजनों का दान सम्मान किया; काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि भातरी शत्रुओं को विजित किया; नीति शास्त्र के पाठ में मन लगाया और वाह्य शत्रुओं को भी जड़ से उखाड़ फेंका। [वाक्य-गत श्रुतिकटु शब्द स्पष्ट ही है।]

[वाक्यगत अप्रयुक्त दोष का उदाहरण :—]

स रातु वो दुश्च्यवनो भावुकानां परम्पराम्।
अनेडमूकताद्यैश्च द्यतु दोषैरसम्मतान्॥१७१॥

अर्थ--वह प्रसिद्ध देवता इन्द्र तुम्हे ता कल्याण परम्परा प्रदान करे और तुम्हारे शत्रुओं को बहिरेपन गूँगेपन आदि दोषों द्वारा खण्डित वा विनष्ट करे।

अत्र दुश्च्यवन इन्द्रः अनेडमूको मूकबधिरः।

यहाँ पर दुश्च्यवन, इन्द्र, अनेड़मूक, बहिरा-गूँगा इत्यादि शब्द अप्रयुक्त हैं।

[वाक्यगत निहतार्थ का उदाहरण :—]

सायकसहायबाहोमकरध्वजनियमितक्ष्माधिपते.।
अब्जरुचिभास्वरस्ते भातितरामवनिप श्लोकः॥१७२॥

अर्थ—हे राजन्! आपकी भुजा का सहायक खड्ग है, आप समुद्र वेष्टित पृथ्वी भर के अधिकारी हैं। आपकी कीर्ति भी चन्द्रमा की ज्योति के समान अत्यन्त चटकीला शोभित, हो रही है।

अत्र सायकादयः शब्दाः खड्गाब्धिभूचन्द्रयशःपर्यायाः शराद्यर्थतया प्रसिद्धाः।

यहाँ पर सायक, खड्ग; मकरध्वज, समुद्र, क्षमा, पृथ्वी; अब्ज, चन्द्रमा और श्लोक, कीर्ति है। परन्तु सायक आदि शब्द खड्ग आदि अर्थ के लिये प्रचलित नहीं हैं। अतएव निहतार्थ हैं।

[वाक्यगत अनुचितार्थ का उदाहरण :—]

कुविन्दस्त्वं तावत्पटयसि गुणग्राममभितो
यशो गायन्त्येते दिशि दिशि च नग्नास्तव विभो।
शरज्ज्योत्स्नागौरस्फुटविकटसर्वाङ्गसुभगा
तथापि त्वत्कीर्तिर्भ्रमति विगताच्छादनमिह ॥१७३॥

अर्थ—हे स्वामिन्! यद्यपि आप पृथ्वी को प्राप्त करनेवाले बनकर अपने पराक्रम आदि गुण समूहों से सब ओर से भूमि को दृढ़ (कीर्ति से उज्ज्वल) कर रहे हैं। और ये आप के बन्दी जन प्रत्येक दिशा में आपका गुणगान करते फिरते हैं, तथापि आपकी कीर्त्तिरूपी नायिका, जिसके सभी अङ्ग सुन्दर और विशाल हैं, तथा शरद् ऋतु की चन्द्रिका के समान निर्मल, चमकीले और गौर हैं, वह निरावरण (नंगी) होकर इस ससार भर में भ्रमण कर रही है।

अत्र कुविन्दादिशब्दोऽर्थान्तरं प्रतिपादयन् उपश्लोक्यमानस्य तिरस्कारं व्यनक्तीत्यनुचितार्थः।

यहाँ पर कुविन्द आदि शब्द तन्तुवाय (जुलाहा) आदि अर्थान्तरों को प्रकट कर के प्रशंसित पात्र का तिरस्कार भी प्रकट कर रहे हैं। अतः यह अनुचितार्थता है।

[वाक्यगत अवाचकत्व का उदाहरण :—]

प्राभ्रभ्राड्विष्णुधामाप्य विषमाश्वः करोत्ययम्
निद्रां सहस्रपर्णानां पलायनपरायणाम् ॥१७४॥

अर्थ—यह विषम संख्यक (सात) घोड़ोंवाला सूर्य उत्तम मेघों से युक्त विष्णु धाम (आकाश) में पहुँचकर सहस्र पत्तोंवाले (कमलों) की

निद्रा को भागने में तत्पर कर देता है। [अर्थात् सूर्य आकाश में जाकर कमलों को विकसित करता है।]

अत्र प्राभ्रभ्राड्विष्णुधामविषमाश्वनिद्रापर्णशब्दाः प्रकृष्टजलदगगनसप्ताश्वसङ्कोचदलानामवाचकाः।

यहाँ प्राभ्रभ्राट्—उत्तम मेघ, विष्णुधाम आकाश, विषमाश्व—सूर्य-निद्रासङ्कोच, पर्ण—पत्ता; ये सब शब्द उक्त अर्थों के अवाचक हैं।

[वाक्यगत लज्जाजनक अश्लीलता का उदाहरण :—]

भूपतेरुपसर्पन्ती कम्पना वामलोचना।
तत्तत्प्रहरणोत्साहवती मोहनमादधौ ॥१७५॥

अर्थ—राजा की सेना ने शत्रुओं पर वक्रदृष्टि हो आगे बढ़ शस्त्रों को फेकने और प्रहार करने में उत्साहयुक्त दो विपक्षियों को अपने वश में कर लिया।

अत्रोपसर्पणप्रहरणमोहनशब्द व्रीडादायित्वादश्लीलाः।

यहाँ पर उत्सर्पण का अर्थान्तर सुरतार्थ समीपोपस्थिति है। प्रहरण का अर्थान्तर अङ्गों का परस्पर सम्मर्दन है, मोहन का अर्थान्तर निधुवन विलास वा मैथुन है। ये सभी शब्द लज्जाजनक होने के कारण अश्लील गिने जाते हैं।

[जुगुप्साप्रद अश्लील का वाक्यगत उदाहरण :—]

तेऽन्यैर्वान्त समश्नन्ति परोत्सर्गञ्च भुञ्जते।
इतरार्थग्रहे येषां कवीनां स्यात्प्रवर्तनम् ॥१७६॥

अर्थ—जिन कवियों की प्रवृत्ति अन्यान्य कवियों के अर्थ (भाव को ग्रहण करने की होती है (अर्थात् जो दूसरे के भावो का अपहरण करते हैं) वे दूसरो का वमन किया हुआ और मल खाते हैं।

अत्र वान्तोत्सर्गप्रवर्त्तनशब्दा जुगुप्सादायिनः।

यहाँ पर वात (वमन किया हुआ), उत्सर्ग मल और प्रवर्तन (मल त्याग) आदि शब्द जुगुप्सा (घृणा) प्रद होने के कारण अश्लील हैं।

[वाक्यगत अमङ्गल सूचक अश्लीलता का उदाहरण:—]

पितृवसतिमहं व्रजामि तां सह परिवारजनेन यत्र मे।

भवति सपदि पावकान्वये हृदयमशेपितशोकशल्यकम् ॥१७७॥

अर्थ—[ससुराल में सास-ननद द्वारा पीड़ित कोई नायिका कहती है—] मैं अपने परिवार सहित पितृगृह (पीहर) को जाती हूं, जहाँ पर पिता जी के पवित्र कुल मे पहुँचते ही मेरे हृदयगत शोकरूपी सभी काँटे उखाड़कर निःशेप कर दिये जाँयगे।

अत्र पितृगृहमित्यादौ विवक्षिते श्मशानादिप्रतीतावमङ्गलार्थत्वम्।

यहाँ पर पितृगृह आदि शब्दों से पिता का घर कहना इष्ट है; परन्तु उनसे श्मशान आदि की प्रतीत होती है, जो अमगल सूचक है।

[वाक्यगत सन्दिग्ध दोप का उदाहरण :]

सुरालयोल्लासपरः प्राप्तपर्याप्तकम्पनः।

मार्गणप्रवणो भास्वद्भूतिरेष विलोक्यताम् ॥१७८॥

अर्थ—(१) देवताओं के घर में आनन्द करने वाले, पर्याप्त सेना विशिष्ट, बाण प्रहार में निपुण, सुन्दर सम्पत्तिवाले इस राजा को देखिये। (२) मदिरालय (कलवरिया) मे प्रसन्न रहनेवाले, भली भाँति काँपते हुये, माँगने अथवा याचना मे तत्पर, शरीर मे विभूत (राख) रमाये हुए इस भिखमगे को देखिये।

अत्र किं सुरादिशब्दा देवसेनाशूरविभूत्यर्थाः किं मदिराद्यर्था इति सन्देहः

उक्त श्लोक का अर्थ प्रथम पक्ष के अनुसार मानना चाहिये या द्वितीय पक्ष के अनुसार, यह बात सन्देह पूर्ण है; क्योंकि 'सुरालय' आदि शब्दों का भी 'देवालय' माना जाय या 'मदिरालय' इसका निर्णय नहीं है।

[वाक्यगत अप्रतीतत्व का उदाहरण :—]

तस्याधिमात्रोपायस्य तीव्रसंवेगताजुपः

दृढभूमिः प्रियप्राप्तौ यत्नः स फलितः सखे ॥१७९॥

अर्थ—हे मित्र ! उस तीव्र वैराग्य युक्त, दृढ़ ज्ञानकारी, यम नियम आदि को धारण करनेवाले पक्के संस्कार विशिष्ट योगी व्यक्ति का विचित्र प्रयत्न आत्म साक्षात्कार द्वारा सफल हो गया।

अत्राधिमात्रोपायादयः शब्दाः योगशास्त्रमात्रप्रयुक्तत्वादप्रतीताः।

यहाँ पर अधिमात्र, उपाय, इत्यादि शब्द केवल योग्य शास्त्र ही मे उपयोग मे आते हैं, अतएव ये अप्रतीत हैं।

[वाक्यगत ग्राम्यदोष का उदाहरणः—]

ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः।
करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा ॥१८०॥

अर्थ—यह मनुष्य खान-पान तो जैसे-तैसे करता ही है, परन्तु मुख मे पान भर कर और गाल फुलाकर भली भाँति बोलता चलता है।

अत्र गल्लादयः शब्दा ग्राम्याः।

यहाँ पर गल्ल, भल्ल आदि शब्द ग्राम्य हैं।

[वाक्यगत नेयार्थता का उदाहरणः—]

वस्त्रवैदूर्यचरणैः क्षतसत्त्वरजःपरा।
निष्कम्पा रचिता नेत्रयुद्धं वेदय साम्प्रतम् ॥१८१॥

अर्थ—[सोती हुई अपनी सखी को प्रातःकाल नींद से जगाती हुई कोई स्त्री कहती है—] हे सखि ! वस्त्र वैदूर्य (अम्बर मणि) सूर्य के चरणों (किरणों) से निष्कम्पा (अचला) पृथ्वी सत्त्व और रजोगुण से परे (तमोरूप अन्धकार से) क्षत (रहित) हो गई है। (तात्पर्य यह है कि प्रातःकाल हो गया है) अतः अब आँखों के जोड़ों को (अर्थात् दोनों आँखों को) खोलो। (भाव यह है कि नींद छोड़ कर उठ बैठो)।

अत्राम्बररत्नपादैःक्षततमा अचला भूः कृता नेत्रद्वन्द्वं बोधयेति नेयार्थता।

यहाँ पर अम्बर रत्न (सूर्य) के पादों (किरणों) द्वारा अचला (पृथ्वी) क्षततमा (अन्धकार रहिता) की गई, अतः नेत्र द्वन्द्व को खोलो—यह नेयार्थता है।

[वाक्यगत क्लिष्टत्व का उदाहरण :—]

धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः ।
रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥१८२॥

अर्थ—मृग छौनों के समान नेत्रोंवाली इस कामिनी के अद्भुत बन्धन विशिष्ट केशपाश की शोभा देखकर किस पुरुष का मन उसमें अनुरक्त नहीं हो जाता है ।

अत्र धम्मिल्लस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यतीति सम्बन्धे क्लिष्टत्वम् ।

यहाँ पर 'धम्मिल्लस्य शोभा प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यति' अर्थात् बालों की शोभा देखकर किसका मन उसमें अनुरक्त नहीं हो जाता है—ऐसा शब्दों का परस्पर सम्बन्ध बैठाना क्लिष्टता है ।

[वाक्यगत अविमृष्ट विधेयांश दोष का उदाहरण :—]

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
धिक्धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥१८३॥

अर्थ—[रावण कहता है—] मुझे तो इसी बात पर धिक्कार है कि मेरे शत्रु हैं, सो भी तपस्वी, वह भी यहीं (मेरी नगरी में) आकर राक्षस-कुल का संहार कर रहा है, फिर भी रावण जीता ही है । इन्द्र को विजय करनेवाले मेघनाद को धिक्कार है, अथवा नींद से जगाये गये कुम्भकर्ण ही से क्या ? स्वर्गरूपी छोटे से गाँव को लूट लेने वाले व्यर्थ ही के लिये पुष्ट इन मेरी भुजाओं ही से कौन सा लाभ हुआ ?

अत्र 'अयमेव न्यक्कार' इति वाच्यम् । उच्छूनत्वमात्रं चानुवाद्यम् न वृथात्वविशेषितम् । अत्र च शब्दरचना विपरीता कृतेति वाक्यस्यैव दोषो न वाक्यार्थस्य ।

यहाँ पर 'न्यक्कारो ह्ययमेव' के स्थान पर 'अयमेव हि न्यक्कारः' ऐसा कहना उचित था और केवल 'उच्छूनत्व' (पुष्टि) मात्र का

उल्लेख किया जाना चाहिये था और उसके साथ 'वृथा' इस विशेषण पद के जोड़ने की कुछ आवश्यकता नहीं थी। यहाँ पर वाक्य ही में शब्द रचना उलट-पुलट दी है अतएव यह वाक्यगत दोष ही माना जाता है न कि वाक्यार्थगत दोष।

यथा वा

[अविमृष्ट विधेयांश वाक्यगत दोष न, केवल विधेय के निरर्थक विशेषण अथवा शब्दों के उलटफेर मात्र से होता है; किन्तु विधेय के भी अनुपस्थित रहने पर माना जाता है। इस तात्पर्य से इसी दोष का एक अन्य उदाहरण दिया जाता है।]

अपाङ्गसंसगि तरङ्गितं दृशो-
र्भ्रुवोरराजान्तविलासि वेल्लितम्।
विसारि रोमाञ्चनकञ्चुकं तनो-
स्तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः ॥१८४॥

अर्थ—[नायिका की सखी उससे कहती है—] जो तुम्हारी आँखों के प्रान्त-भागों तक कटाक्ष की शोभा फैलाता है, तुम्हारी भौंहों के कुटिल भागों को क्रीड़ायुक्त बनाकर नचाता है और जो तुम्हारे शरीर पर पुलकावली का मानो झूला पहिना देता है, वह आ गया।

अत्र योऽसाविति पदद्वयमनुवाद्यमात्रप्रतीतिकृत्। तथाहि। प्रक्रान्त प्रसिद्धाऽनुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते।

यहाँ पर 'योऽसौ' (वह, जो) ये दोनों पद केवल अनुवाद्य अर्थात् उद्देश्य की प्रतीति कराते हैं (और विधेय पद इसमें अनुपस्थित है), नियम तो यह है कि प्रकरणगत प्रसिद्ध और अनुभव विषयीभूत 'तद्' शब्द अपने साथ 'यत्' शब्द के ग्रहण की अपेक्षा नहीं रखता।

क्रमेणोदाहरणम्।

यथाक्रम उदाहरण आगे दिये जाते हैं

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥१८५॥

अर्थ—वीरता आदि गुणों से रहित होकर केवल नीति का अनुसरण करना भीरुता है। नीति विहीन वीरता भी वन्यपशुओं का व्यवहार है, अतएव वीरता और नीति दोनों की सहायता से अतिथि नामक राजा ने निज इष्ट-सिद्धि प्राप्त की।

[यहाँ पर 'सः' (वह) यह सर्वनामपद प्रकरणगत राजा अतिथि के सम्बन्ध मे आया है। अतएव 'यत्' पद की कोई अपेक्षा नहीं रखता है।]

[अन्य उदाहरण :—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः॥
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥१८६॥

अर्थ—[वटु वेषधारी शिव जी पार्वती जी से कहते हैं—] कपालमालाधारी महादेव जी के समागम की इच्छा मे इस समय दो वस्तुएँ शोचनीय दशा को प्राप्त हो गई हैं। एक तो चमकीले चन्द्रमा की वह मनोहर कला और दूसरी लोगों की आँखों के लिये चाँदनी के समान सुखदायिनी तुम (पार्वती)।

[यहाँ चन्द्रमा की 'सा कला' (वह कला) प्रसिद्ध अर्थ की द्योतक है, अतएव 'सा' शब्द 'यत्' शब्द की अपेक्षा नही रखता।]

[अनुभूत विषय सम्बन्धी उदाहरण :—

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्वितेन दहनेन न वीक्षितासि॥१८७॥

अर्थ—[हर्षदेव कृत रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता को जली हुई जान उसी के लिए चिन्तित वत्सराज कहता है—] हे प्यारी! जब तुम काँपती रही होगी और भय की व्याकुलता से तुम्हारे अङ्गों के किनारों से वस्त्र खिसक पड़े होंगे और तुम अपनी उन कातर आँखों को सब दिशाओं में नचाती रही होगी, इस बीच में अग्नि

धुएँ द्वारा अन्धा होकर तुम्हें देख नहीं सका और क्रूरता से जला डाला।

[यहाँ पर 'ते लोचने' (उन आँखों को) यह पद पूर्वानुभूत विषय का स्मरण दिलाता है, अतएव 'यत्' पद की अपेक्षा नहीं रखता।]

यच्छब्दस्तूत्तरवाक्यानुगतत्वेनोपात्तः सामर्थ्यात्पूर्ववाक्यानुगतस्य तच्छब्दस्योपादानं नापेक्षते यथा—

यदि 'यत्' शब्द वाक्य के पिछले भाग मे अनुगत (प्रकरण के अनुसार प्राप्त) रूप से रखा जाय तो उसे 'तत्' शब्द की अपेक्षा नही रहती। जैसे :—

साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः ॥१८८॥

अर्थ—इन कमलों ने तो उचित ही किया कि अपने से अधिक सुन्दरता वाले चन्द्रमा को देख कर मुकुलित हो गये, परन्तु चन्द्रमा ने तो बड़ा साहस किया कि अपने को विजित करने वाले कामिनी स्त्रियों के मुख को देखकर भी (निर्लज्जतापूर्वक) उदित हुआ।

प्रागुपात्तस्तु यच्छब्दस्तच्छब्दोपादानम्विना साकांक्षः। यथा अत्रैव श्लोके आद्यपादयोर्व्यत्यासे। द्वयोरुपादाने तु निराकांक्षत्वं प्रसिद्धम्। अनुपादानेऽपि सामर्थ्यात्कुत्रचिद्‌द्वयमपि गम्यते। यथा—

यदि 'यत्' शब्द वाक्य के पूर्व भाग में रखा जाय तो वह विना 'तत्' शब्द के लाये साकाक्ष (अपूर्णार्थ) ही बना रहता है। जैसा कि उक्त श्लोक में पूर्वार्द्ध के प्रथम द्वितीय चरणों को उलट कर पढ़ने से ज्ञात होगा। 'मीलितं यदभिरामताधिके (तत्) साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतम्।' तात्पर्य यह है कि प्रथम चरण में 'यत' रखने से द्वितीय चरण में विना 'तत्' शब्द के लाये काम न चलेगा। यदि 'यत्' के साथ ही 'तत्' शब्द रहे तो वाक्य की निराकाक्षता (पूर्णार्थता) प्रसिद्ध ही है। कहीं-कहीं पर यदि दोनों शब्द न भी रखे जायें तो वाक्य

के सामर्थ्य ही से उनके होने का अनुमान कर लिया जाता है। जैसे:—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पस्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥१८६॥

अर्थ—जो लोग हमारा अनादर करते हैं, भला वे कुछ समझते भी हैं? अर्थात् वे कुछ नहीं समझते।) हमारा ग्रन्थ लेखन का प्रयत्न उन (मूर्खों) के लिये है भी नहो। हमारे तुल्य गुणोंवाला तो कोई न कोई उत्पन्न होगा ही अथवा कही उपस्थित होगा, क्योंकि काल भी अनन्त है और पृथ्वी भी विस्तृत है।

अत्र य उत्पत्स्यते तं प्रतीति।

यहाँ पर जो-जो उत्पन्न होगा उस के प्रति—ऐसा अर्थ है। 'यत्' और 'तत्' दोनों शब्द यद्यपि साक्षात् उक्त नहीं हैं; तथापि अनुमान द्वारा आक्षिप्त हो जाते हैं।

एवं च तच्छब्दानुपादानेऽत्र साकांक्षत्वम्। न चासाविति तच्छब्दार्थमाह—

निदान ऊपर के 'अपाङ्ग ससर्गि' इत्यादि प्रतीकवाले श्लोक मे 'योऽसौ सुभगे' वाले वाक्याश मे 'यत्' के पीछे 'तत्' शब्द के न आने से वाक्य साकाक्ष ही बना रह गया है। 'असौ' शब्द 'तत्' के भाव को व्यक्त करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि—

असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः ॥१६०॥

अर्थ—वायु ने जिसके सुन्दर केसरों (वकुल वृक्षों वा सटाओं) को चूम लिया है, और जो प्रसन्न ताराधिप (चन्द्रमा वा सुग्रीव) के मण्डल (बिम्ब वा यूथ) का अग्रगामी नायक है, तथा जो वियोगी (श्रीरामचन्द्र जी वा स्त्रियों) की आतुर दृष्टि से देखा गया है वह वसन्त ऋतु का समय हनुमान जी की भाँति आ पहुँचा।

अत्र हि न तच्छब्दार्थप्रतीतिः । प्रतीतौ वा—

यहाँ पर 'असौ' इस 'अदस्' शब्द के रूप से 'तत्' शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं होती । यदि प्रतीति होती तो—

करवालकरालदोःसहायो युधि योऽसौ विजयार्जुनैकमल्लः ।
यदि भूपतिना स तत्र कार्ये विनियुज्येत ततः कृतं कृतं स्यात् ॥१६१॥

अर्थ—जिसकी भुजाओं की सहायता करनेवाली उसकी कठोर तलवार है, और जो अर्जुन के समान विजय करनेवाला संसार भर में एक वीर है वह (कर्ण) यदि राजा (दुर्योधन) द्वारा उस (सेनापतित्व) कार्य में नियुक्त कर दिया जाय तो बड़ा काम चले । (सभी कार्य सफल हों) ।

अत्र स इत्यस्यानर्थक्यं स्यात् । अथ—

इस श्लोक में पीछे से जो 'तद' शब्द आया है वह निरर्थक हो जायगा । यदि कहो कि

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश निखिलं भवद्वपुः ।
आत्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम् ॥१६२॥

अर्थ—हे भगवान् महादेव ! जो मनुष्य इस समस्त संसार को आप ही के रूप में निस्सन्देह देखता है, उस सदा सुखी को जो इस सृष्टि को आत्मस्वरूप से परिपूर्ण मानता है, किसका भय हो सकता है ?

इतीदंशब्दवददःशब्दस्तच्छब्दार्थमभिधत्ते इति उच्यते । तर्हि यत्रैव वाक्यान्तरे उपादानमर्हति न तत्रैव । यच्छब्दस्य हि निकटे स्थितः प्रसिद्धिं परामृशति । यथा—

इस उदाहरण में 'इदम्' शब्द की भाँति 'अदस्' शब्द भी 'तद्' शब्द का वाचक है तो इस पिछले 'योऽविकल्प' इत्यादि प्रतीकवाले श्लोक में भिन्न-भिन्न वाक्यों में आने के कारण हो सकता है और पहिले वाले 'अपाङ्ग संसर्गि' इत्यादि प्रतीकवाले श्लोक की एकवाक्यता में 'अदस्' शब्द 'इदम्' का वाचक नहीं हो सकता । 'यत्' शब्द के निकटस्थ होने पर ही 'तत्' शब्द प्रसिद्ध का बोध कराता है (न कि सर्वत्र) । उदाहरण :—

यत्तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः ।
दीव्यताऽक्षैस्तदाऽनेन नूनं तदपि हारितम् ॥१६३॥

अर्थ—इस राजा युधिष्ठिर का अत्यन्त उन्नत और क्षत्रिय जाति का जो उग्र तेज था, जुआ खेलकर उसने उसे भी चौपट कर दिया।

इत्यत्र तच्छब्दः ।

यहाँ पर 'यत्' के निकटस्थ 'तत्' शब्द प्रसिद्धि का ध्यान दिलाता है।

ननु कथम्—

जो पूछो कि—

कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्त्ते
धुर्यां लक्ष्मीमथ मयि भृशं धेहि देव प्रसीद ।
यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ नम्रस्य तन्मे
भद्रं भद्रं वितर भगवन् ! भूयसे मङ्गलाय ॥१६४॥

अर्थ—हे विश्वमूर्त्ते सूर्य ! आप कल्याणकारी प्रभूत तेजों के आश्रय हैं। मुझे नाटक के प्रधान पुरुष बनने की योग्यता रूपी सम्पत्ति अनेक उपायों द्वारा दीजिये। कृपा कीजिये और परम मङ्गल के लिये अभीष्ट अर्थों को भी दीजिये।

अत्र यद्यदित्युक्त्वा तन्मे इत्युक्तम्। उच्यते यद्यदिति येन केन चिद्रूपेण स्थितं सर्वात्मकं वस्त्वाक्षिप्तम् तथाभूतमेव तच्छब्देन परामृश्यते ।

इस श्लोक में दो बार 'यत् यत्' ऐसा कह कर 'तन्मे' में केवल एक ही बार 'तत्' शब्द क्यों लिखा ? तो उसका उत्तर यह है कि 'यत्-यत्' मे जिस किसी रूप से स्थित सभी वस्तुएँ जो अर्थाक्षिप्त हैं उन सब का 'तत्' अकेले ही उस दशा में अर्थ ग्रहण करा रहा है।

यथा वा

समास में भी अनेक पद विषयक वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश दोष का उदाहरण :—

किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
मात्रा स्त्रीलघुतां गता किमथ वा मातैव मे मध्यमा ।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचित मन्ये विधात्रा कृतम् ॥१९५॥

अर्थ—[लक्ष्मण जी कहते हैं—] क्या लोभ के वशीभूत होकर भरत जी ने माता केकयी द्वारा तो ऐसा नहीं कराया ? अथवा हमारी मँझली माता केकयी ही स्त्री स्वभावसिद्ध नीचता के वशीभूत हो गईं ? नहीं, नहीं। उक्त दोनों ही प्रकार के मेरे विचार मिथ्या हैं, क्योंकि भरत जी तो आर्य (श्रीरामचन्द्र) जी के छोटे भाई हैं और माता जी मेरे तात (राजा दशरथ जी) की धर्मपत्नी हैं। अतएव जान पड़ता है कि यह अनुचित कार्य विधाता ही का किया हुआ है।

अत्रार्यस्येति तातस्येति च वाच्यं न त्वनयोः समासे गुणीभावः कार्यः एवं समासान्तरेऽप्युदाहार्यम् ।

यहाँ पर 'आर्यस्य अनुजः' और 'तातस्य कलत्र' इस प्रकार बिना समास किये ही अलग-अलग कहना ठीक था। न कि समास द्वारा आर्य और तात का सम्बन्ध गौण कर देना उचित था। इसी प्रकार, समासों के और-और उदाहरण भी खोज लिये जायँ।

विरुद्धमतिकृद् यथा

विरुद्धमतिकृत दोष का वाक्यगत उदाहरण :—

श्रितक्षमा रक्तभुवः शिवालिङ्गितमूर्त्तयः ।
विग्रहक्षपणेनाद्य शेरते ते गतासुखाः ॥१९६॥

अर्थ—आज वे राजा लोग क्षमा का आश्रय पा, प्रजा से प्रेम रखते हुए, कल्याण प्राप्ति विशिष्ट शरीरवाले बन, परस्पर का वैर त्याग, दुःख विहीन होकर सो रहे हैं।

अत्र क्षमादिगुणयुक्ताः सुखमासते इति विवक्षिते हता इति विरुद्धा प्रतीतिः ।

यहाँ पर 'क्षमादिगुण से युक्त सुखी हैं' यह भाव प्रकट करना इष्ट

है; परन्तु 'वे मार डाले गये' ऐसे विरुद्ध अर्थ की प्रतीति इन शब्दों के द्वारा होती है।

पदैकदेशे यथासम्भवं क्रमेणोदाहरणम्

पद के एक देश (भाग) में दोष प्रदर्शनार्थ यथासम्भव क्रमानुसार उदाहरण दिये जाते हैं—

[पद के एक देश में श्रुतिकटु का उदाहरणः—]

अलमतिचपलत्वात्स्वप्नमायोपमत्वात्
परिणतिविरसत्वात्संगमेनाङ्गनायाः।
इति यदि शतकृत्वस्तत्त्वमालोचयाम
स्तदपि न हरिणाक्षीं विस्मरत्यन्तरात्मा ॥१६७॥

अर्थ—यद्यपि मैं सैकड़ों बार यह सोचता हूं कि स्त्री का सङ्ग अत्यन्त अस्थिर, स्वप्न और माया के पदार्थों के समान मिथ्या और परिणाम मे नीरस है; तथापि मेरी अन्तरात्मा मृगनयनी को नहीं भूलती।

अत्र त्वादिति। यथा वा

यहाँ पर बारंबार 'त्वात्' का दुहराना श्रुतिकटु है।

पद के एक देशगत श्रुतिकटु दोष का अन्य उदाहरणः—

तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरलभ्य एव।
अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यै बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥१६८॥

अर्थ—[इन्द्र ने कामदेव से कहा—] बस अब तुम जाओ, देवताओं की कार्यसिद्धि के लिए प्रयत्न करो। यह कार्य, एक अन्य कार्य (पार्वती जी के साथ शिव जी के विवाह) की सिद्धि के लिये निर्भर है। उस इष्टसिद्धि के लिये तुम्हारी ऐसी सहायता चाहिये, जैसे बीज से अंकुर फूटने के पहिले जल की।

अत्र द्ध्यै ब्ध्यै इति कटु।

यहाँ पर 'द्ध्यै', और 'ब्ध्यै' इत्यादि श्रुतिकटु हैं।

[पद के एक देश में निहतार्थ दोष का उदाहरण :—]

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति ।

बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥१६६॥

अर्थ—जो हिमालय पर्वत अपनी चोटियों के द्वारा असमय की सन्ध्या के समान मेघों के बीच-बीच मे सक्रान्त कर देने वाली रग-विरंगी धातुओं से भरा रहता है जिमे देखकर अप्सरागण (वास्तविक सन्ध्या समझकर) अपने विलास के आभूषणों को शीघ्रतापूर्वक बिना विचारे ही ठाँव-कुठाँव में पहिनकर सजने लगती हैं।

अत्र मत्ताशब्दः क्षीबार्थे निहतार्थः ।

यहाँ पर 'मत्ता' यह पद का भाग निहतार्थ है। पागल अर्थ में 'मत्ता' शब्द विशेष प्रचलित है। और 'मत्ता' का 'युक्तता' यह अर्थ तिरोहित हो जाता है।

[पद के एक देश में निरर्थकत्व नामक दोष का एक उदाहरण :—]

आदावञ्जनपुञ्जलिप्तवपुषां श्वासानिलोल्लासित—
प्रोत्सर्पद्विरहानलेन च ततः सन्तापितानां दृशाम् ।
सम्प्रत्येव निषेकमश्रुपयसा देवस्य चेतोभुवो
भल्लीनामिव पानकर्म कुरुते काम कुरङ्गेक्षणा ॥२००॥

अर्थ—यह मृगनयनी स्त्री कामदेव के भाले के समान अपनी आँखों का पान कर्म (तीक्ष्ण या पैनी बनाने की क्रिया) सम्प्रति इस रीति से करती है कि पहले उन आँखों में अञ्जन की ढेर का लेप करती है फिर उसे अपने शोकोच्छ्वासरूप वायु से फूँकती है, तदनन्तर प्रसार पाते हुए विरहानल से उन्हें तपाती है और अब अश्रुधारा रूप जल प्रवाह से भली भाँति उसका सिचन करती है।

अत्र दृशामिति बहुवचनं निरर्थकम् कुरङ्गेक्षणाया एकस्या एवोपादानात् । नचालसवलितैरित्यादिवद् व्यापारभेदाद्बहुत्वम् व्यापाराणामनुपात्तत्वात् । न च व्यापारेऽत्र दृक्शब्दो वर्तते अत्रैव 'कुरुते' इत्यात्मनेपदमप्यनर्थकम् प्रधानक्रियाफलस्य कर्त्रसम्बन्धे कर्त्रभिप्रायक्रियाफलाभावात् ।

यहाँ पर 'दृशाम्' ऐसा बहुवचन में पाठ निरर्थक है क्योंकि वर्णन तो एक ही मृगनयनी का है। जिसकी आँखें सख्या मे दो से अधिक हो नहीं सकतीं) यह कहना भी ठीक नही कि 'अलसवलितैः'[1] इत्यादि प्रतीक वाले श्लोक की भाँति व्यापारभेद के कारण यहाँ भी आँखों में बहुत्व है; क्योंकि यहाँ पर व्यापारो का तो उल्लेख ही नहीं है और न तो 'दृक्' शब्द व्यापार के लिये रखा ही गया है। इसी श्लोक मे 'कुरुते' ऐसे आत्मनेपद का प्रयोग भी निरर्थक है, क्योकि प्रधान क्रिया का फल (सब विलासियों की विजय) कर्ता (मृगनयनी) से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता और कर्तृगामी क्रिया फल का अभाव भी है। [तात्पर्य यह है कि उभयपदी धातुओं मे जहाँ क्रियाफल कर्त्ता ही के अभिप्राय पर कर्तृगामी रहता है वहाँ पर स्व सम्बन्ध से आत्मनेपदी होता है। यदि क्रिया का फल किसी और से सम्बन्ध रखता है तो परस्मैपदी होता है उक्त उदाहरण मे क्रियाफल अपने कर्त्ता (मृगनयनी) से साक्षात् सम्बन्ध नहीं रखता, परन्तु अपने से भिन्न विलासीजनों से सम्बन्ध रखता है अतएव 'करोति' ऐसा परस्मैपद मे प्रयोग करना उचित था।]

[पदैकदेशगत अवाचकत्व दोष का उदाहरण :—

---

[1]अलसवलितैः प्रेमार्द्रार्द्रैर्मुहुर्मुकुलीकृतैः
क्षणमभिमुखैर्लज्जा लोलैर्निमेष पराङ्मुखैः।
हृदयनिहित भावाकूतं वमद्भिरिवेक्षणैः
कथय सुकृती कोऽय मुग्धे त्वयाद्य विलोक्यते॥

अर्थ—हे सुन्दरि! आलस्ययुक्त, प्रेम से परिपूर्ण, वारंवार मुकुलाकार होती हुई, क्षण भर संमुख ठहर कर लज्जा के कारण चञ्चल पलकों को न मींजती हुई, हृदय में रखे हुए प्रेम के गूढ अभिप्राय को प्रकट करती हुई, अपनी दृष्टियों से आज तुम कौन से पुण्यात्मा को देख रही हो? भला इस बात को बताओ तो सही।

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेयः
शस्त्रव्यस्त. सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः।
अस्त्येवैतत्किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्द्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥२०१॥

अर्थ—[रावण परशुराम जी से कहता है—] हे मुने! आपके धनुर्विद्यागुरु महादेव जी हैं, आपने स्वामिकार्तिक को जीत लिया है, आपका निवासस्थान समुद्र को हटा कर प्राप्त की गई भूमि है, आप के लिये समस्त पृथ्वी अतिथि को दान देने योग्य भिक्षा है। यह सब तो है, परन्तु आपकी माता श्री रेणुका जी के कण्ठ पर प्रहार करने वाले आप के परशु से स्पर्द्धा (होड़) करके मेरा यह चन्द्रहास (खड्ग) लज्जित होता है।

अत्र विजेय इति कृत्यप्रत्ययः क्तप्रत्ययार्थेऽवाचकः।

यहाँ पर 'विजेय' यह कृत्य प्रत्यय 'क्त' प्रत्यय के अर्थ में अवाचक है।

[पदैकदेशगत लज्जादायक अश्लील दोष का उदाहरण :—]

अतिपेलवमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः।
परमार्थतः स हृदयं वहति पुन. कालकूटघटितमिव ॥२०२॥

अर्थ—दुष्ट मनुष्य अत्यन्त मीठे एवं संक्षिप्त शब्दों को धीरे-धीरे कहता है, परन्तु वास्तव में उसका हृदय तीखे विष से भरा रहता है।

अत्र पेलवशब्द.।

यहाँ पर पेलव शब्द का एक देश 'पेल' यह अश्लील है।

[जुगुप्सादायक अश्लील दोष का पदैकदेशगत उदाहरण :—]

य. पूयते सुरसरिन्मुखतीर्थसार्थ—
स्नानेन शास्त्रपरिशीलनकीलनेन।
सौजन्यमान्यजनिरूर्जितमूर्जितानां
सोऽयं दृशो. पतति कस्यचिदेव पुंसः ॥२०३॥

अर्थ—जो महात्मा गङ्गा नदी आदि तीर्थ स्थान समूहों में स्नान

करके तथा शास्त्राभ्यास द्वारा दृढ़ संस्कार युक्त पवित्र होता है सौजन्य के कारण उसका जन्म श्लाघ्य है। वह बली पुरुषों से भी बलिष्ठतम है और भाग्यवश किसी किसी को दर्शन देता है।

अत्र पूयशब्दः।

यहाँ पर 'पूय' शब्द जुगुप्सादायक अश्लील है।

[अमङ्गलसूचक अश्लीलता का उदाहरण:—]

विनयप्रणयैककेतनं सततं योऽभवदङ्ग तादृशः।
कथमद्य स तद्वदीक्ष्यतां तदभिप्रेतपदं समागतः॥ २०४॥

अर्थ—अरे! वह मनुष्य जो पहिले सदा नम्रता और प्रीति का घर बना रहता था और वैसा उत्कृष्ट (योग्य) था अब अपने इष्ट पद को पाकर भी कैसे वैसा ही देखा जाय?

अत्र प्रेतशब्दः॥

यहा पर 'प्रेत' शब्द अमङ्गल सूचक अश्लील है।

[पदैकदेशगत सन्दिग्ध का उदाहरण :—]

कस्मिन्कर्मणि सामर्थ्यमस्य नोत्तपतेतराम्।
अयं साधुचर स्तस्मादञ्जलिर्बध्यतामिह॥ २०५॥

अर्थ—इस पुरुष की शक्ति कौन से काम में सविशेष प्रकाशित नहीं होती, यह बड़ा साधुचर (साधुओं के सदृश आचार वाला अथवा साधुओं के बीच रहनेवाला) जान पड़ता है। अतः इसे हाथ जोड़ो।

अत्र किं पूर्वं साधुः उत साधुषु चरतीति सन्देहः।

यहा पर 'साधुचर' शब्द का अर्थ सन्दिग्ध है; क्योंकि यह निर्णय नहीं होता कि यह पहले ही से साधु था, अथवा यह भाव है कि यह केवल साधुओं के बीच मे रहता है।

[पदैकदेशगत नेयार्थता का उदाहरण :—]

किमुच्यतेऽस्य भूपालमौलिमालामहामणेः।
सुदुर्लभं वचोबाणैस्तेजो यस्य विभाव्यते॥ २०६॥

अर्थ—जिसकी प्रताप प्राप्ति देवताओं को भी अति दुर्लभ जान

पड़ती है, राजाओं के मुकुट की महामणि के समान उस प्रकरण द्वारा प्रस्तुत राजा की क्या प्रशंसा की जाय ?

अत्र वचःशब्देन गीःशब्दो लक्ष्यते । अत्र खलु न केवलं पूर्वपदम् यावदुत्तरपदमपि पर्यायपरिवर्तनं न क्षमते । जलध्यादावुत्तरपदमेव बडवानलादौ पूर्वपदमेव ।

यहाँ पर 'वचो बाणैः' शब्द में वचः—गीः लक्षित होता है अतएव वचोबाण शब्द का अर्थ गीर्वाण (देवता) लगाना पड़ता है । ऐसे प्रकरणों मे न केवल पूर्व पद किन्तु कभी-कभी उत्तर पद भी पर्यायवाची शब्द में परिवर्तन योग्य नहीं होता । 'जलधि' आदि शब्दों में उत्तरपद और बड़वानल आदि शब्दों मे पूर्व पद ही परिवर्तन योग्य नहीं होता ।

यद्यप्यसमर्थस्यैवाप्रयुक्तादयः केचन भेदाः तथाप्यन्यैरलङ्कारिकैर्विभागेन प्रदर्शिता इति भेदप्रदर्शनेनोदाहर्त्तव्या इति च विभज्योक्ताः ।

यद्यपि अप्रयुक्त आदि कई एक दोषों के भेद असमर्थ नामक दोष के विभागमात्र हैं, तथापि अन्य-अन्य अलकारिकों ने उन्हें विलग-विलग दिखाया है, अतः उन्हें भेद प्रदर्शन के साथ ही कहना चाहिये । अतएव वे यहाँ पर विभाग करके पृथक-पृथक दिखलाये गये हैं ।

[उक्त प्रकार से पदगत, वाक्यगत और पदैकदेशगत दोषों का यथोचित, क्रमपूर्वक उदाहरण प्रदर्शन ऊपर कर दिया गया । अब आगे केवल वाक्यगत दोषों का निरूपण करते हैं ।]

(सू०७५) प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम् ।
न्यूनाधिककथितपद पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम् ॥ ५३ ॥
अर्द्धान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम् ।
अपदस्थपदसमासं सङ्कीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम् ॥ ५४ ॥
भग्नप्रक्रममक्रमममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा ।

अर्थ—ये (निम्नलिखित) वाक्य दोषयुक्त माने जाते हैं— (१) जिनके वर्ण रचना के प्रतिकूल हों, (२) जिनमे विसर्ग उपहत (उ के रूप में परिणत) वा लुप्त हो; (३) जिनमें सन्धि विरूप (अश्लील वा भद्दी)

हो; (४) जिनके वृत (छन्द) हत (सुनने मे दुःखदायक) हों; (५) जिनमें कुछ पद न्यून हों या (६) अधिक हों; अथवा (७) कथित हों; (८) जिन के वाक्य का उत्कर्ष क्रमशः घटता जाता हो; (९) जिनमें किसी विषय को समाप्त करके फिर से उठाया गया हो; (१०) जिसमें श्लोक के प्रथमार्द्ध का वाचक पद केवल श्लोक के द्वितीयार्द्ध मे एक ही रहे; (११) जहाँ पर इष्ट का सम्बन्ध ही न हो; (१२) जिनमे आवश्यक (कहने योग्य) विषय कहने से रह जाय; (१३) जिनमे कोई एक पद अपने स्थान पर न हो; (१४) जिनमे कोई समस्त पद अपने स्थान पर न हो (१५) जिनमें एक वाक्यांश के शब्द अन्य वाक्यांश मे सम्मिलित हों; (१६) जिनमे एक वाक्य के भीतर दूसरा वाक्य सन्निविष्ट (घुसा) हो; (१७) जो प्रसिद्ध से भिन्न हो (१८) जिनमे प्रसङ्ग का क्रम टूट गया हो (१९) जिनमें क्रम ही न रखा गया हो तथा (२०) जिनमे प्रकरणानुगत रस के विपरीत किसी अन्य रस की प्रतीति होती हो।

(१) रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते तद्विपरीतं प्रतिकूलवर्णम्। यथा शृङ्गारे।

किस रस के वर्णन में कौन-कौन से वर्ण गुणप्रद हैं, इसका निरूपण आगे अष्टम उल्लास में किया जायगा; तद्भिन्न वर्ण जो किसी रस के गुण के बाधक होते हैं वे प्रतिकूल कहे जाते हैं—

शृङ्गाररस के प्रतिकूल वर्णों की योजना का उदाहरण :—]

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर ॥ २०७ ॥

अर्थ—हे कलकण्ठि! क्षण-क्षण बढ़ती हुई उत्कण्ठा से कण्ठ तक परिपूर्ण मुझको शङ्ख सदृश कण्ठवाली उस नायिका के समीप पहुँचा कर मेरे कण्ठ की पीड़ा का निवारण करो।

रौद्रे यथा—

रौद्ररस मे प्रतिकूल वर्णों की रचना का उदाहरणः—

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः ।
तान्येवाहितहेतिघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः क्रोधनः ॥ २०८ ॥

अर्थ—[अश्वत्थामा कर्ण से कहता है—] यह वही देश है जहाँ शत्रुओं के रक्त-रूपी जल से कुण्ड भरे गये हैं और पहिले ही का सा क्षत्रियों के द्वारा मेरे पिता का केशाकर्षण रूप अनादर किया गया है। शत्रुओं के शस्त्रों को खा जानेवाले वे ही श्रेष्ठ और चमकीले मेरे शस्त्र भी हैं। वास्तव में जो-जो कार्य (पूर्व में) परशुराम जी ने किये थे उन्हीं को आज क्रोध के वश हो द्रोणाचार्य का पुत्र मैं अश्वत्थामा कार्यरूप में परिणत कर दिखाऊंगा।

अत्र हि विकटवर्णत्वं दीर्घसमासत्व चोचितम् । यथा—

यहाँ पर कठोर वर्ण और लम्बे-लम्बे समास रखना उचित था। जैसे—

प्रागप्राप्तनिशुम्भशाम्भवधनुर्द्वेधाविर्भवत्—
क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धः क्षणात् ।
उज्ज्वाल. परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथि—
र्येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते ॥ २०९ ॥

अर्थ—[शिवधनुष के भङ्ग होने पर परशुराम जी क्रोध में भर कर श्री रामचन्द्र जी से कहते हैं—] हे राम ! जिस शिव धनुष को पहिले कोई झुका भी न सका उसके दो टूक किये जाने पर प्रकट होनेवाले क्रोध के आवेश से भरे मुझ भृगुवंशी परशुराम के स्तम्भसदृश भुजा से प्रहार किया गया यह वेगवान् और चमकीला परशु—जिसके कारण महादेव जी संसार में खण्डपरशु नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं—क्षण भर में तुम्हारे कण्ठरूप पीढ़ा के आसन पर बैठनेवाला अतिथि बन जाय।

अत्र तु न क्रोधस्तत्र चतुर्थपादाभिधाने तथैव शब्दप्रयोगः ।

[यहाँ पर क्रोध से भरे परशुराम जी की उक्ति में लम्बे-लम्बे समास

और कठोर-कठोर वर्ण रखे गये हैं ; परन्तु—] जहाँ पर क्रोध नहीं प्रकट किया गया है वहाँ चतुर्थ पाद में तदनुकूल वर्णवाले शब्द रखे गये हैं।

(२) उपहत उत्वं प्राप्तो (३) लुप्तो वा विसर्गो यत्र तत्। यथा—

'उ' के रूप मे परिणत अथवा जहाँ पर विसर्ग लुप्त हो गया हो उसे उपहत अथवा लुप्तविसर्ग कहते हैं।

[दोनों प्रकार के दोषों का उदाहरण एक ही श्लोक में दिया जाता है।]

धीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र सः।
यस्य भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभाविताः ॥ २१० ॥

अर्थ—इस संसार मे वही राजा पण्डित, सुशिक्षित, चतुर और सुन्दर है जिसके सेवक बल के दर्प तथा बुद्धि के प्रभाव से सामर्थ्यशाली हो।

[यहाँ पर पूर्वार्द्ध मे विसर्ग के उत्व मे परिणत होने और उत्तरार्द्ध में विसर्ग के लोप के कई एक उदाहरण आये हैं।]

(४) विसन्धि सन्धेर्वैरूप्यम् विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च। तत्राद्यं यथा—

विसन्धि उस दोष को कहते है, जहाँ सन्धि मे वैरूप्य (भद्दा रूप) अर्थात् असन्धि, अश्लीलता और उच्चारण का कष्ट हो। [प्रथम सन्धि के वैरूप्य का उदाहरण :—]

राजन्विभान्ति भवतश्चरितानि तानि
इन्दोर्द्युतिं दधति यानि रसातलेऽन्तः।
धीदोर्बले अतितते उचितानुवृत्ती
आतन्वती विजयसम्पदमेत्य भातः ॥ २११ ॥

अर्थ—हे राजन्! आप के वे चरित्र शोभित होते हैं, जो पाताल में भी पहुँच कर चन्द्रमा की चमक धारण करते हैं और आप की बुद्धि तथा बाहुबल भी अति विस्तृत हैं, वे विजय सम्पत्ति को प्राप्त करके यथोचित रीति से कार्य में प्रवृत्त होने के कारण भले लगते हैं।

यथा वा—

सन्धि के वैरूप्य का अन्य उदाहरण :—

तत उदित उदारहारहारिद्युतिरुच्चैरुदयाचलादिवेन्दुः ।
निजवंश उदात्तकान्तकान्तिर्वत मुक्तामणिवच्चकास्त्यनर्घः ॥२१२॥

अर्थ—अत्यन्त मनोहर शोभायुक्त, स्वकुल में मुक्तामणि के समान बहुमूल्य अर्थात् श्रेष्ठ, यह राजा ऊँचे उदयाचल से उदय होकर जैसे चन्द्रमा प्रकाशित होता है वैसे ही बड़े हार के पहिनने से रमणीय कान्तिवाला स्ववश में सम्भूत उद्दीप्त हो रहा है।

संहितां न करोमीति स्वेच्छया सकृदपि दोष प्रगृह्यादिहेतुकत्वे त्वसकृत

इन दोनों उदाहरणों में जहाँ व्याकरण के नियमानुसार सन्धि की जानी चाहिये थी वहाँ एक बार भी संधि नहीं की गयी अतः यह सदोष ही है। एक बार से अधिक होने के कारण प्रगृह्य (सन्धि के बाधक नियमों के अनुसार असन्धि अथवा पूर्व सा रूप बना रहने देना) भी दोषावह है।

[सन्धिगत अश्लीलता का उदाहरण :—

वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः ।
अयमुत्पतते पत्री ततोऽत्रैव रुचिङ्कुरु । ११३ ॥

अर्थ—[नायिका से नायक के सङ्केत किये हुए स्थान को बताती हुई सखी कहती है—] हे सखि ! बलपूर्वक आकाश मे उडकर विशिष्ट चेष्टावाला यह पक्षी चमक रहा है, अतः इसी स्थान पर तुम प्रेमपूर्वक ठहरो।

अत्र सन्धावश्लीलता।

यहाँ पर सन्धि मे [लण्डा और चिङ्कु शब्द क्रमशः काशी और काश्मीर की बोली मे पुरुष एवं स्त्री के गुह्य चिह्न वाची शब्द हैं।] अश्लीलता नामक दोष है।

[सन्धि में कष्टत्व दोष का उदाहरण :—]

उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः ।
नात्रर्जु युज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक् ॥२१४॥

अर्थ—इस मरुस्थल के अन्तभाग मे बहुत ही सुन्दर स्थितिवाली पृथ्वी है। इस वन मे सीधे चले जाना उचित नहीं है अतः शिर थोड़ा झुका लो।

(५) हतं लक्षणाऽनुसरणेऽप्यश्रव्यम् अप्राप्तगुरुभावान्तलघु रसाननुगुणं च वृत्तं यत्र तत् हतवृत्तम्। क्रमेणोदाहरणम्।

हतवृत्त उसे कहते हैं जहाँ पर छन्दशास्त्र के नियमानुसार चलने पर भी सुनने मे भद्दा लगे, जहाँ पर अप्राप्त गुरु भाव लघु हो अथवा जहाँ पर रस के अनुकूल वृत्त (छन्द) न हो। इन सबों के क्रमशः उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं। [उनमे से प्रथम दोष का उदाहरण :—]

अमृतममृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत्स्वादु स्यात्प्रियादशनच्छदात् ॥२१५॥

अर्थ—अमृत तो अमृत ही है, इसमे सन्देह क्या? मधु भी मधु ही है और कुछ भी नहीं। वैसे ही मीठे रसवाला आम का फल भी बहुत मीठा होता है। परन्तु जो मनुष्य सब प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थों का रस भली भाँति जानता है, वह भला एक बार पक्षपात रहित होकर बता दे कि प्यारी के अधर से बढ़कर और कोई स्वादिष्ट वस्तु संसार में है?

अत्र 'यदिहान्यत्स्वादु स्यात्' इत्यश्रव्यम्। यथा वा

यहाँ पर चतुर्थ चरण मे 'यदिहान्यत्स्वादु स्यात्' यह सुनने मे भद्दा है। इसी सुनने मे भद्देरूप दोष का एक अन्य उदाहरण :—

जं परिहरिउं तीरइ मणअं पि ण सुन्दरत्तणगुणेण।
अह णवरं जस्स दोसो पडिपक्खेहिं पि पडिवण्णो ॥२१६॥

[छाया—यत्परिहर्तुं तीर्यते मनागपि न सुन्दरत्वगुणेन ।
अथ केवलं यस्य दोषः प्रतिपक्षैरपि प्रतिपन्नः ।]

अर्थ—[मानिनी नायिका से दूती कहती है—] काम चेष्टा का बस एक दोष है कि वह अपनी मनोहरता के कारण छोड़ा नहीं जा सकता । इस दोष को उसके शत्रुओं (वैरागियों) ने भी मान लिया है।

अत्र द्वितीयतृतीयगणौ सकारभकारौ ।

यहाँ पर प्रथम चरण मे द्वितीय सगण (अन्तगुरुवाला हरि उ) और तृतीय भगण (आदिगुरुवाला तीरइ) ये दोनों सुनने मे भद्दे लगते हैं ।

अप्राप्तगुरु भाव लघु मात्रावाले वृत्त का उदाहरण :—

विकसितसहकारतारहारिपरिमलगुञ्जितपुञ्जितद्विरेफः ।
नवकिसलयचारुचामरश्रीर्हरति मुनेरपिमानसं वसन्तः ॥२१७॥

अर्थ—जिसके समय मे खिले हुए मीठे आम के फूलों के अत्युत्कट और मनोहर गन्ध से भौंरे उन पर जुटकर गुञ्जार करते हैं और नये पत्ते ही जिसके सुन्दर चँवर हैं, ऐसा वसन्त ऋतु का (मनोहर) काल मुनियों के मन को भी मोहित करता है।

अत्र 'हारि' शब्दः । हारिप्रमुदितसौरभेति पाठोयुक्तः । यथा वा

यहाँ पर 'हारि' शब्द अप्राप्तगुरु भाव (लघु पाद के अन्त में स्थित जिस लघु वर्ण को किसी प्रकार गुरु नहीं कर सकते) है। अतः यहाँ पर 'हारिप्रमुदितसौरभ' इत्यादि पाठ रखना उचित है [जिसमें 'हारि' शब्द का अन्तिम स्वर सयुक्ताद्य होने से गुरु गिना जाय]।

[अप्राप्तगुरु भाव लघु का उदाहरणान्तर :—]

अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्यामृदन्यैव सा
सम्भाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा ।
श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषो करतलात्स्त्रीणां नितम्बस्थलाद्
दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च ॥२१८॥

अर्थ—वह कोई अद्भुत गुणरत्नों की उपजानेवाली भूमि है, वह कोई और धन्यभागवाली मिट्टी है, तथा वे कोई और ही उपादान हैं,

जिनके द्वारा विधाता ने इस युवा पुरुष के शरीर की रचना की है कि जिसके देखते ही मोहवश श्रीमान् और अति सुन्दर शत्रुओं के हाथों से शस्त्र और श्रीमती सुन्दरी स्त्रियों के नितम्ब स्थल से वस्त्र खिसक पड़ते हैं।

अत्र 'वस्त्राण्यपि' इति पाठे लघुरपि गुरुतां भजते ।

यहाँ पर 'वस्त्राणिच' के स्थान पर 'वस्त्राण्यपि' ऐसा पाठकर देने से लघुमात्रा भी गुरु हो जाती है।

[रस के विपरीत वृत्त का उदाहरण :—]

हा नृप हा बुध हा कविबन्धो विप्रसहस्र समाश्रय देव ।
मुग्धविदग्धसभान्तररत्न ! क्वासि गतः क्व वयं च तवैते ॥२१९

अर्थ—हाय राजा ! हाय पण्डित ! हाय कवियों के मित्र ! हाय सहस्रों ब्राह्मणों के आश्रयदाता देवता ! सभा के अन्तः स्थित रमणीय और चतुर रत्न ! आप कहाँ चले गये ? और अब ऐसी अवस्थावाले आपके सेवक हम लोग कहाँ जायँ ?

हास्यरसव्यञ्जकमेतद्वृत्तम् ।

यह दोधकवृत्त हास्यरस का व्यञ्जक है अतएव करुणरस के विपरीत पड़ता है।

(६) न्यूनपदं यथा—

न्यून पद का उदाहरण :—

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषित वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥२२०॥

[इस श्लोक का अर्थ तृतीय उल्लास मे ३२ वें पृष्ठ पर लिखा जा चुका है।]

(अत्रास्माभिरिति 'खिन्ने' इत्यस्मात्पूर्वमित्थमिति च ।

यहाँ पर पूर्व के तीनों चरणों में 'अस्माभिः' यह पद और चतुर्थ

चरण में 'खिन्ने' के पहिले 'इत्थं' यह पद होना चाहिये था।

(७) अधिकं यथा—

अधिकपदवाले वाक्य का उदाहरण :—

स्फटिकाकृतिनिर्मलः प्रकामं प्रतिसङ्क्रान्तनिशातशास्त्रतत्त्वः।
अविरुद्धसमन्वितोक्तियुक्तिः प्रतिमल्लास्तमयोदयः स कोऽपि ॥२२१॥

अर्थ—वह तो कोई ऐसा महापुरुष है, जो स्फटिक के समान निर्मल चित्त है। भली भाँति शास्त्रों के गूढतत्त्वों का भी ज्ञाता है। उसकी उक्ति और युक्ति लोक तथा शास्त्र इन दोनों के अनुकूल है और उसके सामने प्रतिवादी ठहर नहीं सकते।

अत्राकृतिशब्दः। यथा वा—

यहाँ पर 'आकृति' शब्द अधिक है। अधिकपदवाला एक और उदाहरण :—

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां यदिह जरास्वपि मान्मथा विकाराः।
यदपि च न कृत नितम्बिनीनां स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा ॥२२२॥

अर्थ—यह तो लोक और शास्त्र दोनों के विरुद्ध बहुत ही अनुचित बात है कि मनुष्य को बुढ़ापे मे भी काम भाव उत्पन्न हो, और यह भी कि सुन्दर नितम्बवाली स्त्रियों के जीवन और रमण केवल स्तनों के पतन काल तक ही नहीं रखे गये। अतः यह अनुचित और अयोग्य है।

अत्र कृतमिति। कृतं प्रत्युत प्रक्रमभङ्गमावहति। तथा च 'यदपि च न कुरङ्गलोचनानाम्' इति पाठे निराकाङ्क्षैव प्रतीतिः।

यहाँ पर 'कृत' इतना, अधिक है और प्रकरण भग कारक भी है। ऐसी अवस्था में 'यदपि च न कुरङ्गलोचनाना' ऐसा पाठ करने से साकाङ्क्ष प्रतीत नहीं रह जाती किन्तु प्रकरणानुसार अर्थ ठीक बैठ जाता।

(८) कथित पद यथा

कथित पद का उदाहरण :—

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला-
परिमिलननिमीलपाण्डिमा गण्डपाली।
सुतनु कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनर पतिलीलायौवराज्याभिषेकम् ॥२२३॥

अर्थ—हे सुतनु! जो तुम अपने करतल (हथेली) पर शिर रखकर सो रही हो सो उसके दृढ़तर सम्मिलन (सम्बन्ध) से तुम्हारे कपोलों का पीलापन मिट गया है। सचसच बताओ कि यह किस नायक के राजा कामदेव के युवराजपद पर अभिषिक्त होने के सौभाग्य को प्रकट करता है।

अत्र लीलेति।

यहाँ पर प्रथम चरण मे कथित 'लीला' यह चतुर्थ चरण मे पुनरुक्त है।

(९) पतत्प्रकर्षं यथा—

पतत्प्रकर्ष (वर्णन के उत्कर्ष को घटानेवाला) दोष का उदाहरण:—

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरोघुरेत्सूकरः
कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः।
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मीलयेयुर्यतः
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्तते ॥२२४॥

अर्थ—घुर्घुर शब्द करनेवाली नाक के कारण भयङ्कर सुअर कहाँ-कहाँ नहीं घुर्घुराता है? कौन-कौन सा हाथी, कमलों के उत्पत्ति-स्थान को कमलों से रहित करने को तत्पर नहीं है? और कौन-कौन से वनों के जंगली भैंसे उन वनों को उखाड़ नहीं फेंकते हैं? क्योंकि सिंहिनी के प्रेमानन्द में फँसकर सिंह इस समय एकान्तवास में फँस गया है।

[यहाँ पर सुअर, हाथी और भैंसों की चेष्टा वर्णन मे जैसी वर्ण रचना की दृढ़ता है वैसी सिंह के वर्णन मे नहीं है। इसकी अनुपस्थिति ही वर्णन की हेयता (पतत्प्रकर्षता) को प्रकट कर रही है।]

(१०) समाप्तपुनरात्तं यथा—

समाप्तपुनरात्त (जिस विषय का वर्णन समाप्त किया जा चुका

है; पर वह फिर से उठाया गया हो) दोष को प्रकट करनेवाला उदाहरण :—

> क्रेङ्कारः स्मरकार्मुकस्य सुरतक्रीडापिकीनां रवः
> झङ्कारो रतिमञ्जरीमधुलिहां लीलाचकोरीध्वनिः
> तन्व्याः कञ्चुलिकापसारण भुजाक्षेपस्खलत्कङ्कण-
> क्वाणः प्रेम तनोतु वो नववयोलास्याय वेणुस्वनः ॥२२५॥

अर्थ—कृशाङ्गी नायिका के शरीर पर से चोली उतारते समय बाहुओं के हिलने से कड़ों की झनझनाहट का वह शब्द तुम लोगों (नायकों) के प्रेम का वर्द्धक हो, जो कामदेव के धनुष-डोर की फटकार है, सुरत क्रीड़ा रूप कोयलों की कूक है, रतिमञ्जरी के भौंरों का गुञ्जार है, लीलारूप चकोरी का चहचहाना है, और भी जो फिर भी नवीन अवस्थावाले युवकों को नचाने के लिये बाँसुरी का शब्द है।

[यहाँ पर एक बार वाक्य समाप्त करके फिर से 'नववयोलास्याय' इत्यादि वाक्यांश को ग्रहण किया गया है।]

(११) द्वितीयार्द्धगतैकवाचकशेष प्रथमार्द्ध यथा—

अर्द्धान्तरैकवाचक (अर्थात् श्लोक का पूर्वार्द्धगत वाक्य उत्तरार्द्ध-गत एक पद के द्वारा जहाँ पूरा किया गया हो) दोष का उदाहरण :—

> मसृण चरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा
> विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः।
> तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः
> पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च ॥२२६॥

अर्थ—वनगमन के समय आँखों में आँसू भरकर पथिक स्त्रियों ने जनकपुत्री सीता जी को जो देखा तो यह उपदेश दिया कि पृथ्वीतल पर कुश भरे हुए हैं वहाँ भूमि पर धीरे-धीरे पैर रखकर चलना, तथा घाम भी कड़ा है अतः वस्त्रप्रान्त (साड़ी के अञ्चल) को शिर के ऊपर खींच लो।

[यहाँ पर पूर्वार्द्ध में वाक्यगत 'मसृण...कठोरः' इत्यादि वाक्य का पूरक 'तत्' शब्द उत्तरार्द्ध में आया है।]

(१२) अभवन्मतः (इष्टः) योगः (सम्बन्धः) यत्र तत्' यथा—

अभवन्मतसयोग (इष्टार्थ का सम्बन्ध जहाँ पर न हो) वाले वाक्य का उदाहरण :—

येषां तास्त्रिदशेभदानसरितः पीताःप्रतापोष्मभि
लीलापानभुवश्च नन्दनवनच्छायासु यैः कल्पिताः।
येषां हुंकृतयः कृतामरपतिक्षोभाः क्षपाचारिणां
किं तैस्त्वत्परितोपकारि विहितं किञ्चित्प्रवादोचितम् ॥२२७॥

अर्थ—[हनुमान द्वारा लंका जला दिये जाने के बाद वीर राक्षसों की निन्दा करते हुए कोई कह रहा है—]हे रावण ! जिन राक्षसों ने अपने प्रताप की उष्णता से देवताओं के हाथी ऐरावत की मद जल-धारा रूप नदी को सोख लिया, जिन्होंने नन्दन वन के वृक्षों की छाया में लीलापान भूमि (कलवरिया) बना डाली, जिनकी हुङ्कार से देवताओं के राजा इन्द्र भी सहम गये थे, उन राक्षसों ने इस समय आपके लिये ऐसा कौन-सा संतोषजनक कार्य किया जिसका सभा में उल्लेख किया जा सके ?

अत्र "गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात" इत्युक्तनयेन यच्छब्दनिर्देश्यानामर्थानां परस्परमसमन्वयेन यैरित्यत्र विशेष्यस्याप्रतीतिरिति। 'क्षपाचारिभिः' इति पाठे युज्यते समन्वयः।

यहाँ पर 'गुणाना च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात्' अर्थात् 'गुण (अप्रधान या विशेषण) पदार्थों के परार्थ विषयक (प्रधानापेक्षित) होने के कारण परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रहता' [क्योंकि वे सभी अप्रधान होकर प्रधान की सिद्धि की अपेक्षा रखते हैं।]। जैमिनि कथित उक्त सूत्रस्थ नियमानुसार यत्पदार्थ (अर्थात् यत् शब्द) द्वारा निर्देश किया गया है, वे अर्थ अप्रधान (विशेषण) रूप होने से परस्पर अन्वित (संबद्ध) नहीं होते, अतएव 'यैः' इस अप्रधान पद से (प्रधान) विशेष्य

की प्रतीत नहीं होती, यही अभवन्मत नामक दोष है। यहाँ पर 'त्वपाचारिभिः' ऐसा पाठ कर देने से 'तैः' इस चतुर्थ चरण के विशेष्य का ठीक-ठीक सम्बन्ध बैठ जाने से उचित समन्वय हो जाता है।

यथा वा—

अभवन्मतयोग दोष का दूसरा उदाहरण :—

त्वमेव सौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः।
अपि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वा-
मतः शेषं यत्स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया ॥२२८॥

अर्थ—[दूती किसी नायिका से कहती है—] हे सुन्दरि! तुम ऐसी विलक्षण सौन्दर्यशालिनी हो, और वह (नायक) भी परम रुचिर है। तुम्हीं दोनों सब प्रकार की कला (निपुणता) जाननेवालों की पराकाष्ठा हो! सौभाग्य से तुम दोनों की जोड़ी बहुत ठीक मिल रही है। अब जो परस्पर एक दूसरे का समागमरूप कार्य शेष रह गया है वह निपट जाय तो कहें कि हाँ गुणवत्ता (अच्छाई) ने विजय प्राप्त कर ली।

अत्र यदित्यत्र तदिति तदानीमित्यत्र यदेति वचनं नास्ति। 'चेत्स्यात्' इति युक्तः पाठः। यथा वा

यहाँ पर चतुर्थ चरण में जो 'यत्' शब्द उद्देश्यरूप है उसका पूरक विधेयरूप 'तत्' नहीं मिलता। तथा 'तदानीम्' रूप जो विधेय है उसका उद्देश्य भी 'यदा' रूप में नहीं मिलता। इस प्रकार अभवन्मतयोग नामक दोष यहाँ आ पड़ा है। यदि यहाँ पर 'चेत्स्यात्' ऐसा पाठ कर दिया जाय तो ठीक हो जाय।

अभवन्मतयोग का एक तीसरा उदाहरण :—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्त्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥२२९॥

अर्थ—हे महाराज! जब आपने युद्धस्थल में आकर धनुष चढ़ाया तो शीघ्र-शीघ्र किस-किस ने क्या-क्या पाया, उसे सुनिये। आपके धनुष ने पाये बाण, बाणों ने पाये शत्रुओं के शिर, शत्रुओं के शिर कट कर गिरे भूमि पर और भूमि मिली आपको, आपने पाई अतुल कीर्ति, और कीर्ति व्याप्त हो गई तीनों लोकों में।

अत्राकर्णनक्रियाकर्मत्वे कोदण्डं शरानित्यादिवाक्यार्थस्य कर्मत्वे कोदण्डः शरा इति प्राप्तम्। न च यच्छब्दार्थस्तद्विशेषणं वा कोदण्डादि। न च केन केनेत्यादि प्रश्नः।

यहाँ पर यदि संज्ञा शब्दों को आकर्णन क्रिया का कर्म बनावें तो 'कोदण्डं शरान्' इत्यादि रूप से वाक्य रचना होनी चाहिये और यदि समस्त वाक्य ही को कर्म बनावें तो 'कोदण्डः शराः' इत्यादि सभी संज्ञा शब्दों के कर्ता कारक के रूप में रखना उचित होता। यदि यह कहो कि 'येन यत् समासादितम्' के अनुसार 'कोदण्डेन शराः' इत्यादि कहा गया है तो हम पूछते हैं कि 'कोदण्ड' आदि शब्द 'यत्' शब्द के अर्थ हैं, अथवा विशेषण, जिससे सम्बन्ध बैठ सके? अतः ऐसा भी नहीं हो सकता क्योंकि 'येन कोदण्डेन यत् समासादितम् तदाकर्णय' ऐसा वाक्य बनाने में वाक्य की साकांक्षता निवृत्त नहीं होती। हाँ, 'केन-केन किं किं प्राप्तम्' यदि ऐसा प्रश्न किया जाता तो भले 'कोदण्डेन शराः' इत्यादि शब्दावली ठीक पड़ती; परन्तु यहाँ पर वैसे प्रश्न भी नहीं किये गये हैं; अतएव अभवन्मतयोग नामक दोष गलग्रह व्याधि के समान दुर्निवार हो गया है।

यथा वा—

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेयः
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः।
अस्त्येवैतत्किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां,
बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥२२०॥

[इस श्लोक का अर्थ लिखा जा चुका है, देखिये श्लोक २०१]

इत्यादौ भार्गवस्य निन्दायां तात्पर्यम्। कृतवतेति परशौ सा प्रतीयते। 'कृतवतः' इति पाठे तु मतयोगो भवति। यथा वा

उक्त श्लोक का तात्पर्य तो परशुराम जी की निन्दा से है; परन्तु 'कृतवता' इस पद के विशेषण वना देने से 'परशु' की निन्दा प्रतीत होती है। कृतवतः ऐसा पाठ करके इसे परशुराम का विशेषण वना देने से मतयोग (इष्टार्थ) की सिद्धि हो जाती है। अभवन्मतयोग का पञ्चम उदाहरण :—

चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान् कर्मोपदेष्टा हरिः
संग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता।
कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलं
राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं हतो दुन्दुभिः ॥२२१॥

अर्थ—[पाण्डुपुत्र भीमसेन जो कहते हैं :—] हम, अर्जुन नकुल और सहदेव—ये चारों भाई युद्ध रूप यज्ञ में पुरोहित हैं, भगवान् श्रीकृष्ण जी हम लोगों के लिये कर्मोपदेष्टा हैं, राजा युधिष्ठर यज्ञ में दीक्षित यजमान हैं, महारानी द्रौपदी जी व्रतधारिणी यजमान पत्नी हैं। सौ कौरव गण वलिदान के योग्य पशु हैं। प्रियतमा के अनादररूप क्लेश की शान्ति इस यज्ञ का फल है। अतः राजाओं का यज्ञ में बुलाने के लिये वजाई गई दुन्दुभि गम्भीर ध्वनि कर रहा है।

अत्राध्वरशब्दः समासे गुणीभूत इति न तदर्थः सर्वैः सयुज्यते। यथा वा

यहाँ पर अध्वर शब्द, जिसका सम्बन्ध मुख्यतया वाक्य से है, समास के अन्तर्गत होकर गुणीभूत हो गया है। और उस अध्वर शब्द का सम्बन्ध ऋत्विक्' उपदेष्टा, पशु, फल आदि शब्दों से नहीं वैठता।

अभवन्मतयोग का एक अन्य उदाहरण :—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसर किसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः

भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥२३२॥

[इस श्लोक का अर्थ लिखा जा चुका है, देखिये श्लोक १५० ।]

अत्र दण्डपादगता निजतनुः प्रतीयते भवान्याः सम्बन्धिनी तु विवक्षिता ।

यहाँ पर निजतनु शब्द का दण्डपाद से अन्वय प्रतीत होता है; परन्तु भवानी से उसका अन्वय करना कवि को अभीष्ट है। अतः यहाँ पर भी अभवन्मतयोग नामक दोष उपस्थित है,

(१३) अवश्यवक्तव्यमनुक्तं यत्र। यथा—

अनभिहित वाच्य उस दोष को कहते हैं जहाँ पर कोई अवश्य कहने योग्य विषय कहने से छूट जाय। उदाहरण :—

अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टैरत्यद्भुतैरपहृतस्य तथापि नास्था।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेयसौन्दर्यसारसमुदायमयः पदार्थः ॥२३३॥

अर्थ—[मिथिलापुरी में शिवधनुष के भङ्ग हो जाने पर श्रीरामचन्द्र जी को देख परशुराम जी अपने मन में कहते हैं—] इस असाधारण जन के अलौकिक उत्तम चरित्रों को देखकर यद्यपि मैं मोहित हो गया हूँ, तथापि मैं उसका आदर नहीं करता। यह तो वीर बालक का वेश धारण किये अनुपम सुन्दरता के सारभागों का समूह रूप कोई अद्भुत पदार्थ है।

अत्र 'अपहृतोऽस्मि' इत्यपहृतत्वस्य विधिर्वाच्य. तथापीत्यस्य द्वितीयवाक्यगतत्वेनैवोपपत्तेः। यथा वा

यहाँ पर 'अपहृतोऽस्मि' (मैं मोहित गया हूँ) ऐसा अपहृतत्व को विधि बनाकर कहना उचित था; क्योंकि तथापि की सिद्धि द्वितीय वाक्य द्वा के अर्थानुसन्धान द्वारा हो सकती है। अनभिहित वाच्य का एक अन्य उदाहरण :—

एषोऽहमद्रितनयामुखपद्मजन्मा प्राप्तः सुरासुरमनोरथदूरवर्ती।
स्वप्नेऽनिरुद्धघटनाधिगताभिरूपलक्ष्मीफलामसुरराजसुतां विधाय॥२३४॥

अर्थ—देवताओं और राक्षसों के भी मनोरथों से दूरवर्ती मैं पार्वती जी के मुख कमल से निकलकर, राक्षसराज बाणासुर की कन्या के साथ स्वप्न में अनिरुद्ध जी का समागम कराकर उसे यथोचित सौन्दर्य सम्पत्ति का फल दिलाकर यहाँ पर (वरदान रूप से) उपस्थित हुआ हूँ।

अत्र मनोरथानामपि दूरवर्त्तीत्यप्यर्थो वाच्यः। यथा वा—

यहाँ पर 'मनोरथानामपि दूरवर्ती, (मनोरथों को भी दुर्लभ) ऐसा कहना उचित था। इसी दोष का एक और उदाहरण :—

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः।
कमपराधलवं मयि पश्यसि त्यजसि मानिनि दासजनं यतः ॥२३५॥

अर्थ—हे मानिनि! तुम से प्रीति रखनेवाले, प्रियवादी, प्रेमभङ्ग से विमुख, इस दास में तुम किस अपराध का लेश पाती हो जो उसका परित्याग करती हो?

अत्र 'अपराधस्य लवमपि' इति वाच्यम्।

यहाँ पर 'अपराधस्य लवमपि' (अपराध का लेशमात्र भी) कहना आवश्यक था।

(१४) अस्थानस्थपदं यथा

अस्थानस्थ पद (जिसमे कोई एक पद अपने उचित स्थान पर न हो) दोष का उदाहरण :—

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु ॥२३६॥

अर्थ—किसी नायिका ने अपनी सपत्नी के निकट ही पति से भली भाँति गूँथ कर विशाल स्तनोंवाले वक्षस्थल पर पहिनाई गई माला को जल में डूब कर मुरझाने पर भी नही छोड़ा, क्योंकि गुण प्रेम में निवास करते हैं न कि वस्तु में।

अत्र 'काचिन्न विजहौ' इति वाच्यम्। यथा वा—

यहाँ पर 'न काचिद्विजहौ' के स्थान मे 'काचिन्न विजहौ' ऐसा पाठ करना उचित था; नही तो इष्ट से विपरीत अर्थ (अर्थात् किसी

एक स्त्री ने नहीं; किन्तु सभी स्त्रियों ने छोड़ दिया, ऐसा अर्थ) प्रकट होने लगेगा। इसी दोष का एक और उदाहरण :—

लग्नः केलिकचग्रहश्लथजटालम्बेन निद्रान्तरे
मुद्राङ्कः शितिकन्धरेन्दुशकलेनान्तः कपोलस्थलम्।
पार्वत्या नखलक्ष्मशङ्कितसखीनर्मस्मितह्रीतया
प्रोन्मृष्टः करपल्लवेन कुटिलाताम्रच्छविः पातु वः ॥२३७॥

अर्थ—[किसी समय पार्वती जी ने रात्रि में शिवजी के साथ प्रणय-कलह करके चन्द्रखण्ड समेत शिवजी की जटा को खींच कर अपने कपोल के नीचे डालकर शयन किया। प्रातःकाल जटा में स्थित चन्द्रमा की छाप कपोल पर पड़ जाने से सखी ने उसे नखक्षत समझकर हँस दिया, इस पर लज्जित होकर पार्वती जी ने अपने हाथ को फेरकर वह चिह्न मिटा दिया। इस प्रकार कवि-कल्पित इतिहास का वर्णन इस पद्य में किया गया है—] सोते समय महादेव जी के चन्द्र-खण्ड के दब जाने से उस कपोलतल में जो छाप का चिह्न पड़ गया, वह तुम लोगों की रक्षा करे। वह चन्द्रखण्ड केलि में केशाकर्षण के समय शिवजी की शिथिल जटा में लटक रहा था। सखी ने जब उस टेढ़े और लाल रङ्ग के चिह्न को नखाघात का चिह्न अनुमान किया तब पार्वती जी ने मुसकराकर खेल ही खेल में लज्जापूर्वक उस चिह्न को अपने पल्लव सदृश कोमल हाथों से पोंछ दिया।

अत्र नखलक्ष्मेत्यतः पूर्वं 'कुटिला ताम्र' इति वाच्यम्

यहाँ पर 'कुटिलाताम्रच्छवि' ऐसा मुद्राङ्क वा नखलक्ष्म का विशेषण 'नखलक्ष्म' शब्द से पहिले लिखा जाना चाहिये था।

अस्थानस्थसमासं यथा—

अस्थानस्थ समास रूप दोष का उदाहरण :—

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः।

क्रोधद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लत्कैरवकोशनिः सरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ॥२३८॥

अर्थ—अरे ! इन सुन्दरी स्त्रियों के स्तनरूप पर्वत के कारण दुर्गम विषम हृदय में अब तक मान ठहरा ही रहना चाहता है, ऐसा विचार कर मानो क्रोध से लाल हो चन्द्रमा दूर तक अपनी किरणों को फैला कर खिलती हुई कुमुदिनी रूप म्यान से निकलते हुए भ्रमरों की पक्ति रूप तलवार को खींच रहा है ।

अत्र क्रुद्धस्योक्तौ समासो न कृतः कवेरुक्तौ तु कृतः ।

यहाँ पर क्रुद्ध चन्द्रमा की उक्ति मे समास होना उचित था वहाँ तो नहीं किया गया, परन्तु कवि की उक्ति मे जहाँ समास नहीं होना चाहिये था किया गया । [यहीं दोनों प्रकार के अस्थानस्थ समास के उदाहरण दे दिये गये ।]

(१६) संकीर्णम् यत्र वाक्यान्तरस्य पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविशन्ति । यथा—

सङ्कीर्ण उस दोष को कहते हैं जहाँ पर एक वाक्याश के पद दूसरे वाक्याश मे सम्मिलित हो गये हों । जैसे :—

किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुणं गृहाणेमम् ।
ननु मुञ्च हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तमोरूपम् ॥२३९॥

अर्थ—[किसी मानिनी से उसकी सखी कह रही है—] चरणताल पर पड़े हुए अत्यन्त गुणी अपने प्राणनाथ को तुम क्यों नहीं देखती हो ? इन्हें अपने गले से लगाओ और मन मे मोह उपजानेवाले क्रोध का परित्याग करो ।

अत्र पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि इमं कण्ठे गृहाण मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्चति । एकवाक्यतायां तु क्लिष्टमिति भेदः ।

यहाँ पर 'पादगत बहुगुण हृदयनाथं किमिति न पश्यसि ? इम कण्ठे गृहाण मनसस्तमोरूपं कोप मुञ्च' ऐसा अन्वय है । जहाँ पर अनेक वाक्य हों, वहाँ पर यह सङ्कीर्ण नामक दोष होता है । यदि एक

ही वाक्य में ऐसा होता तो क्लिष्टत्व दोष माना जाता यही दोनों में भेद है।

(१७) गर्भितं यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति। यथा—

गर्भित अर्थात् जहाँ एक वाक्य के भीतर कोई दूसरा वाक्य सन्निविष्ट हो गया हो—ऐसे दोष का उदाहरण :—

परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह सङ्गतिः ।
वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ॥२४०॥

अर्थ—परोपकार में लगे हुए दुष्टों की संगति कदापि न करना, मैं तुम से यह तत्त्व की बात कह रहा हूँ।

अत्र तृतीयपादो वाक्यान्तरमध्ये प्रविष्टः। यथा वा—

यहाँ पर तृतीय पाद का वाक्य एक दूसरे वाक्य में सन्निविष्ट हो गया है। गर्भित दोष का एक अन्य उदाहरण :—

लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्त्तिः ॥२४१॥

अर्थ—जिस तलवार (सौत) को शत्रुओं के कण्ठ में हठात् लगते और राग (रक्त या अनुराग) से रञ्जित शरीर होते मैंने देखा और जिसे पराये पुरुषों ने मातंगों (हाथियों वा चाण्डालों) के ऊपर भी जाकर गिरते देखा; यह राजा उसी तलवार (मेरी सौत) में आसक्त होकर किसी और स्त्री को कुछ नहीं गिनता। 'उसने मुझे अपने सेवकों को समर्पित कर दिया है—ऐसा आपको विदित हो', मानो श्री लक्ष्मी जी का ऐसा संदेशा लेकर उस राजा की कीर्ति (लक्ष्मी जी के पिता) समुद्र के पास गई है[1]।

---

[1] किसी वीर राजा की कीर्ति समुद्र तक पहुँच गई है, उस पर कवि महोदय उत्प्रेक्षा करते हैं कि राजा तलवार पर आसक्त होकर उसी का हो रहा है अतः

अत्र 'विदित तेऽस्तु' इत्येतत्कृतम्। प्रत्युत लक्ष्मीस्ततोऽपसरतीति विरुद्ध मतिकृत्।

यहाँ पर 'विदित तेऽस्तु' (तुम्हें विदित हो) यह वाक्य एक दूसरे वाक्य के अतर्गत हो गया है और 'लक्ष्मी जी वहाँ से हट रही हैं' ऐसी विरुद्ध मति भी उत्पन्न होती है। अतएव यहाँ (गर्भित दोष के अतिरिक्त) वाक्यगत विरुद्धमतिकृत दोष भी है।

['प्रसिद्धि हत' उस दोष को कहते हैं, जहाँ पर कवियों मे जो बात प्रसिद्ध (प्रचलित) हो उससे भिन्न कुछ और वर्णन किया जाय। कवियों का नियम तो ऐसा है कि—]

(१८) "मञ्जीरादिषु रणितप्राय पक्षिषु च कूजित प्रभृति।
स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम्॥"

इति प्रसिद्धिमतिक्रान्तम्। यथा

अर्थात्—प्रायः नूपुर आदि के शब्द को रणित, पक्षियों के चहचहाने को कूजित, सुरत काल में बोले गये स्त्रियों के शब्दों को स्तनित वा मणित और मेघ आदि के शब्दों को गर्जित कहा करते हैं। इनसे भिन्न स्वरो का भिन्न भिन्न स्थानों मे प्रयोग करना प्रसिद्धिहत दोष है। जैसे:—

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्तक-
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरुतानुकारी मुहुः।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः॥२४२॥

अर्थ—महाप्रलयकाल की वायु से चञ्चल किये गये पुष्कर और आवर्तक नामक मेघों के भयङ्कर गर्जन शब्द का अनुकरण करनेवाला,

---

लक्ष्मी को सौतियाडाह हुआ है और उन्होंने इसकी कीर्ति को अपने पिता (समुद्र) के पास उक्त शिकायत करने भेजा है। जिसमें सौत (तलवार) की बुराई, राजा की उदासीनता और अपनी दुर्दशा का सन्देशा है।

कानों के लिये भयानक, पृथ्वी की कन्दराओं से टकराने वाला, युद्ध-रूप समुद्र से उत्पन्न हुआ, अश्रुतपूर्व यह रव (कोलाहल) बारंबार आगे कहाँ से हो रहा है ?

अत्र रवो मण्डूकादिषु प्रसिद्धो न तूक्तविशेषे सिंहनादे ।

यहाँ पर जो 'रव' शब्द आया है वह मेढक आदि के शब्द के लिये प्रसिद्ध है न कि उक्त श्लोक में कथित सिंहनाद के लिये उपयोग में लाया जाता है ।

(१६) भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र । यथा

भग्न प्रक्रम उस दोष को कहते हैं जहाँ पर वर्ण्य विषय का क्रम टूट जाय । (यह दोष, प्रकृति, प्रत्यय, सर्वनाम, पर्याय, उपसर्ग वचन, कारक तथा क्रम आदि कतिपय कारणों से हो सकता है) भग्नप्रक्रम दोष का प्रकृति निबन्धन उदाहरण :—

नाथे निशायाः नियतेर्नियोगादस्तङ्गते हन्त निशापि याता ।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति ॥२४३॥

अर्थ—हा ! उस अदृष्ट शक्ति की आज्ञा से रात्रि के स्वामी चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर रात्रि (उसकी स्त्री) भी चली गई ! पतिव्रता स्त्रियों के लिये उनकी विधवा दशा के अनुकूल इस पति अनुगमन से बढ़कर अधिक कल्याणदायक कोई और बात नहीं है ।

अत्र 'गता' इति प्रक्रान्ते 'यता' इति प्रकृतेः । 'गता निशाऽपि' इति तु युक्तम् ।

यहाँ पर 'गम्' धातु से 'गता' ऐसा प्रयोग होना चाहिये था; परन्तु उसके स्थान पर 'या' धातु से 'याता' रूप बनाकर लिख दिया है, अतः प्रकृति निबन्धन भग्नप्रक्रम दोष हो गया । 'गता निशापि' ऐसा पाठ कर देने से भग्नप्रक्रम दोष निवृत्त हो सकता है ।

ननु 'नैकं पदं द्विःप्रयोज्यं प्रायेण' इत्यन्यत्र कथितपदं दुष्टमिति चेहैवोक्तम् तत्कथमेकस्य पदस्य द्विःप्रयोगः । उच्यते । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यव्य-

तिरिक्तो विषय एकपदप्रयोगनिषेधस्य तद्वति विषये प्रत्युत तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नो वा प्रयोगम्विना दोषः । तथाहि—

अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि किसी और स्थान पर कह आये हैं कि 'प्रायः एक ही पद का दो बार प्रयोग नहीं करना चाहिए' और यहाँ पर भी (काव्य प्रकाश के सप्तम उल्लास में वाक्य गत दोषोल्लेख के प्रकरण मे) कथित पद को दोष ही गिना गया है, अतः यहाँ पर एक ही पद का दो बार प्रयोग क्यों किया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर मे ग्रन्थकार का कथन है कि उद्देश्य जिसका ज्ञान प्रथम कराया गया है) और प्रतिनिर्देश्य (जिसका ज्ञान पश्चात् कराया जाता है) इन दोनों से भिन्न विषयों मे एक ही पद के पुनः प्रयोग का निषेध किया गया है; परन्तु जहाँ पर उद्देश्य और प्रतिनिर्देश्य का सम्बन्ध हो वहाँ पर उसी पद अथवा उसके स्थान पर यदि किसी सर्वनाम का प्रयोग न किया जायगा तो भग्नप्रक्रम नामक दोष अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा । उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक लीजिये ।

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥२४॥

अर्थ—सूर्य लाल ही रङ्ग का उदय भी होता है और लाल ही रङ्ग का अस्त भी होता है । सज्जनों का नियम है कि सम्पत्ति और विपत्ति दोनों अवस्थाओं में वे एक से रहते हैं ।

अत्र रक्त एवास्तमेतीति यदि क्रियते तदा पदान्तरप्रतिपादितः स एवार्थोऽर्थान्तरतयेव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयति । यथा वा

यहाँ पर यदि ताम्र का पर्यायवाची रक्त शब्द लेकर 'रक्तमेवास्तमेति च' ऐसा कर दिया जाय तो दूसरे पद में प्रकट किया गया वही अर्थ भिन्न की भाँति बोध कराता हुआ प्रतीति विषयक बाधा उत्पन्न करेगा । प्रत्यय निबन्धन भग्नप्रक्रम दोष का उदाहरण :—

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसङ्ख्यामतिवर्त्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥२४९॥

अर्थ—यशःप्राप्ति अथवा सुखोपभोग की इच्छा से, अथवा साधारण जनों से न पाने योग्य किसी अच्छे पद की वाञ्छा के लिये अनुत्कण्ठित भी होकर जो लोग प्रयत्नशील रहते हैं उनके अङ्क मे उत्कण्ठा से भरी हुई सी लक्ष्मी स्वय जाकर पहुँचती है।

अत्र प्रत्ययस्य। सुखमीहितुं वा इति युक्तः पाठः।

यहाँ पर और तो सर्वत्र 'तुम्' प्रत्यय है परन्तु 'सुखलिप्सया' शब्द में वही 'तुम्' प्रत्यय न रखकर 'सन्' प्रत्यय द्वारा प्रत्यय निबन्धन भग्नप्रक्रम दोष उपस्थित कर दिया गया है। इसलिए 'सुखमीहितुं वा' ऐसा पाठ कर देना उचित है।

[सर्वनाम निबन्धन भग्नप्रक्रम दोष का उदाहरण—]

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥२४६॥

अर्थ—वे (मरीचि आदि) सातों ऋषिगण हिमालय से विदा माँग फिर से महादेव जी का दर्शन कर और उनसे कार्यसिद्धि का सदेशा भुगता उनकी आज्ञा प्राप्त कर आकाश को चले गये।

अत्र सर्वनाम्नः। 'अनेन विसृष्टा' इति वाच्यम्।

यहाँ पर 'तद्विसृष्टाः' के स्थान पर 'अनेन विसृष्टाः' ऐसा पाठ करना चाहिये था। क्योंकि प्रकरण मे प्राप्त 'अस्मै' यह शब्द 'इदम्' इस सर्वनाम का रूप है न कि 'तद्' शब्द का।

[पर्याय निबन्धन भग्नप्रक्रम दोष का उदाहरणः—]

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥२४७॥

अर्थ—यद्यपि पर्वतराज हिमालय पुत्रवान था तथापि उसकी दृष्टि पार्वतीरूप निज सन्तान को देख वैसी ही अतृप्त रही जैसी अगणित फूलवाले वसन्त ऋतु में आम के फूल से विशेष प्रेम रखनेवाली भ्रमरों की पंक्ति उससे तृप्त नहीं होती।

अत्र पर्यायस्य। 'महीभृतोऽपत्यवतोऽपि' इति युक्तम्। अत्र 'सत्यपि पुत्रे कन्यारूपेऽप्यपत्ये स्नेहोऽभूत्' इति केचित्समर्थयन्ते।

यहाँ पर पर्याय विषयक क्रमभङ्ग है। 'महीभृतोऽपत्यवतोऽपि' ऐसा पाठ उचित था। क्योंकि अपत्यशब्द मे पार्वती जी की भी गणना हो सकती है, जो कि पुत्र और कन्या दोनों का वाचक है। न कि पुत्र शब्द में, जो कि पार्वती जी के लिये ठीक नहीं बैठता चाहे पुत्र मैनाक के लिये भले ही हो। यहाँ पर कुछ लोग ऐसा भी कहकर शङ्का का समाधान कर लेते हैं कि पुत्र के होते हुए भी कन्या रूप सन्तान पर हिमालय की विशेष रुचि रही।

[एक ही श्लोक मे उपसर्ग निबन्धन तथा पर्याय निबन्धन के भग्नप्रक्रम दोष का उदाहरण :—]

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः॥२४८॥

अर्थ—पराक्रमहीन पुरुष को आपत्तियाँ घेर लेती हैं। विपद्ग्रस्त मनुष्य के कार्यों का परिणाम शुभावह नही होता। जिसके कार्यो का परिणाम शुभावह नहीं होता उसकी लघुता होती है। और जो लघुता विशिष्ट (गौरवहीन) होता है वह राजलक्ष्मी का पात्र नहीं बन सकता।

अत्रोपसर्गस्य पर्यायस्य च। 'तदभिभवः कुरुते निरायतिं। लघुतां भजते निरायतिर्लघुतावान्न पदं नृपश्रिय॥'' इति युक्तम्।

यहाँ पर 'विपद्' और 'आपद्' इन शब्दों मे उपसर्गों का क्रमभङ्ग तथा लघुता और 'अगरीयान्' मे पर्यायवाची शब्दो का क्रमभङ्ग हो गया है—यही दोष है। अतएव 'तदभिभवः कुरुते निरायतिम्। लघुता भजते निरायतिः लघुतावान्न पदं नृपश्रियः—ऐसा पाठ करना उचित है।

[वचन निबन्धन भग्नप्रकम दोष का उदाहरण :—]

काचित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधौ मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्मी-
रश्रीका काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः।

भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत्कम्पमानाः
प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरो भावि नार्यः शशंसुः ॥२४६॥

अर्थ—जब राजाओं ने विजय के लिए प्रस्थान किया, तब उनकी स्त्रियों ने भावी अमङ्गल की सूचना इस प्रकार से दी कि कोई स्त्री तो रजस्वला हो मुखचन्द्र की शोभा की मलिनता से उस आकाश का अनुसरण करने लगी जिसमे धूल उड़ने से चन्द्रमा की शोभा मन्द पड़ गई थी। कुछ और स्त्रियाँ शोभाविहीन होकर उन दिशाओं की भाँति मन में सन्तप्त हुई जिनके भीतर आग लगने से उनके निवासी जीव घबराकर भाग चले। कोई-कोई स्त्रियाँ पग-पग पर वायु सदृश चक्कर खाने लगीं। और कोई कोई भूडोल से काँपती हुई पृथ्वी की भाँति काँपने लगीं।

अत्र वचनस्य। 'काश्चित्कीर्णा रजोभिर्दिवनुविमदधुर्मन्दवक्त्रेन्दु-शोभा निःश्रीकाः' इति 'कम्पमाना' इत्यत्र 'कम्पमापुः' इति च पठनीयम्

यहाँ पर वचन का प्रक्रमभङ्ग है। संज्ञा और क्रिया दोनों में पाठ शुद्ध करके इस श्लोक को इस प्रकार पढना उचित है—

"काश्चित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्दवक्रेन्दु शोभा, निश्रीकाः काश्चिदन्दर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्वाः। भ्रेमुर्वात्या इवान्या प्रतिपदमपरा भूमिवत्कम्पमापुः, प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरो भावि नार्यः शशंसुः।"

इस प्रकार प्रथम चरण मे 'काश्चित्' और 'अनुविदधुः ऐसा बहुवचन पाठ करने से वचनों का क्रम ठीक हो जाता है और द्वितीय चरण मे 'निश्रीकाः' पाठ इसलिये किया गया जिससे प्रथम चरण के अन्त में 'लक्ष्मीः' के स्थान मे 'शोभाः' ऐसा पाठ करने से फिर सन्धि भी उचित रीति से हो। तृतीय चरण मे 'कम्पमाना' के स्थान में 'कम्पमापुः' ऐसा पाठ किया गया है, जिससे आख्यात (क्रिया पद) का भी प्रक्रमभङ्ग न होने पाये।

[कारक सम्बन्धी भग्नप्रक्रम दोष का उदाहरण :—]

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यताम् ।
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदञ्च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥२५०॥

अर्थ—[कण्वाश्रम में शकुन्तला के दर्शन से मृगया से विरक्त होकर राजा दुष्यन्त अपने सेनापति से कह रहे हैं :—] जङ्गली भैंसों को कूप के निकट वाले ताल के जल को सींगों से बार-बार पीट कर उसमें मनमाना लोटने दो। वृक्ष की छाया में गोल बाँधकर बैठे हुए मृगों के समूह भली-भाँति जुगाली (पागुर) करें। बडे-बडे बनैले सुअर भी तलैयों मे बेखटके मोथा खोद कर फैलावें और हम लोगों का यह ढीली डोर वाला धनुष भी विश्राम ले।

अत्र कारकस्य। 'विश्रब्धा रचयन्तु सूकरवरा मुस्ताक्षतिम्' इत्यदुष्टम्।

यहाँ पर तृतीय चरण मे तृतीया विभक्ति कर देने से कारकों का क्रम टूट गया—यही दोष है, क्योंकि शेष चरणों में प्रथमा विभक्ति रखी गई है। इस दोष को मिटाने के लिये तृतीय चरण का पाठ इस प्रकार होना चाहिये—'विश्रब्धा रचयन्तु सूकरवरा मुस्ताक्षतिं पल्वले।'

[कार्यक्रम के उलटफेर के कारण भग्नप्रक्रम दोष का उदाहरण:—]

अकलिततपस्तेजोवीर्यप्रथिम्नि यशोनिधा-
ववितथमदाध्माते रोषान्मुनावभिगच्छति।
अभिनवधनुर्विद्यादर्पक्षमाय च कर्मणे
स्फुरति रभसात्पाणिः पादोपसंग्रहणाय च ॥२५१॥

अर्थ—[मिथिलापुरी में परशुराम जी को उपस्थित देख श्रीरामचन्द्र जी अपने मन मे कहते हैं—] अपरिमित तपस्या का तेज रखनेवाले और शारीरिक पराक्रम के कारण गौरवविशिष्ट, यशोनिधि, सच्चे अहङ्कार से उत्तेजित, क्रोध से भरे, मुनिश्रेष्ठ परशुराम जी यहाँ पर आ पहुँचे हैं इसलिये मेरा हाथ वेगपूर्वक अलौकिक धनुर्विद्या की चतुराई

दिखाने योग्य कार्य करने के लिये तथा उनके चरणस्पर्श के लिये भी उद्यत हो रहा है।

अत्र क्रमस्य। पादोपसङ्ग्रहणायेति पूर्वं वाच्यम्। एवमन्यदप्यनुसर्त्तव्यम्।

यहाँ पर कार्यक्रम में उलटफेर है, क्योंकि ब्राह्मण को देखकर पहले चरण-स्पर्श करना उचित है, अतएव 'चरणस्पर्श के लिये' इतना वाक्यांश पहले ही कहना चाहिये था। ऐसे ही भग्नप्रक्रम के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

(२०) अविद्यमानः क्रमो यत्र। यथा

अक्रम उस दोष को कहते हैं, जहाँ पर क्रम ही न विद्यमान हो, अर्थात् जहाँ जिस शब्द के अनन्तर जिस शब्द का रखना उचित हो वहाँ वह न रखा जाय।

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥२५२॥

(इस श्लोक का अर्थ दिया जा चुका है देखिए १८६ श्लोक।)

अत्र त्वंशब्दानन्तरं चकारो युक्तः। यथा वा।

यहाँ पर 'त्वं' शब्द के अनन्तर ही 'च' शब्द को रखना उचित था। अर्थात् 'त्वं चास्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी' इस प्रकार चतुर्थ चरण का पाठ कर देने से उचित क्रम बैठ जाता है। क्रमभङ्ग का एक और उदाहरण :—

शक्तिर्निस्त्रिंशजेयं तव भुजयुगले नाथ दोषाकरश्री-।
र्वक्त्रे पार्श्वे तथैषा प्रतिवसति महाकुट्टनी खड्गयष्टिः।
आज्ञेयं सर्वगा ते विलसति च पुनः किं मया वृद्धया ते
प्रोच्येवेत्थं प्रकोपाच्छशिकरसितया यस्य कीर्त्या प्रयातम् ॥२५३॥

अर्थ—जिस राजा की चन्द्र किरण के समान उज्ज्वल कीर्ति यह कहकर चलती बनी कि हे स्वामिन्! आपकी दोनों भुजाओं में खड्ग द्वारा विजय करनेवाली शक्ति प्रस्तुत है, आपके मुख में दोषाकर

(चन्द्रमा) की शोभा विद्यमान् है। बड़ा भेद उत्पन्न करनेवाली (कुट्टनी) तलवार भी सर्वदा आपके पास ही रहती है। आपकी आज्ञा भी सर्वगामिनी होकर आपही के सामने विलास करती है, अतः मुझ बूढ़ी से आपका कौन सा प्रयोजन सिद्ध होगा ?

अत्र 'इत्थं प्रोच्येव' इति न्याय्यम्। तथा—'लग्नं रागावृताङ्ग्या०॥' इत्यादौ 'इति श्रीनियोगात्' इति वाच्यम्।

यहाँ पर 'प्रोच्येवेत्थं' के स्थान पर 'इत्थं प्रोच्येव' ऐसा कहना उचित था। ऐसेही 'लग्नं रागावृताङ्ग्या' इत्यादि प्रतीकवाले(२४१वें) श्लोक में भी 'इति श्री नियोगात्' ऐसे क्रम से पाठ रखना ठीक था।

(२१) अमतः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र। यथा—

अमतपरार्थ उस दोष को कहते हैं जहाँ पर प्रकरण-प्राप्त रस के विरुद्ध किसी और रस का व्यञ्जक कोई अन्य अर्थ (शब्द श्लेष द्वारा) निकलता हो। जैसे:—

रामन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥२९४॥

अर्थ—वह ताड़का नाम की राक्षसी (अभिसारिका) रामरूप कामदेव के असह्य बाण द्वारा हृदय में घायल होकर गन्धविशिष्ट रुधिर रूप लाल चन्दन से लिप्त शरीर होकर जीवितेश (यमराज या प्राणनाथ) की पुरी को चली गई।

अत्र प्रकृते रसे विरुद्धस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽपरोऽर्थः।

यहाँ पर प्रकृत (प्रकरण प्राप्त) बीभत्सरस के प्रकरण में उसके विरुद्ध शृङ्गाररस का व्यञ्जक जो अर्थान्तर निकलता है वह बीभत्सरस का अपकर्षक होने के कारण दोषपूर्ण है।

[उक्त उदाहरण अमतपरार्थं नामक दोष का हुआ जो वाक्यगत ही होता है। यहाँ पर केवल वाक्यगत दोषों के निरूपण की समाप्ति हुई।]

अर्थदोषानाह

आगे अर्थगत दोषों का निरूपण करते हैं—

(सू० ७६) अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः ॥५५॥
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च ।
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषपरिवृत्ताः ॥५६॥
साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः ।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनःस्वीकृतोऽश्लीलः ॥५७॥
दुष्ट इति सम्बध्यते । क्रमेणोदाहरणम्—

अर्थ—(१) अपुष्ट, (२) कष्ट, (३) व्याहत, (४) पुनरुक्त, (५) दुष्क्रम, (६) ग्राम्य, (७) सन्दिग्ध, (८) निर्हेतु, (९) प्रसिद्धिविरुद्ध, (१०) विद्याविरुद्ध, (११) अनवीकृत, (१२) सनियमपरिवृत्त, (१३) अनियमपरिवृत्त, (१४) विशेष परिवृत्त, (१५) अविशेष परिवृत्त, (१६) साकाङ्क्ष, (१७) अपदयुक्त, (१८) सहचरभिन्न, (१९) प्रकाशितविरुद्ध, (२०) विध्ययुक्त, (२१) अनुवादयुक्त, (२२) त्यक्त पुनः स्वीकृत और (२३) अश्लील—ये तेईस प्रकार के अर्थगत दोष होते हैं। क्रमशः प्रत्येक के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

[अपुष्ट दोष का उदाहरण :—]

(१) अतिविततगगनसरणिप्रसरणपरिमुक्तविश्रमानन्दः ।
मरुदुल्लासितसौरभकमलाकरहासकृद्रविर्जयति ॥२५५॥

अर्थ—अत्यन्त विस्तृत आकाशमार्ग में भ्रमण करते हुए जिसने विश्रामरूप आनन्द को छोड़ दिया है। तथा जो उन कमल समूहों को विकसित करते हैं जिनकी सुगन्धि वायु द्वारा फैलाई जाती है—ऐसे सूर्यदेव सर्वोत्कृष्ट हैं।

अत्रातिविततत्वादयोऽनुपादानेऽपि प्रतिपाद्यमानमर्थं न बाधन्त इत्यपुष्टा न त्वसङ्गताः पुनरुक्ता वा ।

यहाँ पर 'अति विततत्व, आदि (गगन के) गुण न कहे जाते तो भी यथार्थ अर्थ की प्रतीति में कोई बाधा नहीं थी, अतएव यह 'अपुष्ट' नामक अर्थदोष कहा जाता है, असङ्गति वा पुनरुक्ति नहीं।

[कष्टत्व (दुरूहता) दोष का उदाहरणः—]

(२) सदा मध्ये यासामियममृतनिस्यन्दसुरसा
सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम्।
प्रसादं ता एता घनपरिचिताः केन महतां
महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः ॥२५६॥

अर्थ—कवियों के काव्यरूप जिन अभिप्राय के वर्णनों के बीच में अमृतधारा बहानेवाली रसीली और सयानी सरस्वती वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली इन तीन रीतियों से अपने तीन मार्ग बनाकर जो चमत्कार उत्पन्न करती है वे बड़े बड़े कवियों के अनेक बार के भली भाँति अभ्यस्त काव्यरूप अभिप्रायानुभव में घुसकर अभीष्ट बनी महाकाव्यरूप अपरिमित आकाश में छोटे काव्यों की भाँति सुबोध (सहज ही में समझने योग्य) कैसे हों? अथवा—जिन सूर्यों की चमक के बीच जल बहानेवाली मीठी त्रिपथगामिनी गङ्गा जी सुगन्धि को धारण किये बहती हैं वे प्रकाशयुक्त मनोहर बारहों सूर्यों की प्रभाएँ महाकाव्य सदृश विस्तृत आकाश में वर्षाकालीन मेघ का सम्पर्क पाकर (शरत्काल के) आकाश के समान स्वच्छ कैसे हों?

अत्र यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारविचित्रमध्यमात्मकत्रिमार्गा भारती चमत्कारं वहति ताः गम्भीरकाव्यपरिचिताः कथमितरकाव्यवत्प्रसन्नाभवन्तु। यासामादित्यप्रभाणां मध्ये त्रिपथगा वहति ताः मेघपरिचिताः कथप्रसन्ना भवन्तीति संक्षेपार्थः।

इस श्लोक का संक्षिप्त अर्थ यह है कि जिन कवि-रुचियों के बीच सुकुमार, विचित्र और मध्यम नामक तीन मार्गवाली सरस्वती चमत्कार धारण करती है वे गम्भीर काव्याभ्यस्त विषय साधारण काव्यों की भाँति प्रसन्न वा सुबोध कैसे हो सकते हैं? अथवा जिन सूर्य की किरणों के बीच त्रिपथगामिनी गङ्गा जो बहती हैं वे मेघ-संयुक्त होने से कैसे प्रसन्न वा निर्मल हों? ये (दोनों) अर्थ बहुत क्लिष्ट (कठिनाई से समझ में आने योग्य) हैं।

[व्याहत (किसी की निन्दा या स्तुति करके फिर उसी का समर्थन या खण्डन करना) नामक दोष का उदाहरण :—]

(३) जयति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृति मधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥२५७॥

अर्थ—संसार में नूतन चन्द्रकला आदि जो पदार्थ सर्वोत्कृष्ट मनोभावन और प्रकृति से सुन्दर हैं, वे चाहे जितने हों सब जहाँ के तहाँ बने रहें। (उनमे मेरा कुछ प्रयोजन नहीं) परन्तु मेरे नेत्रों के लिये जो मालती रूप कोई चाँदनी दिखाई पड़ी है वही जन्म-भर का एक परमानन्ददायी उत्सव है।

अत्रेन्दुकलादयो यं प्रति पस्पशप्रायाः स एव चन्द्रिकात्वमुत्कर्षार्थमारोपयतीति व्याहतत्वम् ।

यहाँ पर जिसके लिये चन्द्रकलादि पहले तुच्छ प्रतीत हुईं, वही पीछे से चाँदनी की बड़ाई करता है—यह व्याहतत्व का दृष्टान्त है।

[पुनरुक्त दोष का उदाहरण :—]

(४) कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्द्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥२५८॥

(इस श्लोक का अर्थ ऊपर चतुर्थ उल्लास में लिखा जा चुका है। देखिये श्लोक ८६)

अत्रार्जुनार्जुनेति भवद्भिरिति चोक्ते सभीमकिरीटिनामिति किरीटिपदार्थः पुनरुक्तः । यथा वा

यहाँ पर पहले 'अर्जुन ! अर्जुन !' ऐसा सम्बोधन करके तथा 'भवद्भिः' (आप लोगों ने) ऐसा कहकर फिर से 'सभीमकिरीटिना' पद-

कर 'किरीटी' (अर्जुन) इस पद को व्यर्थ ही दुहराया गया है। पुनरुक्ति दोष का दूसरा उदाहरण :—

अस्त्रज्वालावलीढप्रतिबलजलधेरन्तरौर्वायमाणे
सेनानाथे स्थितेऽस्मिन्मम पितरि गुरौ सर्वधन्वीश्वराणाम्।
कर्णाऽलं सम्भ्रमेण व्रज कृप समरं मुञ्च हार्दिक्य शङ्काम्
ताते चापद्वितीये वहति रणधुरं को भयस्यावकाशः ॥२५६॥

अर्थ—अस्त्रों की ज्वाला से सयुक्त शत्रु सेनारूप समुद्र के भीतर सब धनुर्धरों मे प्रधान गुरु मेरे पिता द्रोणाचार्य जी वड़वानल के समान प्रकाशमान सेनापति बने हैं, अतः हे कर्ण! घबड़ाओ मत, मामा कृपाचार्य! युद्धस्थल में चलिये। हे कृतवर्मन्! हृदय मे किसी प्रकार का अन्देशा मत करो। हाथ में धनुष लिये पिता जी जब सेना के नायक वर्तमान ही हैं तो फिर भय का कौन सा अवसर है?

अत्र चतुर्थपादवाक्यार्थः पुनरुक्तः।

यहाँ चतुर्थ पाद में पूर्व का कथित वाक्यार्थ फिर से दुहराकर कहा गया है।

[दुष्क्रम (अनुचित क्रम) का उदाहरण :—]

(५) भूपालरत्न निर्दैन्यप्रदानप्रथितोत्सव।
विश्राणय तुरङ्गं मे मातङ्गं वा मदालसम् ॥२६०॥

अर्थ—उदारतापूर्वक दान करने में प्रसन्न रहने के लिये प्रसिद्ध हे राज शिरोमणे! मुझे एक घोड़ा दान दीजिये अथवा एक मतवाला हाथी ही सही।

अत्र मातङ्गस्य प्राङ्निर्देशो युक्तः।

यहाँ पर पहले हाथी ही का नाम लेना ठीक था (न कि घोड़े का)।

[ग्राम्य (भद्देपन से युक्त) दोप का उदाहरण :—]

(६) स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते।
तदयि साम्प्रतमाहर कूर्परं त्वरितमूरुमुदञ्चय कुञ्चिनम् ॥२६१॥

अर्थ—[किसी नवोढ़ा युवती का रति का इच्छुक पति उससे कहता है—] अरी! जब तक यह (समीपस्थ) मनुष्य सोता है, तब तक मैं भी तेरे समीप सुरतार्थ शयन किये लेता हूँ, इतने में तेरा बिगड़ता ही क्या है? इसलिये अभी अपनी कोहनी को हटा लो और सिमटी हुई जाँघों को भी फैला दो।

एषोऽविदग्धः।

यहाँ कहनेवाला कोई अविदग्ध (गोबर गणेश) पुरुष है।

[संदिग्ध अर्थवाले सदोष वाक्य का उदाहरण :—]

(७) मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
सेव्याः नितम्बा किमु भूधराणामुतस्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥२३२॥

(इस श्लोक का अर्थ पञ्चम उल्लास में लिखा जा चुका है। देखिये श्लोक १३३।)

अत्र प्रकरणाद्यभावे सन्देहः शान्तश्रृङ्गार्यन्यतराभिधाने तु निश्चयः।

प्रकरण का निर्णय न होने से यहाँ पर इस श्लोक का भाव संशयग्रस्त है। यदि वक्ता शान्तरस रसिक वैरागी हो तो एक पक्ष में निश्चित अर्थ और यदि वह श्रृङ्गारप्रिय-विलासी हो तो पक्षान्तर में निश्चित अर्थ स्वीकार किया जा सकता है।

[निर्हेतु दोष का उदाहरण :—]

(८) गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः।
परित्यक्त तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयात्
विमोक्ष्ये शस्त्र त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥२६३॥

अर्थ—[द्रोणाचार्य की मृत्यु का समाचार सुन शोकाकुल अश्वत्थामा अपने शस्त्र के प्रति कह रहे हैं—] हे शस्त्र! ब्राह्मण धर्म के योग्य न होने पर भी जिन पिता ने तुम्हें पराभव के भय से ग्रहण किया था, जिनके प्रभाव से कोई भी विषय तुम्हारे गोचर होने से शेष न रहा उन पिता जी ने पुत्रशोकवश तुम्हारा त्याग किया; भय से नहीं, अतः

मैं भी तुम्हारा परित्याग करता हूँ। जाओ तुम्हारा कल्याण हो।

अत्र शस्त्रविमोचने हेतुर्नोपात्तः।

यहाँ पर अश्वत्थामा द्वारा शस्त्रत्याग का कोई भी कारण नही बतलाया गया है।

[प्रसिद्धि विरुद्ध दोष का उदाहरण :—]

(६) इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने
यदेतस्मिन्हेम्नः कटकमिति धत्से खलु धियम्।
इदं तद्दुःसाधाक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा
तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम् ॥२६४॥

अर्थ— हे कमलों को भय देनेवाली चन्द्रमुखि सुन्दरि! तुम्हें ठगने के लिये यह किसने कह दिया कि तुम इसे सोने का कगन समझती हो? यह तो कामदेव ने तुम्हारे हस्तकमल के मूलभाग में जितेन्द्रिय युवा पुरुषों के वशीकरणार्थ प्रीतिपूर्वक एक चक्र स्थापित किया है।

अत्र कामस्य चक्रं लोकेप्रसिद्धम्। यथा वा

यहाँ पर कामदेव के जिस चक्र का उल्लेख किया गया है वह लोक मे प्रसिद्ध नहीं है। प्रसिद्धि विरुद्ध का एक अन्य उदाहरणः—

(६ अ) उप परिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः
सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवद्भिरिहेक्ष्यताम्।
इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया
चरणनलिन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः ॥२६५

अर्थ—हे पथिको! गोदावरी के निकटवाले मार्ग पर चलना छोड़ दो और अपने चलने के लिए इधर कोई अन्य मार्ग खोज निकालो; क्योंकि यहाँ पर किसी मन्द-भाग्यवाली स्त्री ने अपने चरण प्रहार से नये अंकुर फूटनेवाले एक अशोक वृक्ष का रोपण किया है।

अत्र पादाघातेनाशोकस्य पुष्पोद्गमः कविषु प्रसिद्धो न पुनरङ्कुरोद्गमः।

यहाँपर यह बात प्रसिद्धि के विरुद्ध है। कवियों के बीच युवती के

चरण प्रहार से अशोक का फूलना प्रसिद्ध है न कि अंकुर फूटना। [यदि कोई लोकविरुद्ध बात भी कवि सम्प्रदाय मे प्रसिद्धि को प्राप्त हो गई हो तो उसका कथन दोषावह नहीं है। जैसे –]

सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी-
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहसगान्मुक्ताशङ्का क्व नासि शुभप्रदः ॥२६६॥

अर्थ—[कोई कवि राजा से कहता है—] हे राजन्! जब किसी समय रात्रि मे चाँदनी छिटकी हुई थी तब श्वेत वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत कोई सुन्दर नयनवाली अभिसारिका नायिका अपनी इच्छानुसार मार्ग मे चली जा रही थी, इतने में ही चन्द्रास्त हो गया। तदनन्तर किसी ने आपकी कीर्ति गाई अतः आपकी कीतिरूप चाँदनी के उजेले में वह अपने पति के घर बेखटके चली गई। हे महाराज! आप कहाँ कहाँ पर लोगों की भलाई नहीं करते?

अत्रामूर्तापि कीर्तिः ज्योत्स्नावत्प्रकाशरूपा कथितेति लोकविरुद्धमपि कविप्रसिद्धेर्न दुष्टम्।

यहाँ पर यद्यपि मूर्तिरहित कीर्ति का वर्णन चाँदनी के प्रकाश की भाँति किया गया है, जो कि लोकविरुद्ध है, तथापि कवियों के बीच उसकी प्रसिद्धि रहने के कारण वह दोषावह नहीं है।

[धर्मशास्त्र के विरुद्ध दोष का उदाहरण:—]

(१०) सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः।
नाना विधानि शास्त्राणि व्याचष्टे चशृणोति च ॥२६७॥

अर्थ—यह पण्डित सदा अर्धरात्रि मे स्नान करके दिन भर शास्त्रों का अर्थ प्रतिपादन करता और उन्हें सुनता भी है।

अत्र ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ स्नानं धर्मशास्त्रेण विरुद्धम्।

चन्द्रग्रहण आदि अवसरों को छोड़ अन्यत्र रात्रि मे स्नान करना धर्मशास्त्र से विरुद्ध है।

[अर्थशास्त्र के विरुद्ध दोष का उदाहरणः—]

(१० अ) अनन्यसदृशं यस्य बल बाह्वो विराजते [1]

षाड्गुण्यानुसृतिस्तस्य नित्य सा निष्प्रयोजना ॥२६८॥

अर्थ—जिस मनुष्य की बाहुओं में असाधारण बल दिखाई पड़ता है उसके षड्गुण (सन्धि, विग्रह, यान, आसन द्वैध और आश्रय) का अनुसरण सचमुच निष्प्रयोजन है।

एतद् अर्थशास्त्रेण।

इस श्लोक में कथित सिद्धान्त (अर्थात् बाहुबल विशिष्ट पुरुष को षड्गुण की अनुसृति निरर्थक है) अर्थशास्त्र के प्रतिकूल पडता है।

[काम शास्त्र के विरुद्ध दोप का उदाहरणः—]

(१०आ) विधाय दूरे केयूरमनङ्गाङ्गणमङ्गना।

बभार कान्तेन कृतां करजोल्लेखमालिकाम् ॥२६९॥

अर्थ—कामदेव भवन के आँगन के समान विलास स्थान रूप कोई सुन्दरी स्त्री अपने बिजायठ को अन्यत्र रखकर केवल पति द्वारा दिये गये नखक्षतों की पक्ति धारण किये रही।

अत्र केयूरपदे नखक्षतं न विहितमिति एतत्कामशास्त्रेण।

[कामशास्त्र मे युवतियों के केवल निम्नलिखित अवयवों में नखक्षत करने का विधान है— कक्षा (काँख), कर (हाथ), ऊरू (जङ्घा), जघन (कटि का पुरोवर्ती भाग जो नाभि के नीचे रहता है), दोनों स्तन, पीठ, पार्श्व, हृदय और ग्रीवा।] जहाँ पर बिजायठ पहिना जाता है युवती के उस स्थान में नखक्षत का विधान ही नही है। अतएव प्रस्तुत श्लोक (वात्स्यायन मुनि रचित) कामशास्त्र के विरुद्ध है।

[योगशास्त्र के विरुद्ध दोष का उदाहरण :—]

(१०इ) अष्टांगयोगपरिशीलनकीलनेन

दुःसाधसिद्धिसविध विदधद्विदूरे।

---

[1] समीक्ष्यते' भी पाठ है।

आसादयन्नभिमतामधुना विवेक-
ख्यातिं समाधिधनमौलिमणिर्विमुक्तः ॥२७०॥

अर्थ—चित्तवृत्ति के वशीकरण में निपुण, समाधिरूप धन रखनेवाले योगियों के शिरोमणि वे योगिराज यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठों अंगों के बारंबार के अभ्यास से दृढ़ हो दुर्लभ सिद्धि के निकटस्थ सम्प्रज्ञात समाधि को दूर ही से परित्याग कर अब निज इष्टसिद्धि रूप विवेक ख्याति (प्रकृति पुरुष के भेद ज्ञान) को प्राप्त करके मुक्त हो गये।

अत्र विवेकख्यातिस्ततः सम्प्रज्ञातसमाधिः पश्चादसंप्रज्ञातस्ततो मुक्तिर्न तु विवेकख्यातौ एतच्च योगशास्त्रेण। एवं विद्यान्तरैरपि विरुद्धमुदाहार्यम्।

यह प्रक्रिया योगशास्त्र के विरुद्ध है, क्योंकि नियम तो यह है कि पहले विवेक ख्याति, तब सम्प्रज्ञातसमाधि, तत्पश्चात् असम्प्रज्ञातसमाधि और तदनन्तर मुक्ति प्राप्त होती है, न कि विवेकख्याति ही से (विना सम्प्रज्ञातसमाधि आदि के) मुक्ति मिल जाती है। इसी प्रकार अन्यान्य विद्याओं के विरुद्ध उदाहरण भी दिये जा सकते हैं।

[अनवीकृत दोष का उदाहरण :—]

(११) प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्।
सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥२७१॥

अर्थ—सब प्रकार के इष्ट प्रयोजनों को पूर्ण करनेवाली सम्पत्ति ही प्राप्त कर ली तो क्या? शत्रुओं के शिर पर चरण ही रख दिये तो क्या? मित्रादिकों को धनदान से तृप्त ही कर दिया तो क्या? शरीरधारियों का रूप पाकर एक कल्प पर्यन्त जीवित ही रहे तो क्या? (कोई बड़ा पुरुषार्थ नहीं किया)।

अत्र ततः किमिति न नवीकृतम्। तत्तु यथा—

यहाँ पर 'तो क्या' के पश्चात् कोई भी नई बात नहीं कही गई है। जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होता है।

यदि दहत्यनिलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥२७२॥

अर्थ—यदि आग जलाती है तो आश्चर्य ही क्या ? पर्वतों में भी यदि भारीपन है तो क्या ? महासमुद्र का जल भी सदा खारी ही हुआ तो क्या ? सज्जनों का तो स्वभाव ही है कि वे कभी खिन्न नहीं होते।

११[इस श्लोक के अन्तिम चरण मे जिस प्रकार नई बात कही गई है वैसे न कहना ही अनवीकृत दोष है।]

[सनियम परिवृत्त नामक दोष का उदाहरण :—]

(१२) यत्रानुल्लिखितार्थमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा।
याताः प्राणभृतां मनोरथगतीरुल्लंघ्य यत्सम्पद-
स्तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥२७३॥

अर्थ—जिस चिन्तामणि नामक रत्न के सामने ब्रह्मा की समस्त सृष्टि ही निष्प्रजन-सी जान पड़ती है, जिसके सदृश उत्तम होनेवाले किसी अन्य पदार्थ की कल्पना भी उसका बड़ा अनादर है; जिसकी सम्पति जीवधारियों के मनोरथ की गति से बहुत अधिक ऊँची है; जिसकी चमक मात्र से पत्थर भी मणि बन जाते हैं, उस (चिन्तामणि नामक रत्न) का पत्थर का पत्थर ही बना रहना सर्वथा उचित है।

अत्र 'छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचिता' इति सनियमत्वं वाच्यम्।

यहाँ पर 'चमक मात्र ही से पत्थर को मणिवत् बना देनेवाला' ऐसा नियमपूर्वक कथन उचित था, तभी चिन्तामणि का उत्कर्ष प्रकट होता अन्यथा नियमपूर्वक कथन न करने से अन्यान्य मणियों के सामने चिन्तामणि का अनादर ही व्यक्त होगा। अतः 'छायामात्रमणीकृताश्मसु

मणेस्तस्याश्मतैवोचिता' इस प्रकार चतुर्थ चरण का पाठ करके नियम बाँध देने से दोष का निवारण हो जाता है।

[अनियम परिवृत्त (जहाँ पर नियमपूर्वक कहना न चाहिये वहाँ पर नियमपूर्वक कहना) दोष का उदाहरण :—]

(१३) वक्त्राम्भोजं सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन् कथमवनिपते तेऽम्बुपानाभिलाषः॥२७३॥

अर्थ—हे राजन्! आपके मुखकमल में सदा सरस्वती निवास करती हैं। आपका अधर शोण ही है! दक्षिण समुद्र की भाँति मुद्रा-युक्त आपका दाहिना हाथ श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रमों को स्मरण रखने में निपुण है। नदियों के समान रूपवाली ये सेनाएँ भी क्षणभर आपका सान्निध्य परित्याग नहीं करतीं और आपका हृदय भी मान-सरोवर के तुल्य निर्मल है तो फिर आपको यह जलपान करने की इच्छा कैसे उदय हुई?

अत्र शोण एव इति नियमो न वाच्यः॥

यहाँ पर 'शोण एव' (शोण ही है) ऐसा नियमपूर्वक कहना उचित न था।

विशेष परिवृत्ति (जहाँ किसी विशेष वस्तु का उल्लेख न किया जाय जिसका कि नामोल्लेख उचित है।) दोष का उदाहरण :—]

(१४) श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः सान्द्रैर्मषीकूर्चकै-
र्मन्त्रं तन्त्रमथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां श्रियम्।
चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके
येन द्रष्टुमहं क्षमे दश दिशस्तद्वक्त्रमुद्राङ्किताः॥२७४॥

अर्थ—हे सेवको! चटकीली स्याही की लेखनी से पोतकर रात्रि को नितान्त अँधेरी बना डालो तथा मन्त्र-तन्त्र का प्रयोग करके श्वेत कमल की भी शोभा को हर लो और थोड़ी देर में किसी चट्टान पर

पटक कर चन्द्रमा को भी चूर-चूरकर डालो जिससे कि मैं उस नायिका के मुख चिह्नों से भूषित दशों दिशाओं को देख सकूँ।

अत्र "ज्योत्स्नीम्" इति श्यामाविशेषो वाच्यः ॥

यहाँ पर 'ज्योत्स्नीं' (चाँदनीवाली) ऐसा श्यामा (रात्रि) का नामोल्लेख) दोष का उदाहरण :—]

(१५) कल्लोलवेल्लितदृपत्परुषप्रहारै
रत्नान्यमूनि मकरालय मावमंस्थाः ।
किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम
याञ्चाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥२७६॥

अर्थ—हे समुद्र ! लहरों को चलाकर कठोर पत्थरों पर प्रहार के द्वारा तुम इन रत्नों का अनादर मत करो। क्या एक कौस्तुभमणि ही ने, जिसको माँगने के लिये भगवान् विष्णु जी ने भी तुम्हारे समुख अपना हाथ पसारा, ससार में तुम्हारी प्रसिद्धि नहीं कर दी ?

अत्र 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' इति सामान्य वाच्यम् ॥

यहाँ पर 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' ऐसा सामान्यरूप से कथन उचित था, क्योंकि कौस्तुभ रूप मणि विशेष का उल्लेख अनावश्यक तथा अनुचित प्रतीत होता है।

[साकाङ्क्ष दोष का उदाहरण :—]

(१६) अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
द्रुह्यन्दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।
उत्कर्षञ्च परस्य मान यशसोर्विस्रंसन चात्मनः
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो देवः कथ मृष्यते ॥२७७॥

अर्थ—[सीता के मिलने से निराश होकर माल्यवान कहता है —] याचना प्रकट करने पर भी हमारे प्रभु (रावण) की इष्ट सिद्धि तो नहीं हुई; किन्तु उनके द्रोही और विरोधयुक्त आचरणकारी दशरथ पुत्र (श्री रामचन्द्र) का उस कन्या (सीता) से समागम हो गया। उस शत्रु के सम्मान और यश की बढ़ती, अपना अनादर और स्त्री रूप रत्न

(की उपेक्षा) भला संसार के स्वामी दशमुख कैसे क्षमा करेंगे।

अत्रस्त्रीरत्नम् 'उपेक्षितुम्' इत्याकांक्षति। नाहि परस्येत्यनेन सम्बन्धो योग्यः।

यहाँ पर 'स्त्री रत्न' के आगे 'उपेक्षितु' इतना और जोड़ने की आवश्यकता थी। 'परस्य' के साथ भी 'स्त्रीरत्न' का सम्बन्ध अन्वय के लिये बरबस लगा देना भी ठीक न बैठेगा; क्योंकि 'परस्य' का अन्वय उत्कर्ष के साथ पहिले ही लगाया जा चुका चुका है।

[अपदयुक्त (जहाँ पर अनावश्यक वा अनुचित पदों का समावेश किया गया हो) दोष का उदाहरण :—]

(१७) आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी।
उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥२७८॥

अर्थ—जिसकी आज्ञा इन्द्र के लिये भी शिरोधार्य है, शास्त्र ही जिसकी नई आँखें हैं, पिनाकधारी भगवान् महादेव जी में जिसकी भक्ति है, लङ्का नामक दिव्यपुरी जिसका निवास स्थान है, जिसका जन्म ब्रह्मा के कुल में हुआ है—ऐसा योग्य वर रावण को छोड़ और कहाँ मिल सकता है? भला कहीं सर्वत्र सभी गुण मिलते हैं?

अत्र 'स्याच्चेदेष न रावणः' इत्यत एव समाप्यम्।

यहाँ पर 'स्याच्चेदेष न रावणः' इतना ही कहकर कथन को समाप्त कर देना चाहिये था क्योंकि 'क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः' कहने से रावण विषयक उपेक्षाभाव में बाधा उपस्थित हो जाती है।

[सहचर भिन्न दोष का उदाहरण :—]

(१८) श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा।
निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना नयेन चालंक्रियते नरेन्द्रता ॥२७९॥

अर्थ—शास्त्रश्रवण से बुद्धि, दुर्व्यसन से मूर्खता, मद (युवावस्था के पराक्रम) से स्त्री, जल से नदी, चन्द्रमा से रात्रि, समाधि से धैर्य

और नीति से राज-पदवी सुशोभित होती है।

अत्र श्रुतादिभिरुत्कृष्टैः सहचरितैर्व्यसनमूर्खतयोर्निकृष्टयोर्भिन्नत्वम्।

यहाँ श्रुत आदि उत्कृष्ट पदार्थों के साथ व्यसन, मूर्खता आदि निकृष्ट पदार्थों के गुणों को न मिलाना ही उचित था।

[प्रकाशित विरुद्ध दोष का उदाहरण :—]

(१९) लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यःश्री नियोगाद्गदितुमिवगतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥२८०॥

(इस श्लोक का अर्थ ऊपर इसी उल्लास में लिखा जा चुका है। देखिये २४१ श्लोक)

इत्यत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन श्रीस्तस्मादपसरतीति विरुद्धं प्रकाश्यते।

यहाँ पर 'विदितं तेऽस्तु' इस वाक्य से 'श्रीस्तस्मादपसरति' अर्थात् उसके पास से लक्ष्मी जी हट जाती हैं—ऐसे विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है।

[विध्ययुक्त (विधि का उचित न होना) दोष दो प्रकार का होता है। एक तो यह कि जो विधि का विषय वा विधेय नहीं है उसको विधि बनाना और दूसरे अनुचित रीति से विधि का कथन करना। प्रथम प्रकार के दोष का उदाहरण :—]

(२०) प्रयत्नपरिबोधितःस्तुतिभिरद्य शेषे निशा-
मकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम्।
इयं परिसमाप्यते रणकथाद्य दोःशालिना-
मपैतु रिपुकाननातिगुरुरद्य भारो भुवः ॥२८१॥

अर्थ—[अश्वत्थामा दुर्योधन से कहता है—] आज रात को आप सुखपूर्वक शयन करेंगे तो कल वन्दियों के स्तुतिपाठ द्वारा बड़ी कठिनाई से जगाये जावेंगे। क्योंकि आज पृथ्वी, श्रीकृष्ण, पाण्डवगण और सोमक (पाचाल) राजाओं से रहित कर दी जायगी। आज भुज-

वल विशिष्ट योद्धाओं की युद्ध-कथा संसार में समाप्त हो जायगी। आज संसार का शत्रुरूप गहन बन भार भी उतर जायगा।

अत्र 'शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे' इति विधेयम्। यथा वा—

यहाँ पर 'शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे' (जब सोइयेगा तो कठिनाई से जगाये जाइयेगा) ऐसा विधेय होना चाहिये था। क्योंकि सोता हुआ ही जन जगाया जाता है, न कि जगाया गया जन सोता है। द्वितीय प्रकार के विध्ययुक्त दोष का उदाहरण :—

वाताहारतया जगद्विषधरैराश्वास्य निःशेषितं
ते ग्रस्ताः पुनरभ्रतोयकणिकातीव्रव्रतैर्बर्हिभिः।
तेऽपि क्रूरचमूरुचर्मवसनैर्नीताः क्षयं लुब्धकै-
र्दम्भस्य स्फुरितं विदन्नपि जनो जाल्मो गुणानीहते ॥२८२॥

अर्थ—विषधर सर्पों ने केवल वायु पीकर निर्वाह करनेवाले बनकर विश्वास दिला कर सारे संसार को सूना कर दिया। केवल मेघ के जल-बिन्दुओं को पीकर जीनेवाले मयूरों ने उन्हें भी खा डाला। चितकबरे हिरनों की खाल ओढ़नेवाले व्याधगणों ने इन मयूरों का भी विनाश किया। मूर्ख लोग दम्भ का आचरण जानते हुए भी धार्मिक बनकर उनके गुणों की प्राप्ति की चेष्टा मे निरत रहते हैं।

अत्र वाताहारादित्रयं व्युत्क्रमेण वाच्यम्।

यहाँ पर 'वाताहार' (वायु पीना) आदि तीनों गुणों को विपरीत क्रम से कथन करना चाहिये था।

[अनुवादायुक्त (जहाँ पर अयुक्त अथवा अनुचित अनुवाद (कथन) से युक्त कोई अर्थ हो।) दोष का उदाहरण :—]

(२१) अरे रामाहस्ताभरण भसलश्रेणिशरण
स्मरक्रीडाव्रीडाशमन विरहिप्राणदमन
सरोहंसोत्तंस प्रचलदल नीलोत्पल सखे!
सखेदोऽहं मोहं श्लथय कथय क्वेन्दुवदना ॥२८३॥

अर्थ—हे मेरे मित्र नीलकमल! मैं दुःखी हूँ। तुम मेरी पीड़ा का

निवारण करो। बताओ कि मेरी चन्द्रमुखी नायिका कहाँ है? तुम सुन्दरी स्त्रियों के हाथों के भूषण हो। भ्रमरों की पङ्क्तियों के शरणदाता हो, काम-क्रीड़ा की लज्जा के विधायक हो, विरहीजनों के प्राणों के पीड़क हो, सुन्दर सरोवर के अलंकार हो और चञ्चल पत्र विशिष्ट हो।

अत्र 'विरहिप्राणदमन' इति नानुवाद्यम्।

यहाँ पर 'विरहि प्राणदमन' (विरहीजनों के प्राणों के पीड़क) इतना वाक्यांश सम्बोधन में कहना उचित नहीं है।

[त्यक्तपुनः स्वीकृत दोष (जहाँ पर किसी विषय को एक बार समाप्त करके फिर से उसी को ग्रहण किया जाय) का उदाहरण :—]

(२२) लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे-
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मिदत्ता-
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्त कीर्तिः ॥२८४॥

(इस श्लोक का अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है।)

अत्र 'विदित तेऽस्तु' इत्युपसंहृतोऽपि तेनेत्यादिना पुनरुपात्तः।

यहाँ पर 'विदित तेऽस्तु' इतना कहकर एक बार वाक्य की समाप्ति कर दी गई और 'तेन दत्तास्मि' आदि वाक्यांश फिर से उठाया गया है।

[अर्थ विषयक अश्लीलता का उदाहरण :—]

(२३) हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः।
यथास्य जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥२८५॥

अर्थ—परछिद्रान्वेषी, उद्धत स्वभाव, प्रहार करने के लिये उद्यत दुष्ट मनुष्य का अधःपतन जितने शीघ्र होता है उतने शीघ्र फिर उसकी उन्नति नहीं होती।

अत्र पुंव्यञ्जनस्यापि प्रतीतिः।

यहाँ पर व्यञ्जना द्वारा 'पुंव्यञ्जन' अर्थात् लिङ्ग अर्थ की प्रतीति भी होती है।

यत्रैको दोषः प्रदर्शितस्तत्र दोषान्तराण्यपि सन्ति तथापि तेषां तत्राप्रकृतत्वात्प्रकाशनं न कृतम् ।

उक्त उदाहरणों में जहाँ पर एक दोष दिखाया गया है वहाँ पर अन्य कई एक दोष भी उपस्थित हैं; परन्तु प्रस्तुत प्रकरण से भिन्न होने के कारण सभी का निरूपण सर्वत्र नहीं किया गया है ।

[उक्त रीति से दोषों का निरूपण उदाहरणों द्वारा हो चुका । अब ऐसे स्थलों के दिखाने का उपक्रम करते हैं जहाँ पर ये दोष दोषरूप से नहीं भी माने जाते । पहले अर्थगत दोषों की अदोषता का उल्लेख किया जाता है ।]

(सू० ७७) कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः ।
सन्निधानादिबोधार्थम्

अर्थ—कर्णावतंस आदि पदों में 'कर्ण' आदि पदों का प्रयोग सन्निधान (नैकट्य) आदि के ज्ञान के लिए किया जाता है ।

अवतंसादीनि कर्णाद्याभरणान्येवोच्यन्ते तत्र कर्णादिशब्दाः कर्णादिस्थितिप्रतिपत्तये । यथा :—

कान आदि के आभरणों को ही अवतंस आदि कहते हैं, फिर भी ऐसे शब्दों के साथ कान आदि शब्दों का संयोग केवल उनकी यथोचित स्थिति बतलाने के लिए किया जाता है ।

अस्याः कर्णावतंसेन जितं सर्वं विभूषणम् ।
तथैव शोभतेऽत्यर्थमस्याः श्रवणकुण्डलम् ॥२८६॥
अपूर्वमधुरामोदप्रमोदितदिशस्ततः ।
आययुर्भृङ्गमुखराः शिरःशेखरशालिनः ॥२८७॥

अर्थ—इस कामिनी के कर्णावतंस ने और सब आभूषणों की शोभा को जीत लिया और इसके कानों के कुण्डल अत्यन्त अधिक शोभित हो रहे हैं । तदनन्तर अद्भुत मनोमोहिनी सुगन्ध से सभी दिशाओं को भरते हुए शिरोभूषण विशिष्ट पुरुषगण भौंरों के गुञ्जार शब्द समेत आ पहुँचे ।

अत्र कर्णश्रवणशिरःशब्दा' सन्निधानप्रतीत्यर्थाः ।

उक्त उदाहरणों में कर्ण, श्रवण और शिर—ये सब शब्द नैकट्य की प्रतीति उपजाने के लिये प्रयोग म लाये गये हैं।

[सन्निधान प्रतीति द्योतक उदाहरणान्तर :—]

विदीर्णाभिमुखारातिकराले सङ्गरान्तरे ।
धनुर्ज्याकिणचिह्नेन दोष्णा विस्फुरित तव ॥२८८॥

अर्थ—हे राजन्! पहले घायल होकर पीछे अनुकूल होनेवाले आपके शत्रुओं से युक्त भयङ्कर युद्धस्थल के बीच मे, धनुष की डोर के घावों से चिह्नित आपकी भुजा फड़क उठी।

अत्र धनुःशब्द आरूढत्वावगतये । अन्यत्र तु —

यहाँ पर 'ज्या' (डोर) के साथ 'धनु' शब्द चढे हुए वा सन्धानीकृत धनुष का बोध कराने के लिये उपयुक्त हुआ है। अन्यान्य स्थलों में जैसे :—

ज्याबन्धनिष्पदभुजेन यस्य विनिश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात् ॥२८९॥

अर्थ—धनुष की डार मे बाँधे जाने के कारण निश्चल भुजाओंवाला तथा मुखों से बार-बार साँस लेता हुआ, इन्द्रविजयी लङ्कापति रावण जिस (सहस्रबाहु) के बन्दीगृह मे अनुग्रहकाल पर्यन्त ठहरा रहा।

इत्यत्र केवलो ज्याशब्दः ।

यहाँ पर केवल 'ज्या' शब्द रखा गया है।

प्राणेश्वरपरिष्वङ्गविभ्रमप्रतिपत्तिभिः ।
मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तनद्वयम् ॥२९०॥

अर्थ—प्राणनाथ के आलिङ्गन काल के हावभाव का ज्ञान रखते हुए भी इस युवती स्त्री के दोनों स्तन शोभाविष्ट मोतियों के हार द्वारा हँसते हुए से जान पड़ते हैं।

अत्र मुक्तानामन्यरत्नामिश्रितत्वबोधनाय मुक्ताशब्दः ।

यहाँ पर मुक्ता (मोती) शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि जिसमें यह बोध हो कि मोतियों के साथ किसी अन्य रत्न का मेल नहीं है।

सौन्दर्यसम्पत्तारुण्यं यस्यास्ते ते च विभ्रमाः।

षट्पदान् पुष्पमालेव कान् नाकर्षति सा सखे ! ॥१६१॥

अर्थ—हे मित्र ! विशेष लावण्यवती तरुणी नायिका, जिसके हाव भाव विचित्र हैं, वह जैसे फूलों की माला भौंरों को लुभा लेती है वैसे किस पुरुष को अपने वश में नहीं कर लेती ?

अत्रोत्कृष्टपुष्पविषये पुष्पशब्दः। निरुपपदो हि मालाशब्दः पुष्पस्रजमेवाभिधत्ते।

यहाँ पर 'पुष्प' शब्द उत्कृष्ट पुष्पों का ज्ञान उत्पन्न कराने के लिये है। माला शब्द का अर्थ तो बिना किसी विशेषण के भी फूल ही की माला का वाचक है।

(सू० ७८) स्थितेष्वेतत्समर्थनम् ॥८८॥

न खलु कर्णावतंसादिवज्जघनकाञ्चीत्यादि क्रियते।

अर्थ—यह तो अनादि काल से चले आते हुए व्यवहार को शुद्ध सिद्ध करने के लिये कहा गया है। प्राचीन कवियों का कथन अशुद्ध न माना जाय इसलिये उनके प्रयोगों को देखकर यह युक्ति निकाली गई है। कर्णावतंसादि की भाँति 'जघनकाञ्ची' आदि पदों का समर्थन नहीं किया जाता है। क्योंकि प्राचीन कवियों ने 'जघनकाञ्ची' आदि पदों का प्रयोग नहीं किया है।

जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम् ॥१६२॥

इत्यादौ क्रियाविशेषणत्वेऽपि विधेयत्वेन प्राधान्यं निषिद्धम्। "गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणदानार्थं क्वचित्प्रयोगः कार्यः"—इति न युक्तम्। युक्तत्वे वा'

अर्थ—वह मधुर स्वच्छ वचनों से युक्त बात कहता था— इत्यादि स्थलों में इस क्रियाविशेषण द्वारा भी इस अर्थ की प्रतीति [illegible] [illegible]

सकती है तो 'गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणदानार्थं क्वचित्प्रयोगः कार्यः' अर्थात् जिसके अर्थ की प्रतीति और किसी पद से हो चुकी है ऐसे विशेष्य के भी विशेषणदानार्थ कहीं-कहीं पर किसी-किसी पद का प्रयोग किया जाय, यह बात युक्तिसङ्गत नहीं है। जहाँ पर क्रियाविशेषण द्वारा कार्य न निकले वहाँ विशेषणदानार्थ विशेष्य के प्रयोग का उदाहरण :—

चरणत्रपरित्राणरहिताभ्यामपि द्रुतम्।
पादाभ्यां दूरमध्वानं व्रजन्नेष न खिद्यते ॥२६३॥

इत्युदाहार्यम्।

अर्थ—यह पुरुष जूतों से बिना रक्षित पैरों ही से मार्ग में दूर तक चलते-चलते भी खिन्न नहीं होता है। यहाँ पर 'व्रजन्' (चलते-चलते) के साथ 'पादाभ्या' (दोनों पैरों से) ऐसा कहने का प्रयोजन है कि 'चरणत्र परित्राण रहिताभ्या' रूप विशेषण जिस विशेष्य के लिए आया है उसका उल्लेख होना चाहिये।

(सू० ७६) 'ख्यातेऽर्थेनिर्हेतोरदुष्टता।' यथा—

प्रसिद्ध अर्थ के प्रकाशन में 'निर्हेतु' नामक दोष, दोष नहीं माना जाता। जैसे :—

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुंक्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥२६४॥

अर्थ—चञ्चला लक्ष्मी चन्द्रमा में निवास करते समय (रात्रि में सकुचित रहने से) कमल की शोभा को नहीं पाती और खिले कमल में निवास करते समय (दिन में चन्द्रमा के मलिन रहने से) चन्द्रमा के गुणों को नहीं पाती। परन्तु पार्वती जी के मुखरूप आश्रय में उस लक्ष्मी को दोनों (चन्द्र और कमल) की शोभा को इकट्ठा ही भोगने का अवसर मिला।

अत्र रात्रौ पद्मस्य सङ्कोचः दिवा चन्द्रमसश्च निष्प्रभत्वं लोकप्रसिद्धमिति 'न भुंक्ते इति हेतुं' नापेक्षते।

यहाँ पर रात्रि में कमल का सकुचित रहना और दिन में चन्द्रमा का मलिन होना लोक-प्रसिद्ध है अतएव 'न मुङ्क्ते' यह पद हेतु की अपेक्षा नहीं रखता।

(सू० ८०) अनुकरणे तु सर्वेषाम्।

अर्थात्—अन्य का अनुकरण करने में (कथित शब्दों को दुहराने में) सभी दोष दूषण रहित माने जाते हैं।

सर्वेषां श्रुतिकटुप्रभृतीनां दोषाणाम्। यथा

सभी शब्दों से यहाँ पर 'श्रुतिकटु' इत्यादि (पदगत, देशगत, वाक्यगत और अर्थगत) दोषों से तात्पर्य है। श्रुतिकटु आदि दोषों का अनुकरण प्रकरण में निर्दोष होने का उदाहरण :—

मृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादि कथयत्ययम्।
पश्यैष च गविति्याह सुत्रामाणं यजेति च ॥२६५॥

अर्थ—यह मनुष्य कहता है कि मैंने मृगचक्षुष (मृग के सदृश नेत्रवाली) को देखा और देखो इसने कहा 'गविति' (गो+इति) और सुत्रामाणं यज (इन्द्र का यजन करो)। ऐसा भी कहा।

[यहाँ पर मृगचक्षुषं और अद्राक्ष ये पद श्रुतिकटु हैं। 'गविति' व्याकरणानुसार अशुद्ध होने से 'च्युतसंस्कृति' दोष विशिष्ट है। 'गौरिति' शुद्ध है, तथा सुत्रामाणं यह पद अमरकोष में इन्द्र का पर्यायवाची होने पर भी पूर्व कवियों द्वारा प्रयोग न किये जाने के कारण अप्रयुक्त दोष विशिष्ट है। परन्तु ये सब शब्द केवल अन्य के कथित होने से दुहराये जाने के कारण निर्दोष हैं।]

(सू०८१) वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित्क्वचिन्नोभौ ॥५९॥

वक्ता श्रोता आदि के यथोचित प्रकार के होने से कभी-कभी दोष भी गुण हो जाते हैं। और कभी-कभी न गुण ही होते हैं न दोष ही माने जाते हैं।

वक्तृप्रतिपाद्यव्यङ्ग्यवाच्यप्रकरणादीनां महिम्ना दोषोऽपि क्वचिद् गुणः क्वचिन्न दोषो न गुणः। तत्र वैयाकरणादौ वक्तरि प्रतिपाद्ये च

रौद्रादौ च रसे व्यङ्ग्ये कष्टत्व गुणः । क्रमेणोदाहरणम्

वक्ता, श्रोता, व्यंग्य, वाच्य, प्रकरण इत्यादि कारणों से वाक्य की महिमा द्वारा कहीं-कही दोष भी गुण हो जाता है, कहीं-कहीं न दोष होता है न गुण। उनमे से यदि वक्ता और श्रोता दोनों व्याकरणवेत्ता हुए अथवा जहाँ पर रौद्र आदि रस व्यंग्य हों, वहाँ पर कष्टत्व गुण माना जाता है। इनके उदाहरण क्रमशः लिखे जाते हैं।

[वक्ता के वैयाकरण होने के कारण कष्टत्व रूप दोष के गुण माने जाने का उदाहरण.—]

दीधीङ्वेवीङ्समः कश्चिद्गुणवृद्ध्योरभाजनम्।
क्विप्प्रत्ययनिभः कश्चिद्यत्र सन्निहिते न ते ॥२६६॥

कोई पुरुष दीधीङ्, वेवाङ् धातु के समान गुण (पाण्डित्य आदि) और वृद्धि (समृद्धि आदि) के पात्र नहीं होते—जैसे दीधाङ् और वेवीङ् धातुओं मे 'दीधीवेवीटाम् १।१।६। सूत्र से गुण वृद्धि का निषेध हो जाता है। और कोई तो क्विप्प्रत्यय के समान होते हैं जहाँ वे (गुण-वृद्धि) पास तक नही फटकते। जैसे क्विप्प्रत्यय जिस किसी धातु अथवा प्रातिपादिक से सन्निहित होता है उसी के गुणवृद्धि को रोक देता है, उसी प्रकार कई ऐसे पुरुष हैं, जिनके समीप रहनेवाली स्त्री की भी गुणवृद्धि नष्ट हो जाती है, उनकी अपनी तो बात ही क्या ? वे तो क्विप्प्रत्यय की भाँति सर्वथा नष्ट ही हैं। क्विप्प्रत्यय के सभी अक्षर क्, व्, इ, और प् लुप्त हो जाते हैं और क्ङिति च १।१।५। से गुण-वृद्धि का निषेध होता है।

[यहाँ पर वैयाकरण के वक्ता होने के कारण 'कष्टत्व' नामक दोष गुण हो गया है।]

[श्रोता के वैयाकरण होने के कारण उक्त दोष के गुणत्व का उदाहरण:—]

यदा त्वामहमद्राक्षं पदविद्याविशारदम्।
उपाध्यायं तदाऽस्मार्षं समस्प्राक्षं च सम्मदम् ॥२६७॥

अर्थ—जब मैंने आपको—जो व्याकरणशास्त्र में निपुण हैं—देखा तब अपने उपाध्याय (गुरु जी) का स्मरण किया और अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त हुआ। [यहाँ पर 'अद्राक्ष' 'अस्मार्षं' और 'समस्प्राक्षं' इत्यादि शब्द श्रुतिकटु हैं; परन्तु वैयाकरणों के बीच वार्तालाप में आने के कारण गुण माने जाते हैं।]

[बीभत्स रस व्यञ्जक श्रुतिकटु शब्दों के गुणत्व का उदाहरण :—]

अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कङ्कण—
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम्।
पीतच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लसद्
व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥२६८॥

अर्थ—अँतड़ियों में लिपटी हुई बड़ी-बड़ी खोपड़ियों और जाँघ की हड्डियों के परस्पर टकराने के भयानक शब्दों को करती हुई हाथों के कङ्कण समेत अनेक चञ्चल आभूषणों के बजने के शब्दों की गूँज से गगनमण्डल को भरती पहिले पीकर उगले गये रक्त की घनी कीच से भरे शरीर के डरावने ऊपरी भागों में स्थित चञ्चल स्तनों के बोझ से जो भैरव शरीरवाली ताड़का नामक राक्षसी है, वह घमण्ड में उद्धत होकर दौड़ रहा है।

[यहाँ पर लम्बे-लम्बे समास और कतिपय श्रुतिकटु शब्दों के बीभत्स रस के पोषक होने के कारण काव्य के उत्कर्षवर्द्धक ही हैं, न कि वे दोषावह माने जाते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रुतिकटु शब्दों से बीभत्स आदि रसों की शोभा और भी बढ़ जाती है।]

वाच्यवशाद्यथा—

वाच्य की महिमा से औद्धत्य रूप दोष के गुणत्व का उदाहरण :—

मातङ्गाः किमु वल्गितैः किमफलैराडम्बरैर्जम्बुकाः।
सारङ्गा महिषा मदं व्रजथ किं शून्येषु शूरा न के।
कोपाटोपसमुद्भटोत्कटसटाकोटेरिभारेः पुरः
सिन्धुध्वानिनि हुंकृते स्फुरति यत् तद्गर्जितं गर्जितम् ॥२६९॥

अर्थ—हे हाथियो! क्यों चिग्घाडते हो? अरे सियारो! क्यों व्यर्थ हुआ-हुआ मचाते हो? अरे हरिणो और भैंसो! क्या घमण्ड करते हो? दुर्बलों के सामने कौन अपनी शूरता प्रकट नहीं करता है? क्रोध के भड़कने से जिसके घने कन्धों पर के बाल प्रान्त भागों तक खडे हो गये हैं, उस सिन्धु सदृश गम्भीर गर्जनेवाले सिंह के सामने जो गरजे तो यथार्थ गरजना कहलावे।

अत्र सिंहे वाच्ये परुषाः शब्दाः।

यहाँ सिंहरूप वाच्य के कारण श्रुतिकटु शब्दों की योजना की गई हैं।

प्रकरणवशाद्यथा—

प्रकरणानुसार श्रुतिकटु शब्दों के गुण माने जाने का उदाहरण :—

रक्ताशोक कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं
नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वातावधूतं शिरः।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासंघट्टदष्टच्छद—
स्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः ॥२००॥

अर्थ—[उर्वशी के विरह में विकल राजा पुरूरवा कहता है—] हे लाल अशोक के वृक्ष! मुझ अनुरागी जन को छोड़कर वह कृशोदरी कहाँ चली गई? वायु से कँपाये गये निज शिर को क्यों झूठमूठ हिला-डुलाकर 'नहीं देखा' यह सङ्केत करते हो? औत्सुक्य से भरे एकत्र हुए भौरों की भीड से जब तुम्हारे पत्ते चाट लिये जाते हैं तब बिना उसके पाद प्रहार के ये फूल भला कैसे खिल सकते हैं?

अत्र शिरोधूननेन कुपितस्य वचसि।

यहाँ पर शिर हिलाये जाने से क्रुद्ध हो जानेवाले वक्ता के कथन में लम्बे-लम्बे समास और कठोर शब्द गुण रूप मे स्वीकार किये गये हैं।

क्वचिन्नीरसे न गुणो न दोषः। यथा—

कहीं-कहीं रसरहित अधम काव्यों मे 'श्रुतिकटु' आदि न गुण होते हैं न दोष।

शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्
दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
र्दत्तार्घाः सिद्धसङ्घैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम् ॥३०१॥

अर्थ—जो लोग चिरकाल से अपने किए हुए पाप का फल भोगने चले आये हैं, जिनके नाक, हाथ, जाँघ आदि शरीर के अवयव गल गये हैं, जिनके शरीर में फोड़े निकल आये हैं, जिनकी बोली भी घर्घर और अस्पष्ट है, उन कोढ़ियों के रोग का विनाश करके, जो सूर्यदेव उनके शरीर को फिर से नवीन कर देते हैं, उन दूनी और भूरि-भूरि कृपा से युक्त बाधारहित, उष्ण किरणवाले भगवान् की किरणें शीघ्र ही तुम्हारे पापों का निवारण करें। सिद्ध लोगों के समूह ने पूजार्थ उन्हें अर्घ्य समर्पित किया है।

अप्रयुक्तनिहतार्थौ श्लेषादावदुष्टौ। यथा।

अप्रयुक्त और निहतार्थ नामक दोष श्लेषादि के प्रकरण में सदोष नहीं समझे जाते। जैसे :—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत् ॥
यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥३०२॥

माधव (विष्णु) पक्ष में अर्थ—जिस अजन्मा भगवान् ने शकट का ध्वंस किया (अर्थात् शकटासुर का विनाश किया) जिसने बलि को विजित किया। प्राचीन काल में (अमृतमन्थन के समय) जिसने अपने देह को स्त्री बना दिया। जिसने बढ़े हुए कालियनाग का दमन किया, जिसमें शब्दों (वेद वाक्यों) का लय होता है, जिसने गोवर्द्धन पर्वत उठाया, और पृथ्वी का उद्धार किया, जिसका नाम देवताओं ने स्तुति में 'राहुशिरः कर्त्ता' (राहु का शिर काटनेवाले) ऐसा कहा है, जिन्होंने अन्धकों (यादवों) का क्षय (स्थान या विनाश) स्वयं किया (कृष्ण ने

द्वारका को यदुवंशियों का स्थान बनाया और अन्त में यादवों का नाश भी स्वयं कराया।) वह चारों पुरुषार्थ (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) के दाता लक्ष्मीपति विष्णु तुम्हारी रक्षा करें।

उमाधव (शिव) पक्ष में अर्थ—जिसने कामदेव का संहार किया, प्राचीनकाल मे (त्रिपुरासुर का वध करते समय) जिसने विष्णु के शरीर को अपना बाण बनाया, उद्धत वासुकि आदि नाग जिसके हार और कर-कङ्कण हैं, जो अपने शिर पर गङ्गा को धारण किये हुए हैं, जिसका मस्तक चन्द्रमा द्वारा सुशोभित है और जिसका हर ऐसा स्तुति योग्य नाम देवताओं ने गाया है, वह अन्धक नामक राक्षस के निकन्दन पार्वतीवल्लभ शिवजी स्वयं सदा तुम्हारी रक्षा करें।

अत्र माधवपक्षे शशिमदन्धकक्षयशब्दावप्रयुक्तनिहतार्थौ।

यहाँ पर विष्णु पक्ष में 'शशिमत्' (राहु) शब्द अप्रयुक्त है और अन्धकक्षय (यदुवंशियों का निवासस्थान द्वारिकापुरी) यह पद निहतार्थ है। परन्तु श्लेष के प्रकरण में आने के कारण उक्त दोनों पद (अप्रयुक्त और निहतार्थ) दुष्ट नहीं माने जाते।

अश्लीलता नामक दोष भी कहीं-कहीं पर गुण हो जाता है। जैसे युवती समागम काल के प्रारम्भ की बातचीत में। काम-शास्त्र मे नियम है कि 'द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्य वस्तु' अर्थात् गुप्त वस्तु को दो अर्थवाले श्लिष्ट (श्लेषयुक्त) पदों द्वारा सूचित करना उचित है। व्रीड़ाव्यञ्जक अश्लीलता के वाक्यगत निर्दोषत्व का उदाहरण:—

करिहस्तेन सम्बाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते॥
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते॥२०३॥

अश्लील क्वचिद्गुणः। यथा सुरतारम्भगोष्ठायाम् "द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्य वस्तु" इति कामशास्त्रस्थितौ।

अर्थ—मनुष्यों तथा अश्वों आदि से भरी तथा हस्तियों के शुण्डा दण्ड से विचलित की गई सेना के मध्य मे प्रवेश कर इधर-उधर फिरती हुई उस वीर पुरुष की ध्वजा विराजमान (फहरा रही) है।

[यहाँ पर प्रतीयमान अर्थ व्रीडा व्यञ्जक अश्लील है, पुंसःध्वज और साधन शब्द क्रमशः पुरुष और स्त्री के गुप्ताङ्ग लिंग और भग) के बोधक हैं तथा उपसर्पन शब्द का अर्थ भीतर बाहर आते-जाते हुए आदि है उसी प्रकार 'करिहस्त' शब्द से कामशास्त्र की एक क्रिया बोधित होती है, 'तर्जन्यनामिकायुक्ते मध्यमा पृष्ठतो यदि । करिहस्त इति प्रोक्तः काम शास्त्र विशारदैः ।' तथा सबाध का अर्थ संकुचित है; परन्तु द्वयर्थक होने से युवती समागमारम्भ की बातचीत में वह न केवल निर्दोष किन्तु गुण विशिष्ट भी माना जाता है।

शमकथासु—

जुगुप्सादायक अश्लील अर्थ शान्त (वैराग्य रस के प्रकरण में गुण विशिष्ट माने जाते हैं। उदाहरण:—

उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसन्निभे ।
क्लेदिनि स्त्रीव्रणे सक्तिरकृमेः कस्य जायते ॥३०४॥

अर्थ—औंधेमुँह मरे हुए मेंढक के फटे पेट के समान क्लेद (मलिन जल) से युक्त जो स्त्रियों का वरांगरूप शरीर का फटा हुआ भाग है उसमें कीड़ों मकोड़ों के समान कृमि (नीच प्राणियों) को छोड़ और कौन आसक्त हो सकता है?

[अमङ्गलसूचक अश्लील के गुणत्व का उदाहरण:—]

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवःक्षतविग्रहाश्चस्वस्थाभवन्तुकुरुराजसुताः सभृत्याः ॥३०५॥

अर्थ—शत्रु के विनाश के कारण जिनकी वैर की ज्वाला बुझ गई है, वे पाण्डव लोग श्रीकृष्ण जी सहित प्रसन्न हों तथा कौरवगण भी अपने सेवकों सहित युद्ध और कलह से निवृत्त हो प्रेमपूर्वक पृथ्वी स्ववश में करके स्वस्थ (प्रसन्न) हों।

अत्र भाव्यमङ्गलसूचकम् ।

यहाँ उत्तरार्द्ध के श्लिष्ट अमाङ्गलसूचक शब्द भावी अमङ्गल के प्रकाशक हैं।

सन्दिग्धमपि वाच्यमहिम्ना क्वचिन्नियतार्थप्रतीतिकृत्त्वेन व्याजस्तुति पर्यवसायित्वे गुणः —

सन्दिग्ध पद भी कहीं-कहीं वाच्य अर्थ की महिमा के द्वारा नियत अर्थ की प्रतीति उत्पन्न कराकर व्याजस्तुति के रूप में गुण हो जाता है। उदाहरण :—

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव।
विलसत्करेणुगहन सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥३०६॥

अर्थ—हे राजन्! इस समय मुझ दीन का और आपका घर एक-सा हो गया है; क्योंकि आपके घर मे पृथुकार्तस्वर पात्र (बहुत बड़े-बड़े सुवर्ण के पात्र) हैं और मेरा भी घर पृथुकार्तस्वर पात्र (भूख से पीड़ित बच्चों की चिल्लाहट से भरा) है। आपका घर भूषित समस्त परिजन (गहनों से अलङ्कृत सब सेवकों से व्याप्त) है और मेरे यहाँ भी भूषित समस्त परिजन (पृथ्वी ही पर सोनेवाले कुटुम्ब के सब लोग) हैं। आपका घर विलसत्करेणु गहन (शोभायमान हथिनियों से भरा हुआ) है और मेरा घर भी विलसत्करेणु गहन (चूहों की खोदी मिट्टी से परिपूर्ण) है।

[यहाँ पर प्रकरणानुसार राजा की प्रशसा का निश्चयात्मक अर्थ विदित हो जाने से सन्देह का निवारण हो सकता है।]

प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्ज्ञत्वे सत्यप्रतीत्व गुणः। यथा

यदि वक्ता और श्रोता दोनों वक्तव्य विषय से अभिज्ञ हों तो अप्रीतत्त्व दोष भी गुण हो जाता है। उदाहरण :—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्षन्ते किमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ता
त्तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम् ॥२०७॥

अर्थ—स्वात्मसाक्षात्कार के अनुरागी, अभेदज्ञानवाली समाधि में रुचि रखनेवाले, सत्त्वगुण विशिष्ट महात्मा लोग निजात्मज्ञान की पुष्ट

से अविद्या के बन्धन को तोड, रज और तम से परे जिस भगवान् का दर्शन पाते हैं, उन पुराण पुरुष भगवान् श्रीविष्णु जी को मोह के कारण अन्धा हुआ यह (दुर्योधन) भला क्या जान सकता है ?

स्वयं वा परामर्शे । यथा

कहीं-कहीं मन ही मन परामर्श करने में भी अप्रतीत पद गुण हो जाता है।

षडधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा
हृदि विनिहितरूपः सिद्धिदस्तद्विदां यः ।
अविचलितमनोभिः साधकैर्मृग्यमाणः
स जयति परिणद्धः शक्तिभिः शक्तिनाथः ॥२०८॥

अर्थ—[भवभूति विरचित मालतीमाधव नामक प्रकरण के पञ्चम अङ्क में कपालकुण्डला नामक योगिनी अपने मन ही में परामर्श करके कह रही है—] सोलहों नाड़ियों[1] का बना हुआ जो मणिपूर नामक चक्र है उसके मध्यस्थित स्वरूपवाले, हृदय में ज्योति को स्थिर रखनेवाले तथा इनके जाननेवालों को अष्टसिद्धि[2] अर्पण करनेवाले शक्तियों से युक्त शक्ति के नाथ (गौरीपति) देवाधिदेव वे महादेव जी विजयशील हैं, जिन्हें खोजने में निश्चल चित्त उपासकगण सदा निरत रहते हैं।

अधमप्रकृत्युक्तिषु ग्राम्यो गुणः । यथा

अधम पात्र की उक्ति में ग्राम्य पद भी गुण हो जाते हैं। उदाहरण :—

फुल्लुक्करं कमलक्कूरणिहं वहन्ति जे सिन्धुवारविडवा मह वल्लहा दे ।
जे गालिदस्स महिसीदहिणोसरिच्छादे किंचमुद्धविअइल्लपसूणपुञ्जा ॥२०९॥
[छाया—पुष्पोत्करंकलमभक्तनिभंवहन्ति येसिन्धुवारविटपाममवल्लभास्ते ।
ये गालितस्यमहिषीदध्नःसदृक्षस्तेकिञ्चमुग्धविचिकिलप्रसूनपुञ्जाः।]

अर्थ—[विदूषक कहता है—] मुझे वे निर्गुण्डी के वृक्ष भले लगते हैं, जिनके फूल शालि (चावल) के भात के समान दिखाई देते हैं और वे मल्लिका के भी मनोहर पुष्पसमूह मुझे रुचते हैं, जो भैंस के निचोड़े दही से जान पड़ते हैं।

अत्र कलमभक्तमहिषीदधिशब्दा ग्राम्या अपि विदूषकोक्तौ ।

यहाँ पर कलम, भक्त, महिषी और दधि शब्द ग्राम्य होकर भी विदूषक की उक्ति में सम्मिलित होने के कारण गुण हो गये हैं।

न्यूनपदं क्वचिद्गुणः । यथा

न्यूनपद भी कहीं-कहीं पर गुण हो जाता है। उदाहरण :—

गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भूतरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा ।
मा मा मानद माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥२१०॥

अर्थ—निर्भर (गाढ़) आलिंगन करने से जिसके दोनों स्तन छोटे हो गये हैं, जिसका शरीर भलीभाँति रोमाञ्चित हो गया है, विशिष्ट अनुराग से भरे परमानन्द के कारण जिसके सुचारु नितम्बों पर से वस्त्र खिसक पड़े हैं, ऐसी मेरी प्यारी थोड़े अक्षरों में कहती है कि 'हे मानखण्डक (वा मानवर्धक) स्वामिन्! मत मत, बहुत नहीं, बस कीजिये।' फिर वह सो गई कि मर गई वा मेरे मन ही में चिपक गई अथवा लीन ही हो गई।

[यहाँ पर 'आयासय' (श्रम कराइये) और 'पीडय' (पीड़ा दीजिये) आदि पदों की न्यूनता है, परन्तु शृंगार रस व्यञ्जक हर्ष आदि के सूचक होने से यह न्यूनता गुणकारिणी हो गई है।

क्वचिन्न गुणो न दोषः । यथा

कहीं-कहीं पर न्यून पदत्व गुण वा दोष कुछ नहीं होता। उदाहरण :—

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्यामनः
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥३११॥

अर्थ—[विरहकातर राजा पुरूरवा उर्वशी सम्बन्ध में कहते हैं—] कदाचित् क्रोध के कारण वह अपनी दैवी शक्ति से अन्तर्हित हो गई हो तो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि वह अधिक समय तक क्रोध करती ही नहीं। कदाचित् वह स्वर्गलोक को चली गई हो, यह भी नहीं हो सकता क्योंकि उसका चित्त तो मुझपर अनुरक्त था। मेरे सामने से उसे राक्षसगण भी तो उठा नहीं ले जा सकते। परन्तु वह फिर भी आँखों से ओझल अत्यन्त दूर पहुँच गई। हा विधाता! यह क्या बात है?

अत्र पिहितेत्यतोऽनन्तरं 'नैतद्यतः' इत्येतैर्न्यूनैः पदैर्विशेषबुद्धेरकरणान्न गुणः। उत्तरा प्रतिपत्तिः पूर्वां प्रतिपत्तिं बाधते इति न दोषः।

यहाँ 'पिहिता' (अन्तर्हित) शब्द के आगे 'नैतद्यतः' (ऐसा नहीं है; क्योंकि) इतने पद न्यून पड़ते हैं। इनके न रहने से किसी विशेष बुद्धि का आविर्भाव नहीं होता; अतएव ये गुण नहीं हैं तथा इन पदों की अनुपस्थिति दोषावह भी नहीं है; क्योंकि पीछे के वाक्य की अर्थ-प्रतीति पूर्व वाक्य की अर्थप्रतीति का बाधन कर देती है।

अधिकपदं क्वचिद्गुणः। यथा

कहीं-कहीं पर अधिक पद भी गुण हो जाता है। उदाहरण:—

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहु चाटुगर्भं कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति।
तत्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किन्तु कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति ॥३१२॥

अर्थ—ठगने की बुद्धि रखनेवाला और स्वार्थ साधक दुष्ट मनुष्य

अनेक चाटूक्तियों से भरी बनावटी बातें कहता है, क्या साधु लोग उसे नहीं जानते ? अवश्य जानते हैं, परन्तु वे उसकी (बनावटी) प्रीति को भी नहीं तोड सकते।

अत्र 'विदन्ति' इति द्वितीयमन्ययोगव्यवच्छेदपरम्। यथा वा

यहाँ पर द्वितीय बार 'विदन्ति' (जानते हैं) को अन्ययोग व्यवच्छेद पर [अन्य अर्थात् साधुओं से भिन्न असाधु आदि के योग (वेदन सम्बन्ध) का व्यवच्छेदक (भिन्न कहने मे तत्पर)] समझना चाहिये। अधिक पद के गुणत्व का एक और उदाहरण :—

वद वद जितः स शत्रुर्न हतो जल्पंश्च तव तवास्मीति।
चित्रं चित्रमरोदीद्धा हेति परं मृते पुत्रे ॥२१३॥

अर्थ—[युद्धस्थल से आये हुए सेवक से स्वामी पूछता है—] कहो-कहो वह शत्रु जीत लिया गया क्या ? [उत्तर मे सेवक कहता है—] वह शत्रु "मैं आपका हूँ, मै आपका हूँ" ऐसा कहता हुआ मार नही डाला गया; किन्तु अपने पुत्र के मारे जाने पर आश्चर्ययुक्त हा हा आदि शब्द कह करके रोया।

इत्येवमादौ हर्षभयादियुक्ते वक्तरि।

ऐसे उदाहरणों मे हर्ष भय आदि से युक्त वक्ता के सम्बन्ध मे अधिक पद दूषण नहीं माने जाते।

कथितपदं क्वचिद्गुणः लाटानुप्रासे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये विहितस्यानुवाद्यत्वे च क्रमेणोदाहरणम्

लाटानुप्रास, अर्थान्तर संक्रमित वाच्य और जहाँ उत्तर वाक्य मे फिर से विधेय का अनुवाद हो—इन तीन दशाओं मे कभी-कभी कथित पद गुण हो जाते हैं। क्रम से उदाहरण लिखे जाते हैं। लाटानुप्रास का उदाहरण :—

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार धरणिधर कीर्त्तिः।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥२१४॥

अर्थ—हे सूर्य के समान प्रचण्ड तेजस्वी ! शेष के समान पृथ्वी

के संभालने वाले राजन्। आपकी कीर्ति तो चाँदनी-सी सुन्दर है। आपके पराक्रम रूप कमल का आश्रय करनेवाली कमला (लक्ष्मी) देवी भी आप ही की हैं, किसी और की नहीं।

[अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का उदाहरण:—]

ताला जाअन्तिगुणा जाला दे सहिअ एहिं घेप्पन्ति।
रइ किरणाणुग्गहिआइं होन्ति कमलाइँ कमलाइँ ॥२१५॥

[छाया—तदा जायन्ते गुणाः यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि।]

अर्थ—गुण तो तभी उत्पन्न हुए मानने चाहिये जब सहृदय (विज्ञ) लोग उन्हें ग्रहण करें। सूर्य के किरणों से अनुगृहीत हुए कमल यथार्थ में कमल कहलाते हैं।

[यहाँ पर द्वितीय कमल, विकास, सुगन्धि और सौन्दर्यविशिष्ट कमलों को सूचित करने में अर्थान्तर संक्रमित वाच्य है।]

[जहाँ पिछले वाक्य में विधेय का फिर से अनुवाद हुआ हो ऐसे (अधिक पद विशिष्ट) पद्य का उदाहरण:—]

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥२१६॥

अर्थ—इन्द्रियनिग्रह विनय की शिक्षा का कारण है। विनय से गुणों का बड़प्पन आता है। गुणों के बड़प्पन ही से सामान्य लोग अनुरक्त होते हैं। और लोगों का अनुरक्त होना ही सम्पत्ति का कारण होता है।

[यहाँ पर विनय, गुणप्रकर्ष आदि शब्दों की पुनरुक्ति हुई है जो पिछले वाक्य में विधेय के फिर से अनुवाद (उद्देश्य) रूप सिद्ध हुई है; अतएव इन दोनों उदाहरणों में अधिक पदता दोषावह नहीं है।]

पदप्रकर्षेऽपि क्वचिद्गुणः। यथा—

कहीं कहीं पदप्रकर्ष भी गुण हो जाता है। जैसे—

प्रागप्राप्तनिशुम्भशाम्भवधनुर्द्वेधाविधाविर्भवत्
क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धः क्षणात्
उज्ज्वालः परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथि—
र्येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते ॥३१७॥

[इस श्लोक का अर्थ लिखा जा चुका है। देखिये २०६ श्लोक। यहाँ पर चौथे चरण मे कोमल भाषा का प्रयोग वक्ता के गुरु का स्मरण करा देने के कारण उचित ही है।]

समाप्तपुनरात्तं क्वचिन्न गुणो न दोष। यत्र न विशेषणमात्रदानार्थं पुनर्ग्रहणम् अपितु वाक्यान्तरमेवक्रियतेयथा अत्रैव प्रागप्राप्तेत्यादौ॥३१८॥

इसी श्लोक मे 'समाप्त पुनरात्त' भी न गुण गिना जाता है न दोष। जहाँ पर 'पुनरात्तता' केवल विशेषणदान ही के लिये फिर से न ग्रहण की जाय; किन्तु वाक्यान्तर बना दी जाय वहाँ 'समाप्त पुनरात्त' न दोष होता है न गुण।

अपदस्थसमास क्वचिद्गुणः। यथा उदाहृते 'रक्ताशोकेत्यादौ' ॥३१९॥

अपदस्थ समास भी कहीं-कहीं पर गुण हो जाता है। जैसे पहले कहे हुए ३०० श्लोक में। वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार मे भी लम्बे-लम्बे समास क्रोधोत्तेजना के वर्णन के कारण गुण माने जाते हैं।

गर्भितं तथैव। यथा—

इसी प्रकार कहीं-कहीं पर गर्भित दोष गुणस्वरूप स्वीकार किया जाता है। जैसे:—

हुमि अवहत्थिअरेहो णिरंकुसो अह विवेअरहिओ वि।
सिविणे वि तुमम्मि पुणो पत्तिहि भत्तिं णपसुमरामि ॥३२०॥

[छाया—भवाम्यपहस्तितरेखो निरङ्कुशोऽथविवेकरहितोऽपि।
स्वप्नेऽपि त्वयि पुनः प्रतीहि भक्ति न प्रस्मरामि ॥]

अर्थ—हे स्वामिन्! चाहे मैं मर्यादा से विचलित हो जाऊँ या उन्मार्गगामी हो जाऊँ वा निर्विवेकी ही क्यो न हो जाऊँ; परन्तु आप विश्वास कीजिये कि मैं स्वप्न में भी आपकी भक्ति को कदापि न भूलूँगा।

अत्र प्रतीहीतिसच्छेदहढप्रत्ययोत्पादनाय । एवमन्यदपि लक्ष्याल्लक्षयम् ।

यहाँ पर वाक्य के बीच में 'पत्तिहि' (प्रतीहि, अर्थात् विश्वास कीजिये ऐसा कथन दृढ विश्वास उत्पन्न कराने के लिये है। इसी प्रकार से और भी अनेक उदाहरण द्वारा लक्ष्य (गुणदोषविशिष्ट वा रहित) अर्थों को (यथावसर सोच-विचार कर) समझ लेना चाहिये।

[अब साक्षात् रस के विरोधी दोषों को गिनाते हैं—]

(सू० ८८) व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।

कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः ॥६०॥

प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।

अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ॥६१॥

अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।

अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥६२॥

अर्थ— (१) व्यभिचारी भाव, (२) रस और (३) स्थायी भावों का शब्दों द्वारा कथन, (४) अनुभाव और, (५) विभाव की कष्ट-कल्पना द्वारा व्यक्ति (प्रकाश करना), (६) प्रतिकूल (विरोधी) विभावादि का ग्रहण, (७) बारबार एक ही रस की उद्दीप्ति, (८) बिना अवसर के विस्तार अथवा (९) विराम, (१०) किसी अप्रधान विषय का अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन, (११) अङ्गी (प्रधान वर्ण्य विषय) का अनुसन्धान न करना (उसे भूल जाना), (१२) प्रकृति अर्थात् पात्रों का विपर्यय (उलट फेर) और (१३) अनङ्ग (जो रस का उपकारक अङ्ग नहीं है) का कथन—ये [illegible] माने जाते हैं।

(१) स्वशब्दोपादानं व्यभिचारिणो यथा—

व्यभिचारी भावों के अपने शब्दों द्वारा [illegible] का उदाहरण:—

सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे

सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।

सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायाऽस्तु वः ॥२२१॥

अर्थ—शिवजी के साथ नूतन समागम के समय पार्वती जी की वह स्नेहभरी दृष्टि तुम्हारा कल्याण करे, जो पति के मुख को देख लजा जाती, हस्तिचर्म का परिधान देख करुणा से भर जाती, सर्प को देख डरती, अमृतवर्षा करनेवाले चन्द्रमा की ओर देख विस्मय प्रकट करने लगती, गङ्गा जी को देखकर ईर्षा करती और खप्परों को देखकर दीनता से भर उठती थी।

अत्र व्रीडादीनाम्। 'व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे, सोत्कम्पा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि। मीलद्भ्रूःसुरसिन्धु-दर्शनविधौ म्लाना कपालोदरे', इत्यादि तु युक्तम्।

यहाँ 'व्रीडा' आदि व्यभिचारी भावों का अपने शब्दों (वाचकों) द्वारा कथन दोषपूर्ण है। अतएव वाचक शब्दों को बदल कर श्लोक का उपर्युक्त प्रकार से पाठ किया जाय।

(२) रसस्य स्वशब्देनश्रृङ्गारादिशब्देन वा वाच्यत्वम्। क्रमेणोदाहरणम्—

रस का स्वशब्द, रस शब्द द्वारा अथवा श्रृङ्गार आदि शब्दों द्वारा कथन का उदाहरणः—

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम्।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः ॥२२२॥

अर्थ—कामदेव की विजय की मङ्गल लक्ष्मी के समान, तथा कुछ ऊँचा कर देने पर जिसकी भुजाओं के मूल भाग दिखाई देने लगते हैं—ऐसी नायिका का दर्शन पाकर नायक के चित्त में किसी अद्भुत रस (विलक्षण प्रेम) का उदय हुआ। [यहाँ पर रस शब्द का साक्षात् उच्चारण दोष है।]

[श्रृङ्गार के स्वशब्द द्वारा कथन का उदाहरणः—]

आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्त व्यक्तानुरागसुभगामभिरामसूर्तिम्।
पश्यैष बाल्यमतिवृत्य विवर्तमानः श्रृङ्गारसीमनितरङ्गितमातनोति ॥२२३॥

अर्थ—हे मित्र ! देखो, यह नायिका बचपन को छोड़कर युवावस्था में प्रवेश करती हुई शृङ्गार सीमा की तरङ्गों को फैला रही है; क्योंकि इसके सुकुमार कपोलों पर विराजमान और पुलकावली द्वारा प्रकट प्रेम इसकी मनोहर और सुन्दर मूर्त्ति को दिखला रहा है ।

[यहाँ पर शृङ्गार शब्द का साक्षात् कथन दूषण है ।]

(३) स्थायिनो यथा

स्थायी भाव के स्वशब्द द्वारा उपादान का उदाहरण :—

सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम् ।
ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥२७४॥

अर्थ—जब युद्धस्थल में परस्पर शस्त्रों के प्रहार द्वारा शस्त्रादि के झनकार का शब्द हुआ तब उसे सुनते ही उस वीर पुरुष के चित्त में कोई विलक्षण उत्साह उमड़ पड़ा ।

अत्रोत्साहस्य ।

यहाँ पर उत्साहरूप व्यभिचारी भाव का स्व शब्द द्वारा उपादान दूषण है ।

[कष्ट कल्पना द्वारा अनुभाव की अभिव्यक्ति का उदाहरण :—]

(४) कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौतदिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः ।
लीलाशिरोंऽशुकनिवेशविशेषक्लृप्तिव्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनौ सा ॥२७५॥

अर्थ—जब चन्द्रमा ने कपूर के चूर्ण सदृश श्वेत प्रकाश से दिशाओं के मण्डल को भर दिया तब उस युवा पुरुष की दृष्टि में वह नायिका आई, जिसने खेल ही खेल में अपने सिर के वस्त्र को शरीर पर इस ढंग से लपेट लिया था कि उसके स्तनों की ऊँचाई प्रकट हो रही थी (दिख रही थी) ।

अत्रोद्दीपनालम्बनरूपाः शृङ्गारयोग्या विभावाः अनुभावपर्यवसायिनः स्थिता इति कष्टकल्पना ।

अनुभाव रोमाञ्चादि के प्रकट होने का उल्लेख नहीं हुआ। अतएव यह कठिनाई से ज्ञानगम्य है। इसी को कष्ट कल्पना द्वारा अनुभाव की अभिव्यक्ति रूप दूषण समझना चाहिये।

[कष्ट कल्पना द्वारा विभाग की अभिव्यक्ति का उदाहरण:—]

(५) परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशाऽस्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥२२६॥

अर्थ—अरे! इस नायिका के शरीर को बरबस ही कोई विषम दशा बिगाड़ रही है, अतः अब क्या करें? पदार्थों की ओर से उसकी रुचि हट रही है, उसकी बुद्धि लुप्त हो रही है, वह सर्वत्र चूक कर रही है और उसकी अवस्था भी पलटा खा रही है।

अत्र रतिपरिहारादीनामनुभावानां करुणादावपि सम्भवात्कामिनी-रूपो विभावो यत्नतः प्रतिपाद्यः।

यहाँ पर 'रति परिहार' आदि अनुभावों के करुणरस आदि के प्रकरण में भी होने से कामिनी रूप विभाव की प्रतीति कठिनाई से होती है।

[प्रकरण प्राप्त रस से विपरीत रस का उपादानरूप दोष प्रदर्शक उदाहरण:—]

(६) प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं सत्यज रुषं
प्रिये शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः ॥२२७॥

अर्थ—[कोई नायक अपनी मानवती नायिका को मनाता हुआ कहता है—] हे प्यारी! अनुग्रह करो, प्रसन्न हो जाओ, क्रोध छोड़ो, मेरे सूखते हुए अङ्गों को अपने वचन रूप अमृत द्वारा सींचो, आनन्द के निधान अपने मुख को क्षणभर के लिए मेरी ओर फेर दो, क्योंकि हे सुन्दरि! हाथ से निकला हुआ कालरूप मृग फिर लौटकर नहीं आ सकता।

अत्र शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यताप्रकाशनरूपो विभावस्त-त्प्रकाशितो निर्वेदश्च व्यभिचारी उपात्तः।

यहाँ पर शृङ्गाररस के प्रतिकूल शान्तरस का विभाव समय की अनित्यता को प्रकट करता है और निर्वेदरूप व्यभिचारी भाव भी सूचित होता है—यही दोष है।

[प्रतिकूल अनुभाव के ग्रहण का उदाहरण :—]

णिहुअरमणम्मि लोअणपहम्मि पडिए गुरुअणमज्झम्मि।
सअलपरिहारहिअआ वणगमणं एव्व महइ वहू ॥२२८॥

[छाया—निभृतरमणे लोचनपथे पतिते गुरुजनमध्ये।
सकलपरिहारहृदया वनगमनमेवेच्छति वधूः ॥]

अर्थ—जब गुरुजनों के बीच में वधू का जार पति दृष्टिगोचर हुआ तब वह घर के सब काम-धन्धों को छोड़ केवल वन की ओर जाना पसन्द करती है।

अत्र सकलपरिहारवनगमने शान्तानुभावौ। इन्धनाद्यानयनव्याजेनो-पभोगार्थं वनगमनं चेन्न दोषः।

यहाँ पर सब कुछ छोड़कर वनगमन करना शान्तरस का अनुभाव है। यदि इन्धन आदि लाने के बहाने से उपभोग के लिये वनगमन की इच्छा उत्पन्न हुई हो तो कोई दोष नहीं है।

(८) दीप्तिः पुनः पुनर्यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे।

धिरूढे वीररसे 'कङ्कणमोचनाय गच्छामि' इति राघवस्योक्तौ ।

अनवसर के विराम का उदाहरण :—भवभूति रचित महावीर चरित के द्वितीय अङ्क मे श्री रामचन्द्र जी और परशुराम के वीर रस मे प्रवृत्त होने पर श्रीरामचन्द्र जी की यह उक्ति कि 'अब मै कङ्कण छोड़ने जाता हूँ' इत्यादि ।

(१०) अङ्गस्याप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनम् । यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य ।

अङ्ग अर्थात् अप्रधान विषय के अतिविस्तारपूर्वक वर्णन का उदाहरण :—हयग्रीव वध नामक काव्य मे हयग्रीव नामक दैत्य का (जो काव्य का नायक नहीं है) सविस्तार वर्णन ।

(११) अङ्गिनोऽननुसंधानम् । यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः ।

अङ्गी (प्रमुख पात्र) के अननुसन्धान का उदाहरण :—रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अङ्क मे बाभ्रव्य नामक दूत के आगमन पर राजा का सागरिका रत्नावली) को भूल जाना ।

(१२) प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च, वीररौद्रश्रृङ्गारशान्तरसप्रधाना धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललितधीरप्रशान्ताः, उत्तमाधममध्यमाश्च । तत्र रतिहासशोकाद्भुतानि अदिव्योत्तमप्रकृतिवत् दिव्येष्वपि । किन्तु रतिः सम्भोगश्रृङ्गाररूपा उत्तमदेवता विषया न वर्णनीया । तद्वर्णनं हि पित्रोः सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम् ।

प्रकृति अर्थात् नायक तीन प्रकार के होते हैं । दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य । जिनके वर्णन मे प्रधानतया वीर, रौद्र, शृङ्गार और शान्तरस गृहीत होते हैं । वे भी धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत तथा उत्तम मध्यम और अधम भेद विशिष्ट होते हैं । इनमे से रति, हास, शोक और अद्भुत ये भाव अदिव्य उत्तम पात्र के सदृश दिव्य उत्तम पात्रों में भी होते हैं; किन्तु सम्भोग शृङ्गार रूपा रति उत्तम देवता के विषय में कभी भी वर्णन योग्य नहीं मानी जाती । उसका

वर्णन माता-पिता के सम्भोग वर्णन के समान अत्यन्त अनुचित माना जाता है।

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥३२१॥

अर्थ—हे स्वामिन्! क्रोध को रोकिये! रोकिये! देवताओं के ऐसे वचन जब तक आकाश में फैले, तब तक महादेव जी के नेत्र से निकली हुई आग ने कामदेव को राख का ढेर बना दिया।

इत्युक्तवद् भ्रुकुट्यादिविकारवर्जितःक्रोधःसद्यःफलदःस्वर्गपातालगगनसमुद्रोल्लङ्घनाद्युत्साहश्च दिव्येष्वेव। अदिव्येषु तु यावदवदानं प्रसिद्धमुचितं वा तावदेवोपनिबद्धव्यम्। अधिकं तु निबध्यमानमसत्यप्रतिभासेन 'नायकवद्वर्तितव्यम् न प्रतिनायकवत्' इत्युपदेशे न पर्यवस्येत्। दिव्यादिव्येषु उभयथापि। एवमुक्तस्यौचित्यस्य दिव्यादीनामिव धीरोदात्तादीनामप्यन्यथावर्णनं विपर्ययः। तत्रभवन् भगवन्नित्युत्तमेन न अधमेन मुनिप्रभृतौ न राजादौ भट्टारकेति नोत्तमेन राजादौ प्रकृतिविपर्ययापत्तेर्वाच्यम्। एवं देशकालवयोजात्यादीनां वेषव्यवहारादिकमुचितमेवोपनिबद्धव्यम्।

द्वारा मुनि आदि के लिये उपयुक्त हों, राजा आदि के नहीं। उत्तम पात्र द्वारा भट्टारक आदि शब्द राजा आदि के व्यवहृत न हों, नहीं तो प्रकृति विपर्यय की बाधा आ पड़ेगी। इसी प्रकार देश, काल, अवस्था और जाति आदि का तथा वेश और व्यवहार आदि का जहाँ पर जैसा वर्णन नियमानुकूल हो, किया जाना चाहिये।

(१३) अनङ्गस्य रसानुपकारकस्य वर्णनम्। यथा कर्पूरमञ्जर्यां नायिकया स्वात्मना च कृतं वसन्तवर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य राज्ञा प्रशंसनम्।

जो अनङ्ग अर्थात् प्रकृतरस का उपकारक (पोषक) न हो उसका भी वर्णन करना एक दोष है। जैसे कर्पूरमञ्जरी नामक सट्टक में नायिका द्वारा कथित वा स्वयं कथित वसन्त ऋतु वर्णन का अनादर करके बन्दी द्वारा कथित वसन्त ऋतु के वर्णन का राजा द्वारा प्रशंसित किया जाना।

'ईदृशाः' इति। नायिकापादप्रहारादिना नायककोपादिवर्णनम्। उक्तं हि ध्वनिकृता। 'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्। औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥' इति।

मूल कारिका में ("रसे दोषाः स्युरीदृशाः") जो 'ईदृशाः' (इस प्रकार के) ऐसा शब्द कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि नायिका के पाद प्रहार करने पर नायक के क्रोध आदि का वर्णन अनुचित है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा भी है कि—अनुचित वर्णन को छोड़ कर रसभङ्ग का अन्य कोई कारण ही नहीं है और जो काव्य रचना उचित रीति से की गई है वही रस का बड़ा ज्ञान भण्डार रूप रहस्य है।

इदानीं क्वचिददोषा अप्येते इत्युच्यन्ते।

अब ऊपर कहे गये दोष कहीं-कहीं पर दूषण रूप से नहीं भी माने जाते—इस बात का निरूपण करते हैं।

(सू० ८३) न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः क्वचित्।

अर्थ— कहीं-कहीं पर सञ्चारी (व्यभिचारी भाव) का स्व शब्द द्वारा कथन भी दोषावह नहीं होता। जैसे निम्नलिखित उदाहरण में।

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥३३०॥

अर्थ—नूतन समागम के अवसर पर उत्कण्ठा के कारण शीघ्रता करती हुई, पर स्वाभाविक लज्जा से फिर पीछे हटती हुई बन्धु की वहुओं (भौजाइयों) के वचन द्वारा फिर से निकट पहुँचाई गई तथा वर को देखते ही डर से काँपती हुई पार्वती जी को हँसते हुए महादेव जी ने झटपट आलिङ्गित कर लिया—ऐसी अवस्था में जिनका शरीर पुलकित हो गया वे पार्वती जी तुम लोगों का कल्याण करें।

अत्रौत्सुक्यशब्द इव तदनुभावो न तथा प्रतीतिकृत्। अतएव 'दूरादुत्सुकम्' इत्यादौ व्रीडाप्रेमाद्यनुभावानां विवलितत्वादीनामिवोत्सुकत्वानुभावस्य सहसा प्रसरणादिरूपस्य तथाप्रतिपत्तिकारित्वाभावादुत्सुकमिति कृतम्।

यहाँ पर औत्सुक्य शब्द के समान उसका अनुभाव वैसी प्रतीति नहीं उत्पन्न कराता, अतएव 'दूरादुत्सुक' इत्यादि प्रतीकवाले श्लोकों के उदाहरणों में लज्जा, प्रेम आदि अनुभावों का विवलितत्वादि के समान सहसा प्रसरण आदि रूप औत्सुक्यानुभाव की उस प्रकार से सिद्धि न होने के कारण 'उत्सुकं' ऐसा स्वशब्दोपादानयुक्त भाव कथन किया गया है।

[प्रतिकूल विभावादि के ग्रहण की निर्दोषिता को दिखलाते हुए कहते हैं कि—]

(सू० ८४) सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ॥६३॥

अर्थ—सञ्चारी भाव आदि के विरुद्ध रसों की उक्ति यदि बाध्यता (विनष्ट होने) की रीति से कही जाय तो वह गुणजनक होती है।

बाध्यत्वेनोक्तिर्न परमदोषः यावत्प्रकृतरसपरिपोषकृत् । यथा

बाध्यता की रीति से कथन न केवल निर्दोषमात्र है; किन्तु भूषण-स्वरूप गुण भी है, क्योंकि वह प्रकरणानुकूल रस के वर्णन की परिपोषक भी होती है। उदाहरण:—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥३३१॥

(इस श्लोक का अर्थ चतुर्थ उल्लास में लिखा जा चुका है देखिये पृष्ठ ६१)।

अत्र वितर्कादिषु उद्गतेष्वपि चिन्तायामेव विश्रान्तिरिति प्रकृतरस-परिपोषः।

यहाँ पर वितर्क आदि सञ्चारी भावों के प्रकट होने पर भी चिन्ता-रूप सञ्चारी भाव में समाप्ति होने के कारण प्रस्तुत रस का परिपोषण होता है।

पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः ॥३३२॥

अर्थ—हे सखि! तुम्हारा पीला और सूखा मुख, सानुराग मन, आलस्य से मन्द शरीर, हृदय के भीतर किसी कष्टसाध्य रोग का पता देते हैं।

इत्यादौ साधारणत्वं पाण्डुतादीनामिति न विरुद्धम् ।

यहाँ पर पाण्डुता आदि गुण, करुण तथा विप्रलम्भ श्रृङ्गार दोनों रसों के वर्णन में साधारण गिने जाते हैं अतएव किसी एक (करुण) या दूसरे (विप्रलम्भ श्रृङ्गार) के परस्पर बाधक नहीं हैं।

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यः रम्या विभूतयः ।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥३३३॥

अर्थ—यह बात तो सच है कि स्त्रियाँ बड़ी मनोहारिणी होती हैं

और संसार की सम्पत्तियाँ भी बहुत मन लुभानेवाली होती हैं ; परन्तु मनुष्य जीवन तो मतवाली स्त्रियों के कटाक्ष के समान अस्थिर है।

इत्यत्राद्यमर्धं बाध्यत्वेनैवोक्तम् । जीवितादपि अधिकमपाङ्गभङ्गस्यास्थिरत्वमिति प्रसिद्धभङ्गुरोपमानतयोपात्तं शान्तमेव पुष्णाति न पुनः शृङ्गारस्यात्र प्रतीतिस्तदङ्गाप्रतिपत्तेः । न तु विनेयोन्मुखीकरणमत्र परिहारः, शान्त शृङ्गारयोर्नैरन्तर्यस्याभावात् । नापि काव्यशोभाकरणम् रसान्तरादनुप्रासमात्राद्वा तथाभावात् ।

ऊपर के उदाहरणों मे जो बात श्लोक के पूर्वार्द्ध में कही गई है उसी का खण्डन उत्तरार्द्ध में किया गया है। मनुष्य जीवन की अस्थिरता की अपेक्षा युवती कटाक्षों की अस्थिरता और भी अधिक है। अतः प्रसिद्ध क्षणभङ्गी पदार्थ की उपमान बनाने से शान्त रस का पोषण ही होता है। यहाँ पर शृङ्गार रस की तो प्रतीति ही नहीं है; क्योंकि उसके विभावादि अङ्गों का कथन भी नहीं किया गया है। यहाँ पर यह भी उत्तर देना ठीक नहीं है कि शिष्यों को निज सिद्धान्त की ओर प्रवण करने के लिये ऐसा कहा गया है, क्योंकि शान्त और शृङ्गार रस निरन्तर (विना व्यवधान के) नहीं रह सकते। इन दोनों का परस्पर एक दूसरे से विरोध है। इन्हें काव्यशोभा का वर्द्धक भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि शृङ्गार से भिन्न—तद्विरोधी शान्त रस द्वारा अथवा केवल अनुप्रास नामक अलङ्कार ही से यहाँ पर काव्यगत शोभा की वृद्धि प्रतीत होती है।

(सू० ८५) आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः ।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ॥६४॥

अर्थ—आश्रय (आधार) के एक होने पर जो रस परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध पड़ते हों उनके संश्रय (आधार) को भिन्न कर देना चाहिये। और जो एक दूसरे के विरोधी रस आगे पीछे हों तो उनके बीच में किसी और रस का समावेश कर देना चाहिये। (तो विरोध दोष का परिहार हो जायगा)।

वीरभयानकयोरेकाश्रयत्वेन विरोध इति प्रतिपक्षगतत्वेन भयानको निवेशयितव्यः। शान्तश्रृङ्गारयोस्तु नैरन्तर्येण विरोध इति रसान्तरमन्तरे कार्यम्। यथा नागानन्दे शान्तस्य जीमूतवाहनस्य 'अहो गीतम् अहो वादित्रम्"—इत्यद्भुतमन्तर्निवेश्य मलयवती प्रति श्रृङ्गारो निबद्धः।

वीर तथा भयानक रस का एक ही आश्रय रखकर वर्णन करने मे विरोध पड़ता है अतएव प्रकृत राजा के विषय में वीर रस और उसके शत्रुओं के सम्बन्ध में भयानक रस का वर्णन करके आलम्बन रूप आधार का भेद कर देना चाहिये। शान्त तथा श्रृङ्गार रसों के अव्यवहित रहने में विरोध होगा। अत. बीच मे किसी अन्य रस को व्यवधानार्थ डाल देना उचित है। जैसे नागानन्द नाटक में शान्तरस प्रधान नायक जीमूतवाहन का मलयवती नायिका के साथ श्रृङ्गार का वर्णन करते समय बीच मे अद्भुत रस का सन्निवेश करके व्यवधान कर दिया गया है।

न परं प्रबन्धे यावदेकस्मिन्नपि वाक्ये रसान्तरव्यवधिना विरोधो निवर्तते।

न केवल बड़े-बड़े प्रबन्धों ही मे, किन्तु एक वाक्य मे भी भिन्न-भिन्न रसों का व्यवधान कर देने से रसों के परस्पर का विरोध मिट जाता है। उदाहरणः।

भूरेणुदिग्धान् नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः॥२२३॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान्।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलै.॥२२४॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम्।
निर्दिश्यमानान् ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन्॥२२५॥

उस समय विमान के पर्यंक पर बैठे हुए वीरों ने, जिनके बाहु के मध्य भाग नवीन हरसिंगार के फूलों की माला से झड़े हुए पराग की सुगन्धि से सुवासित थे, विशाल वक्षस्थल देवाङ्गनाओं से आलिङ्गित थे,

तथा जिन्हें चन्दन के रस से सिक्त तथा कल्पलता के सुगन्धित व्यजन (पंखे) से हवा की जा रही थी, कौतुक में भरकर सुन्दरी स्त्रियों से अंगुलीनिर्देश द्वारा दिखाये गये, रणभूमि मे कटकर गिरे हुए अपने-अपने शरीरों को, जो पृथ्वीतल की धूल से धूसरित थे, जिन्हे रक्तरंजित मांसाहारी पक्षियों के हिलनेवाले पंखों से हवा की जा रही थी, तथा जो शृगालियों द्वारा कसकर पकड़े गये थे, देखा।

अत्र वीभत्सश्रृङ्गारयोरन्तर्वीररसो निवेशितः।

यहाँ पर वीभत्स और शृङ्गार रसों के बीच में वीररस का संनिवेश कर दिया गया है।

(सू० ८६) स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥६५॥

अर्थ—जहाँ पर एक दूसरे का विरोधी रस स्मरण किया जाय वहाँ चाहे समतापूर्वक वर्णन किया जाय या एक रस दूसरे विरोधी रस का अङ्गी बना दिया जाय तो ऐसे दो विरोधी रसो का परस्पर सम्मिलन दोषावह नहीं होता। जैसे :—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥२३६॥

(इस श्लोक का अर्थ पञ्चम उल्लास मे लिखा जा चुका है। देखिये पृष्ठ १२७,)

एतद् भूरिश्रवसः समरभुवि पतितं हस्तमालोक्य तद्वधूरभिदधौ। अत्र पूर्वावस्थास्मरणं श्रृङ्गाराङ्गमपि करुणं परिपोषयति।

रणभूमि में कटकर गिरी हुई राजा भूरिश्रवा की भुजा को देखकर उसकी स्त्रियो ने ये वचन कहे थे। अतः पूर्व अवस्था का स्मरणरूप शृङ्गार करुणरस का अङ्ग होने पर भी उसका परिपोषक बन गया है।

[समतापूर्वक वर्णन किये गये रसों के अविरोध का उदाहरण—]

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलकैर्भवतः शरीरे।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥२३७॥

अर्थ—हे जिन ! प्रकट घने रोमाञ्च से व्याप्त आपके शरीर में सिंहनी ने जो रक्तलाभ की इच्छा से घाव किये और नखों से विदीर्ण किया उस कार्य को मुनिजनों ने भी उत्कट लालसा से भर कर देखा।

अत्र कामुकस्य दन्तक्षतादीनि यथा चमत्कारकारीणि तथा जिनस्य। यथा वा परः श्रृङ्गारी तदवलोकनात्सस्पृहस्तद्वद् एतद्द्रशो मुनय इति साम्यविवक्षा।

यहाँ ऐसी समता वर्णित की गई है कि जैसे कामी पुरुष के शरीर में ललना द्वारा दन्त नखक्षत आदि चमत्कारजनक होते हैं वैसे ही जिन (बुद्ध) के शरीर में भी ये चिह्न चमत्कारजनक हैं। अथवा जैसे कोई श्रृङ्गारी पुरुष उन दन्तक्षतादि को देखकर साभिलाष हो जाता है वैसे ही इस व्यापार के दर्शक मुनिगण भी लालसायुक्त हुए। यह भी एक साम्यविवक्षा (समता कथन की इच्छा) है।

[परस्पर अङ्गाङ्गिभाव को प्राप्त विरोधी रस भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो वह जहाँ पर समान भाव से दोनों रस किसी तीसरे रस के अङ्ग बन गये हों, दूसरा वह जहाँ दोनों रसों मे से कोई एक किसी दूसरे का अङ्ग बन गया हो। इनमें से प्रथम का उदाहरणः—]

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव गलद्वाष्पाम्बुधौताननाः।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वच्छत्रुनार्योऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव ॥३२८॥

अर्थ—हे राजन्! अब आपके शत्रुओं की स्त्रियाँ मारे डर के अपने पति के हाथ मे अपने हाथ को डाले हुए दावानल के चारों ओर इस प्रकार चक्कर काट रही हैं, मानो पुनर्विवाह के लिये उद्यत हों। कुश से भरे प्रदेशों मे चलते-चलते उनके सुकुमार चरणों की अँगुलियों में घाव होने से जो रक्त बह चला है वही मानों उनके पैरों को महावर से रँग देता है और आँखों से निकलती हुई अश्रुधारा द्वारा उनका मुख भी धो दिया गया है। [विवाहकाल में भी स्त्रियों के

पाँव महावर से रँगे जाते हैं और हवन के धूम द्वारा नेत्रों से आँसू बहने के कारण मुख भी जल से भीगे रहते हैं।]

अत्र चाटुके राजविषया रतिः प्रतीयते। तत्र करुण इव शृङ्गारोऽप्यङ्गमिति तयोर्न विरोधः। यथा

यहाँ पर किसी चाटुकारी पुरुष की राजा में भक्ति वर्णित की गयी है। अतः करुण रस की भाँति (समकक्षस्थ) शृङ्गार रस भी राजविषयक रति भाव का अङ्ग बन गया है, अतएव विरोध नहीं है। [जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण में :—]

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥२३९॥

अर्थ—आओ, जाओ, बैठो, बोलो, चुप रहो आदि आदि आज्ञा द्वारा धनवान् लोग आशारूप ग्रह से ग्रस्त याचकों को अपना क्रीड़ा-पात्र बनाते रहते हैं।

इत्यत्र एहीति क्रीडन्ति गच्छेति क्रीडन्तीति क्रीडनापेक्षयोरागमन-गमनयोर्न विरोधः।

यहाँ पर आओ, ऐसा कहकर खेलते (विनोद करते) और जाओ ऐसा कहकर भी खेलते हैं। इस प्रकार से खेलने के सम्बन्ध में पड़ जाने के कारण आओ, जाओ इत्यादि परस्पर विरुद्ध क्रियाओं का विरोधभाव ग्रहण नहीं किया जाता।

[जहाँ पर दो विरोधी रसों में से एक दूसरे का अङ्ग बन गया हो वहाँ पर दोनों के परस्पर अविरोध का उदाहरण :—]

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शांभवो वः शराग्निः ॥२४०॥

अर्थ—त्रिपुरासुर के दहनकाल में महादेव जी के बाण से निकला हुआ वह प्रचण्ड अनल तुम्हारे पापों को भस्म करे, जो तत्काल अप-

राध करने वाले कामी की भाँति आँखों मे आँसू भरे त्रिपुरासुर की स्त्रियों द्वारा देखा गया, हाथ मे लगते ही झटक दिया गया, वस्त्रप्रान्त धरते समय बरबस फटकारा गया, बालों को छूते ही टाल दिया गया, पाँवों पर पतित होने पर भी घबड़ाहट के कारण ध्यान से नहीं देखा गया और शरीरालिङ्गन के समय भी अनादरपूर्वक झिझकारा गया था।

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य करुणोऽङ्गम् तस्य तु श्रृङ्गारः तथापि न करुणे विश्रान्तिरिति तस्याङ्गतैव। अथवा प्राक् यथा कामुक आचरति स्म तथा शराग्निरिति श्रृङ्गारपोषितेन करुणेन मुख्य एवार्थ उपोद्बल्यते।

यहाँ पर त्रिपुरारि महादेव जी के प्रभावातिशय के वर्णन रूप भक्तिभाव का अङ्ग करुणरस बन गया है और उस करुणरस का अङ्ग श्रृङ्गार है, फिर भी करुणरस में वर्णन का विश्राम न होने से उस करुणरस को महादेव विषयक) रति-भाव को अङ्गता प्राप्त है। अथवा कामी जैसे पूर्व मे आचरण करता है शराग्नि (बाणानल) का भी वैसा ही आचरण है। इस रीति से श्रृङ्गाररस द्वारा पुष्ट करुणरस से ही मुख्य अर्थ उत्कर्ष को पहुँचाया जाता है।

उक्तं हि—

इस विषय में कहा भी गया है कि :—

'गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते॥' इति।

अर्थ—अन्य द्वारा जिसकी परिपुष्टि कराई गई है—ऐसा गुण (अङ्ग विशेषण या अप्रधान) किसी प्रधान अङ्गी को प्राप्त होता है तथा इस आत्मसंस्कार (परिपोषण) द्वारा वह गुण प्रधान रस का बड़ा उपकार करता रहता है।

प्राक् प्रतिपादितस्य रसस्य रसान्तरेण न विरोधः नाप्यङ्गाङ्गिभावो भवति इति रस शब्देनात्र स्थायिभाव उपलक्ष्यते।

ऊपर चतुर्थ उल्लास मे जिस रस का वर्णन कर आये हैं कि वह 'वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य' (अपने ज्ञानावस्थान के समय में किसी अन्य

ज्ञान का लेशमात्र नहीं रखनेवाला, होता है उस रस का न तो किसी और रस के साथ विरोध हो सकता है और न परस्पर दो का अङ्गाङ्गिभाव ही बन सकता है; अतएव जिस रस के सम्बन्ध में जिस रस के परस्पर विरोध या अङ्गाङ्गिभाव की चर्चा यहाँ सप्तम उल्लास में की गई है, उस रस शब्द से स्थायी भावों का ही तात्पर्य समझना चाहिये।

अष्टम उल्लास

एव दोषानुक्त्वा गुणालंकारविवेकमाह

इस प्रकार सप्तम उल्लास में दोषों का निरूपण करके आगे गुणों और अलङ्कारों का विवेक (विभागरूप से कथन वा निर्णय) किया जाता है।

(सू० ८७) ये रसस्याङ्गिनोधर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥६६॥

अर्थ—मनुष्य के शरीर में प्रधान आत्मा के जैसे शूरता आदि गुण होते हैं वैसे ही काव्य में प्रधान रस के उत्कर्ष वा बड़प्पन देने वाले जो धर्म हैं वे ही गुण कहलाते हैं और इनकी स्थिति अचल वा नियत (अवश्य उपस्थित) रहती है।

[तात्पर्य यह है कि गुण रस आदि के साथ ही रहते हैं जहाँ पर रस आदि नही रहते वहाँ पर गुण भी नहीं रहते और गुण (जब रहते है तब) प्रधान रस का उत्कर्ष (उपकार) भी अवश्य करते हैं। निदान गुण उन्हें कहते हैं जो रस की शोभा बढ़ानेवाले होते हैं। वे बिना रस के रहते भी नहीं और रहते हैं तो अवश्य रस के उपकारक होते हैं।

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्। क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात्, 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादेर्व्यवहारादन्यत्राशूरेऽपि विततकृतित्वमात्रेण 'शूरः' इति क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूरः' इति अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्यवहरन्ति तद्वन्मधुरादिव्यञ्जकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादिव्यवहारप्रवृत्तेरमधुरादिरसाङ्गानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादि मधुरादिरसोपकरणानां तेषामसौकुमार्यादेरमाधुर्यादि रसपर्यन्तप्रतीति वन्ध्या व्यवहरन्ति। अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यंज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः। यथैषा व्यञ्जकत्वं तथोदाहरिष्यते।

जैसे शूरता आदि गुण आत्मा ही के होते हैं न कि शरीर के आकार (स्वरूप) के वैसे ही माधुर्य, ओज और प्रसाद ये गुण रस के ही होते हैं न कि वर्णों के। कहीं-कहीं शूरता आदि गुणों के योग्य शरीर के आकार आदि का बड़प्पन देख 'इसका आकार ही शूर है' ऐसा कहकर केवल डील-डौल मे बड़े किसी अशूर (कातर) मनुष्य को भी लोग शूर कह बैठते हैं। अथवा किसी शूर पुरुष को भी डीलडौल में छोटा देखकर 'यह शूर नहीं है' ऐसा भी कह देते हैं और निरन्तरउसी प्रतीति के अनुसार व्यवहार भी करते हैं; वैसे ही मधुर आदि गुणों के व्यञ्जक (प्रकाशक) कोमल वर्णों ही के द्वारा मधुर आदि गुणों का व्यवहार और रस के अङ्गीभूत अमधुरादि गुणों में केवल वर्णों की कोमलता से माधुर्यादि शब्दों का व्यवहार और मधुरादि रसों के प्रकाशक वर्णों के कोमल न होने से उनके मधुर न होने आदि का व्यवहार रस की मर्यादा को ग्रहण करानेवाले ज्ञान से शून्य रहकर उपयोग मे लाते हैं। तात्पर्य यह है कि माधुर्य आदि धर्म रस ही के होते हैं और वे यथोचित वर्णों द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं न कि केवल वर्णों ही के आश्रित (वर्णों की कोमलता वा कठोरता के अधीन) रहते हैं। जिस प्रकार इन वर्णों की व्यञ्जकता (प्रकटन शक्ति) होती है उसका उदाहरण आगे यथास्थान दिया जायगा।

[अब गुणों से अलङ्कारों को भिन्न बतलाने के लिये कहते हैं—]

(सू० ८८) उपकुर्वन्ति तं सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥६७॥

अर्थ—जो धर्म अङ्गो (शब्द और अर्थ इन दोनों में से किसी एक वा दोनों) के द्वारा कभी कभी (न कि सर्वदा) उपस्थित रहनेवाले (प्रधान) रस का उपकार करते हैं वे धर्म, हार आदि के समान (शरीर की शोभा बढ़ानेवाले) अलङ्कार कहलाते हैं तथा अनुप्रास, उपमा आदि उनके भेद होते हैं।

ये वाचकवाच्यलक्षणाङ्गातिशयसुखेन मुख्यं रसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति

ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालङ्काराः। यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः। क्वचित्तु सन्तमपि नोप कुर्वन्ति। यथाक्रममुदाहरणानि।

जो धर्म वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) रूप (रस के) अप्रधान भागों की अतिशयता (बढती) द्वारा उपस्थित रहनेवाले प्रधान रस का उपकार करते हैं वे कण्ठ आदि अङ्गों की शोभा बढ़ाकर जैसे आभूषण शरीरधारी का भी उपकार करते हैं, वैसे हार आदि की भाँति अलङ्कार कहे जाते हैं। ये अलङ्कार रूप धर्म उस स्थान पर जहाँ कि रस नहीं होता केवल उक्ति का चमत्कार दिखलाकर रह जाते हैं। कहीं-कहीं तो ये अलङ्कार रूप धर्म उपस्थित रहते हुए भी रस का उपकार नहीं करते। क्रमशः उदाहरण लिखे जाते हैं—

[शब्दों द्वारा रस के उपकारक अलङ्कार का उदाहरणः—]

अपसारय घनसारं कुरु हार दूर एव किं कमलै।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिश बाला ॥३४१॥

अर्थ—वह बाला सदा रात-दिन यही रट लगाये रहती है कि हे सखि! कपूर को हटा ले जाओ! हार को दूर करो! कमलों का क्या प्रयोजन है? बस, बस, कमल के नालों से भी कुछ लाभ नहीं होगा!

इत्यादौ वाचकमुखेन।

इत्यादि श्लोकों में वाचक शब्दों द्वारा कोमल शब्द (रेफ) विशिष्ट अनुप्रास नामक शब्दालङ्कार विप्रलम्भ शृङ्गार रस का उपकार करता है।

[अर्थ द्वारा रसोपकारक अलङ्कार का उदाहरण :—]

मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतम्
प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विधुतः पावक इव।
हिनस्ति प्रत्यङ्गं ज्वर इव गरीयानित इतो
न मां त्रातुं तातः प्रभवति न चाम्बा न भवती ॥३४२॥

अर्थ—[मालतीमाधव प्रकरण के द्वितीय अंक में माधव में अनु-

रक्त मालती नायिका लवंगिका नामक अपनी सखी से कह रही है—]
चित्त का गाढ़ा प्रेम, तीक्ष्ण विष की भाँति निरन्तर शरीर में व्याप्त हो रहा है। यह बड़ा पीड़ादायक है और विना धुएँ की आग-सा धधक रहा है, अत्यन्त कठिन सन्निपात ज्वर के समान प्रत्येक अङ्ग में पीड़ा उत्पन्न कर रहा है। मुझे इस पीडा से बचाने मे न तो मेरी माता, न मेरे पिता और न आप ही समर्थ हैं।

इत्यादौ वाच्यमुखेनालङ्कारौ रसमुपकुरुतः।

इत्यादि श्लोकों मे वाच्य अर्थ द्वारा मालोपमा अलङ्कार विप्रलम्भ शृङ्गार रस का पोषण करता है, (अतः उक्त दोनों उदाहरणों मे वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) द्वारा अलङ्कार रस के उपकारक हैं।)

[रस की उपस्थिति मे भी उसके अनुपकारी शब्दालङ्कार का उदाहरणः—]

चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि सा गुणेसुं सेज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिम्मुहेसु।
बोलम्मि वट्टदिपवट्टदिकव्वबन्धेमाणेणटुट्टदिचिरंतरुणीतरट्टी॥३४३॥

[छाया—चित्तेविघटतेनत्रुट्यतिसागुणेषुशय्यासुलुठतिविसर्पति दिङ्मुखेषु
वचने वर्तते प्रवर्तते काव्यबन्धे ध्यानेनत्रुट्यतिचिरंतरुणी प्रगल्भा॥

अर्थ—वह चतुर तरुणी नायिका मन में धँस जाती है, गुणों में अनल्प है, सेज पर करवटे लेती है (सोती नहीं), सब ओर उठकर घूमती है, न जाने क्या-क्या बकती है, काव्य-रचना का भी प्रयत्न करती है और चिरकाल तक एक ही बात पर ध्यान लगाये रहने से दुबली होती जा रही है।

इत्यादौ वाचकमेव।

इत्यादि श्लोकों म (टवर्ग विशिष्ट) अनुप्रास नामक शब्दालङ्कार केवल शब्दों का उपकारक है न कि विद्यमान विप्रलम्भ शृङ्गार रस का।

[रस की उपस्थिति मे भी तदनुपकारक अर्थालङ्कार का उदाहरण:—]

मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने बद्धावने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासन्नं पुरः सारसम्।
चक्राह्वेन वियोगिना बिसलता नास्वादिता नोज्झिता
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ॥३४४॥

अर्थ—सन्ध्याकाल उपस्थित होने पर जब सूर्य-सा मित्र कहीं चला गया (अस्त हो गया) और कमलवन भी मुख बन्द करके चुप्पी साध गये, भौंरे गुञ्जार करने लगे तथा सारस को अपनी प्रिया के समीप उपस्थित भी देख लिया तब विरही चक्रवाक ने कमल के डण्ठल का न तो स्वाद लिया और न उसका परित्याग ही किया, किन्तु शरीर से निकलते हुए प्राणों को रोकने के लिये कण्ठ में केवल एक अर्गला (सिकड़ी) लगा ली।

इत्यादौ वाच्यमेव न तु रसम्। अत्र बिसलता न जीवं रोद्धुमेति अक्रतानुगुणोपमा।

इत्यादि श्लोकों में उपमा रूप अर्थालङ्कार केवल वाच्य अर्थ की शोभा बढाता है, न कि रस का उपकारक है। यहाँ पर बिसलता (कमल का नाल) प्राण रोधक है, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह उपमा विप्रलम्भ शृङ्गार के वर्णनानुकूल नहीं पड़ती। [विरही के लिये प्राणत्याग करना ही इष्ट है न कि उसका रोकना]

एष एव च गुणालङ्कारप्रविभागः। एवं च "समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेद', ओज.प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवेषां भेद." इत्यभिधानमसत्।

यही ऊपर कहा गया भेद ही गुणों और अलङ्कारों के भेद का प्रदर्शक है। इस प्रकार भट्टोद्भट आदि विद्वानों ने भामह की टीका में जो कहा है कि "लौकिक गुणों और अलङ्कारों में चाहे यह भेद हो कि शूरता आदि के समान जो समवाय सम्बन्ध (निरन्तर एक साथ रहनेवाले धर्म) से रहें वे तो गुण, और हार आदि की भाँति जो संयोग

सम्बन्ध से (अनियत रूप से, अर्थात् कभी हों कभी न हो) रहे वे अलङ्कार कहलावें, परन्तु अलौकिक काव्य आदि में तो ओज आदि गुणों का और अनुप्रास आदि अलंकारों का (अर्थात् गुण और अलङ्कार दोनों का) ही समवाय सम्बन्ध से स्थिति ज्ञान रहता है अतएव यह भेद विभाग (कि समवाय सम्बन्ध से जो रहे वह गुण और संयोग सम्बन्ध से जो रहे वह अलङ्कार) भेंडियाधसान मात्र के अनुसार है" ऐसा कहना ठीक नहीं।

यदप्युक्तम् "काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः" इति तदपि न युक्तम्। यतः किं समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहारः उत कतिपयैः। यदि समस्तैः तत्कथमसमस्तगुणा गौडी पाञ्चाली च रीतिः काव्यस्यात्मा।

फिर वामनाचार्य ने जो यह कहा है कि "काव्य की शोभा के विधायक जो धर्म हैं, वे गुण हैं और उन्हीं गुणों द्वारा विहित शोभा के जो और अधिक प्रखर करनेवाले धर्म हैं वे ही अलङ्कार हैं" सो वह भी ठीक नहीं जँचता; क्योंकि यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि काव्य व्यवहार के प्रवर्तक क्या सभी गुण हैं? अथवा उनमें से कुछ एक? यदि पूर्व पक्ष स्वीकार करके यह कहो कि एकत्र होने पर सभी गुण काव्य व्यवहार के प्रवर्तक हैं तो सभी गुणों को एकत्र न रखनेवाली गौडी और पाञ्चाली इन रीतियों को काव्य का आत्मा कैसे मान सकोगे? (जैसा कि सब स्वीकार करते हैं)।

अथ कतिपयैः ततः—

यदि पक्षान्तर को स्वीकार करके यह कहो कि कुछेक गुणों ही के द्वारा काव्यव्यवहार की प्रवृत्ति हो सकती है तो फिर—

अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः ॥३४४॥

अर्थ—इस पर्वत पर बड़े वेग से आग धधक रही है, और यह घना धुआँ सर्वत्र फैलता जा रहा है।

इत्यादावोजःप्रभृतिषु गुणेषु सत्सु काव्यव्यवहारप्राप्तिः।

इत्यादि उदाहरणों में 'ओज' गुण के उपस्थित रहने से इन्हें काव्य मान लेना पड़ेगा। और

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम् ॥३४६॥

अर्थ—यह सुवर्ण के समान रङ्गवाली और सुन्दरी नायिका इसी शरीर से स्वर्ग प्राप्ति के समान (सुखदायिनी) है। इसके ओठों के रस के आगे अमृत भी अत्यन्त अनादर के योग्य जॅचता है। (अर्थात् इस सुन्दरी का अधर रस अमृत की अपेक्षा भी अधिक स्वादिष्ट है।)

इत्यादौ विशेषोक्तिव्यतिरेकौ गुणनिरपेक्षौ काव्यव्यवहारस्य प्रवर्त्तकौ।

इत्यादि उदाहरणों में विशेषोक्ति और व्यतिरेक नामक दो अलङ्कार गुणों की कुछ भी अपेक्षा न रखते हुए भी काव्य नाम के प्रवर्तक कैसे स्वीकार किये जायँगे ?

[तात्पर्य यह है कि न तो केवल ओजोगुण विशिष्ट पदयोजना ही काव्य-व्यवहार का हेतु है और न गुणो से रहित केवल अलङ्कार ही काव्य से भिन्न (अकाव्य) के नाम से व्यवहृत हैं, किन्तु किसी एक गुण से विशिष्ट रचना को काव्य के नाम से पुकारने मे काव्य की परिभाषा की अतिव्याप्ति (सीमा के बाहर भी पहुँच) और अव्याप्ति (सब भागों में न पहुँचना) ये दोनों दोष सामने आकर उपस्थित होते हैं। निदान वामन का मत स्वीकार करने योग्य नहीं है; किन्तु जैसा कि गुण और अलङ्कार के विषय में ऊपर निरूपण कर आये हैं वही मत समीचीन है।]

इदानीं गुणानां भेदमाह—

अब गुणों के विभाग का निरूपण किया जाता है।

(सू० ८९) माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।

अर्थ—माधुर्य, ओज और प्रसाद—ये केवल तीन ही गुण हैं न कि दस (जैसा कि अन्य आचार्यों ने स्वीकार किया है)।

एषां क्रमेण लक्षणमाह—

अब क्रमशः इनके लक्षण बतलाये जाते हैं। [माधुर्य गुण का लक्षण:—]

(सू० ६०) आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥६८॥

अर्थ—माधुर्य उस गुण का नाम है, जो चित्त को प्रसन्न कर देता है और शृङ्गार रस मे चित्त को पानी-पानी कर देने का कारण होता है।

शृङ्गारे अर्थात् सम्भोगे। द्रुतिर्गलितत्वमिव। श्रव्यत्वं पुनरोजःप्रसादयोरपि।

यहाँ पर शृङ्गार शब्द से तात्पर्य सम्भोग शृङ्गार से है। द्रुति (पानी पानी होने) का अर्थ है गलित होना व पिघल जाना। सुनने योग्य तो ओजस् और प्रसाद नामक गुणों से विशिष्ट रचनाएँ भी (माधुर्य गुण विशिष्ट रचना के समान) होता हैं।

(सू० ६१) करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।

अर्थ—वह माधुर्य गुण करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्तरस के प्रकरण में चित्त को अत्यन्त विगलित कर देने के कारण प्रकृष्ट उत्कर्षयुक्त होता है।

अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वात्।

(हास्य आदि रसों के न रहने से) उक्त तीनों रसों मे माधुर्य अत्यन्त द्रुति (विगलित होने) का कारण होने से विशेषोत्कर्षयुक्त हो जाता है।

[ओजस् गुण का लक्षण:—]

(सू० ६२) दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥६९॥

अर्थ—चित्त को भड़का देने (उत्तेजित करने) वाले गुण का नाम ओजस् है और यह गुण वीररस के वर्णन मे रहता है।

चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तत्वजनकमोजः।

चित्त को फड़क उठने रूप भड़कानेवाले गुण का नाम ओजस् है।

(सू० ६३) बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।

अर्थ—क्रमशः बीभत्स और रौद्र रस में उस ओज गुण का उत्कर्ष बढ़ता चला जाता है।

वीराद्बीभत्से ततो रौद्रे सातिशयमोजः।

यह ओजस् नामक गुण वीर की अपेक्षा बीभत्स रस में और बीभत्स रस की अपेक्षा रौद्र रस मे अधिक प्रखर हो जाता है।

[प्रसाद गुण का लक्षण:—]

(सू० ९४) शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ॥७०॥
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।

अर्थ—जो सूखे हुए ईंधन में आग की भाँति, स्वच्छ वस्त्रादि में जल की भाँति तुरन्त मन मे व्याप्त हो जाता है (अर्थात् पढ़ने अथवा सुननेवाले के चित्त को शीघ्र व्याप्त कर लेता है) वह प्रसाद नामक गुण है, उसकी स्थिति सर्वत्र (सभी रसों और भावादिकों मे) रहती है।

अन्यदिति। व्याप्यमिह चित्तम्। सर्वत्रेति। सर्वेषु रसेषु सर्वासु रचनासु च।

यहाँ पर 'अन्यत्' का व्याप्यचित्त और 'सर्वत्र' का सभी रसों और सभी रचनाओं से तात्पर्य है।

(सू० ९५) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥७१॥

अर्थ—शब्दों और अर्थों के सम्बन्ध मे जो मधुर शब्द या मधुर अर्थ आदि गुणों का व्यवहार किया जाता है वह गौण वा अप्रधान रूप से माना जाता है।

गुणवृत्त्या उपचारेण। तेषां गुणानाम्। आकारे शौर्यस्येव।

मूल कारिका में जो 'गुणवृत्त्या' शब्द आया है उसका अर्थ है उपचार द्वारा (अर्थात् अपने व्यञ्जकादि सम्बन्ध लक्षण द्वारा) 'तेषां' शब्द का अर्थ है, उन गुणों का। जैसे लोग स्थूल शरीर को देखकर उपचार द्वारा आकार ही में शूरता की कल्पना करके व्यवहार करते हैं, वैसे ही वर्ण रचनादि में मधुरत्वादि का व्यवहार गौण रूप से होता है।

कुतस्त्रय एव न दश इत्याह—

यदि पूछो कि गुणों की गणना के सम्बन्ध मे केवल तीन ही क्यों कहा दस क्यों नहीं माने तो उसका उत्तर यह है—

(सू० ९६) केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥७२॥

अर्थ—अन्य आचार्यों के कहे हुए दस गुणों मे से कुछ तो हमारे निर्दिष्ट माधुर्य आदि गुणों ही के अन्तर्गत हैं और कुछ निर्दोष होने के कारण स्वीकृत हैं, कुछ और जो कहीं-कहीं पर दूषणयुक्त हो जाते हैं उनकी तो गणना ही नहीं, अतएव ये तीन ही गुण स्वीकार किये जाते हैं, दस नहीं।

[वामन आदि आचार्यों ने काव्यों के निम्नलिखित दस गुण गिनाये हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओजस्, कान्ति और समाधि। मम्मट भट्टजी के मत मे ये इन तीनों माधुर्य, ओजस् और प्रसाद नामक गुणों से भिन्न नही हैं; अतएव इन को छोड़ दस प्रकार के (शब्द) गुण उन्हे स्वीकृत नहीं हैं। इसके लिये निम्नलिखित युक्ति दी जाती है।]

बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा यः श्लेषः यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः या च विकटत्वलक्षणा उदारता यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यात्माप्रसादः तेषामोजस्यन्तर्भावः। पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यं भङ्ग्या साक्षादुपात्तम्। प्रसादेनार्थव्यक्तिर्गृहीता। मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोषः। तथा हि 'मातङ्गा किमु वल्गितैः' इत्यादौ सिंहाभिधाने मसृणमार्गत्यागो गुणः। कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात्तन्निराकरणेनापारुष्यरूपं सौकुमार्यम् औज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। एवं न दश शब्दगुणाः।

श्लेष वह गुण है जिसमे अनेक पद सन्धि की चतुराई से एक पद सरीखे भासित होते हैं। समाधि वह गुण है जहाँ वाक्य-रचना में क्रम से उतार-चढ़ाव रहता है (अर्थात् बारी-बारी से लम्बे समासों और कठोर वर्णों के पीछे समास रहित पद और कोमल वर्ण जिस रचना

में रखे जाते हैं)। विकटत्व (विलग-विलग रखने से पदों का प्रायः बारंबार लौट-लौट कर आना) रूप जो उदारता है, और ओजस् नामक गुण से युक्त शैथिल्य (उतार अथवा थोडे-थोड़े असमस्त पदों द्वारा वर्णन करते हुए जहाँ बीच-बीच में उत्तेजना उत्पन्न करनेवाले शब्द भी हों) स्वरूप जो प्रसाद है (मम्मट भट्ट जी) इन चारों की गणना ओजस् गुण में ही कर लेते हैं। जहाँ पर विलग-विलग पद रखे गये हों ऐसी दीर्घ समास विहीन रचना जो माधुर्य कही जाती है उसे तो समास रहित वाक्य रचना में माधुर्य स्वीकार करके साक्षात् एक पृथक् गुण ग्रहण किया ही है, प्रसाद नामक गुण मे अर्थव्यक्ति (कथनमात्र से अर्थबोध रूप गुण) का ग्रहण किया ही गया है। जिस रीति से वैदर्भी आदि रचना आरम्भ की गई है उसी को चालू रखना अर्थात् प्रारम्भ किये हुए मार्ग को न छोड़ना रूप जो समता गुण है वह कहीं-कहीं पर दोष रूप हो जाता है। जैसे कि 'मातङ्गाः किमु वल्गितैः' (यह श्लोक अर्थ सहित सप्तम उल्लास में लिखा जा चुका है देखिये पृ० २५४) इत्यादि श्लोक मे सिंह के विषय मे कथन करते समय कोमल वर्णविशिष्ट रचना का परित्याग ही गुण है (न कि अनुसरण रूप समता जो ऐसी दशा में दोष गिनी जायगी)। कष्टत्व और ग्राम्यत्व नामक दोषों के निवारण कर देने पर जो कठोर अक्षरो का अभाव रूप सुकुमारता नामक रचना है तथा औज्ज्वल्य स्वरूप (साधारण पदों से भिन्न चटकीले और भड़कानेवाले शब्दों की योजनारूप) रचना, जो कान्ति कहलाती हैं वे दोनों तो स्वीकृत ही हैं। इस प्रकार से जो शब्द गुणविशिष्ट दस प्रकार की रचना के विभाग किये गये वे व्यर्थ ही हैं (केवल तीन ही गुणों को स्वीकार कर लेने से शेष सातों को उन्हीं के अन्तर्गत मान लेने अथवा दूषण युक्त होने से परित्याग करने पर सभी स्थानों पर निर्वाह हो जाता है)।

[जिस प्रकार शब्दगुणविशिष्ट रचना के दस भेद मम्मट भट्ट जी को स्वीकार नहीं हैं उसी प्रकार वामन आदि आचार्यों ने जो अर्थ-

विशिष्ट रचनाओं के दस भेद निरूपित किये हैं वे भी उन्हें स्वीकार नहीं, उन[1] अर्थ गुणों के अस्वीकार की युक्ति निम्नलिखित है]

'पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा
प्रौढिर्व्यासममासौ च साभिप्रायत्वमस्य च ॥'

अर्थ—एक ही पद से जिनका अर्थ प्रकट हो सकता है उन भावों को कई एक पदों में बढाकर कहना, बहुतेरे पदों द्वारा जिनका अर्थ प्रकट हो सकता है उन्हे सन्क्षेप करके एक ही पद द्वारा कथन करना, विस्तार और संक्षेप रीति से कथन तथा अभिप्राय गर्भित विशेषण-विशिष्ट शब्दोवाली रचना को (पूर्वाचार्य) लोग प्रौढ़ि के नाम से पुकारते हैं ।

इति या प्रौढिः ओज इत्युक्तं तद्वैचित्र्यमात्रं न गुणः । तदभावेऽपि काव्यव्यवहारप्रवृत्तेः । अपुष्टार्थत्वाधिकपदत्वानवीकृतत्वासङ्गलरूपाश्लील-ग्राम्याणां निराकरणेन च साभिप्रायत्वरूपमोजः, अर्थवैमल्यात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यरूपं माधुर्यं, अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वरूपा उदारता च स्वीकृतानि । अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलङ्कारेण रसध्वनिगुणीभूत-व्यङ्ग्याभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृता । क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा श्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम् । अवैषम्यस्वरूपा समता दोषाभावमात्रं न पुनर्गुणः । कः खल्वनुन्मत्तोऽन्यस्य प्रस्तावेऽन्यदभिदध्यात् । अर्थस्यायो-नेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत् कथं काव्यम् इत्यर्थदृष्टिरूपः समाधिरपि न गुणः ।

इस प्रकार की प्रौढ़ि को ओजस् कहते हैं, यह तो केवल उक्ति का

---

[1] ध्यान रखना चाहिये कि शब्दगुणविशिष्ट तथा अर्थगुणविशिष्ट दसों रचनाओं के नाम तो एक ही से हैं, पर उनके विषय वा रचना में भेद होने के कारण उसी नाम के शब्द गुणविशिष्ट और अर्थगुणविशिष्ट वाक्य सगठन एक नहीं हैं ।

चमत्कार है कोई गुण नहीं क्योंकि इन गुणों के न रहने पर भी काव्य व्यवहार मे कोई हानि उपस्थित नहीं होती। अपुष्टार्थ रूप दोष के दूर कर देने पर जो अभिप्राय विशिष्ट ओजस् नामक गुण है, अधिक पद रूप दोष के दूर कर देने पर विशदार्थ प्रतीतिरूप जो प्रसाद गुण है, अनवीकृतत्वरूप दोष के दूर कर देने पर जो उक्ति का चमत्कार रूप माधुर्य गुण गिना जाता है, अमङ्गलरूप अश्लीलता दोष से रहित कर देने पर अपरुष (कोमल) रचनारूप जो सुकुमारता नामक गुण है, तथा ग्राम्यत्व दोष विहीन जो उदारता नामक गुण हैं वे स्वीकार किये जा चुके हैं। वस्तु के यथार्थ स्वभाव का विशदवर्णन रूप जो अर्थ-व्यक्ति नामक गुण है उसकी स्वीकृति उस स्वभावोक्ति नामक अलङ्कार मे हो जाती है जिसका वर्णन आगे दशम उल्लास मे किया जायगा। दीप्त (विशदता से प्रतीयमान) सत्त्वरूप जो कान्ति नामक गुण है वह रसध्वनि अथवा गुणीभूत व्यङ्ग्य मे परिगणित है। क्रम के टूट जाने से जो अस्फुटता हो जाती है उसकी युक्ति के सम्बन्ध मे प्रदर्शन सहित जो रचना रूप श्लेष नामक गुण स्वीकार किया गया है वह चमत्कार मात्र है, कोई गुण नहीं। जो पागल नहीं हैं वे क्यो किसी अन्य के प्रकरण मे तद्भिन्न किसी अन्य का वर्णन छेड़ेंगे? अयोनि (प्राचीन कवियो ने जिसका वर्णन नहीं किया है) और अन्यच्छायायोनि (प्राचीन कवियो के वर्णन के सहारे पर कोई नई बात कहना) अर्थ का यदि दर्शन (स्फुट प्रतीति) ही न हो तो काव्य कैसा? उक्त रूप से कथित अर्थ दृष्टि रूप जो समाधि नामक गुण कहा गया है वह भी पृथक कोई गुण स्वीकार नहीं किया जाता।

(सू० ९७) तेन नार्थगुणा वाच्याः।

इसलिये अर्थ गुण को पृथक् कहने की कोई आवश्यकता ही नही है।

वाच्याः वक्तव्याः।

मूल कारिका मे 'वाच्य' का तात्पर्य वक्तव्य से है।

(सू० ६८) प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये ।

वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः ॥७३॥

अर्थ—जो शब्द गुण कहे गये हैं उनके व्यञ्जकत्व को वर्ण, समास और रचना प्राप्त होती हैं। तात्पर्य यह है कि विशिष्ट वर्णों (अक्षरों) समासों और रचनाओं द्वारा माधुर्य आदि गुणों की प्रतीति होती है।

के कस्य इत्याह

यदि पूछो कि कौन-कौन से वर्ण किस-किस गुण के व्यञ्जक हैं तो उसके उत्तर में कहते हैं कि—

(सू० ६६) मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।

अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥७४॥

अर्थ—टवर्ग वर्जित जो स्पर्शवर्ण (क से लेकर म तक के २५ व्यञ्जन जो वर्णमाला मे पठित) हैं वे अग्रभाग मे अपने अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण (ङ, ञ, ण, न, म) से युक्त हों तथा 'र' और 'ण' ये दोनों अक्षर (ह्रस्व स्वर के बीच में) और समास का अभाव अथवा छोटे छोटे समस्त पदों का व्यवहार और मधुरता युक्त रचना माधुर्य गुण की व्यञ्जक होती हैं।

ट-ठ-ड ढ वर्जिताः कादयो मान्ताः शिरसि निजवर्गान्त्ययुक्ताः तथा रेफणकारौ ह्रस्वान्तरिताविति वर्णाः समासाभावो मध्यमः समासो वेति समासः 'तथा' माधुर्यवती पदान्तरयोगेन रचना माधुर्यस्य व्यञ्जिका । उदाहरणम्,—

ट ठ ड ढ को छोड क से लेकर म तक के अक्षर अपने पहिले अपने वर्ग के अन्तिम अक्षरों से युक्त तथा ह्रस्व स्वर के बीच में पड़े 'र' और 'ण' ये दोनों अक्षर और समासो का न होना वा थोड़े समासों का रहना और मधुरतायुक्त भिन्न-भिन्न पदों के योग से बनी हुई रचना (शब्द रचना) माधुर्य नामक गुण की व्यञ्जिका (प्रकाशित करनेवाली) समझी जाय। उदाहरण :—

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः ।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि ॥२४७॥

अर्थ—कामदेव की क्रीडास्थली के समान (स्तनों के भार से) झुकी हुई उस सुन्दरी का अङ्ग बोलने, चलने आदि अद्भुत व्यापारों से परिपूर्ण है, क्योंकि उसे देखते ही युवा पुरुषों के चित्त की शान्ति बिदा हो जाती है ।

[अब ओजोगुण के व्यञ्जक वर्ण आदि का नियम कहते हैं—]

(सू० १००) योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः ।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥७५॥

अर्थ—किसी वर्ग के प्रथम और तृतीय अक्षरों के साथ उनके पिछले वर्णों का सयोग, रकार से सयोग, तथा तुल्य अक्षरों का संयोग (द्वित्व), टवर्ग के अक्षर, तालव्य (श) और मूर्द्धन्य, (ष) लम्बे-लम्बे समास और विकट रचना 'ओजस्' नामक गुण की व्यञ्जिका हैं ।

वर्गप्रथमतृतीयाभ्यामन्त्ययोः द्वितीयचतुर्थयोः रेफेण अध उपरि उभयत्र वा यस्य कस्यचित् तुल्ययोस्तेन तस्यैव सम्बन्धः टवर्गोऽर्थात् णकारवर्जः शकारषकारौ दीर्घसमासः विकटा सङ्घटना ओजसः । उदाहरणम्

वर्ग के प्रथम और तृतीय अक्षरों के साथ उनके अन्तवाले अर्थात् प्रथम के साथ द्वितीय और तृतीय के साथ चतुर्थ अक्षरों का सयोग, रकार के साथ आगे पीछे वा दोनों ओर का सयोग, और जिस किसी समान अर्थात् उसी अक्षर का उसी मे संयोग या द्वित्व, टवर्ग अर्थात् णकार रहित ट, ठ, ड, ढ, ये चार वर्ण, तालव्य श तथा मूर्द्धन्य ष और लंबे लंबे समास तथा विकट रचना, ये सब ओजो गुण के प्रकाशक हैं । उदाहरण—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम् ।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत् फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः॥२४८॥

(इस श्लोक का अर्थ ऊपर सप्तम उल्लास में लिखा जा चुका है देखिये पृष्ठ १७६)

[अब प्रसाद गुण की व्यञ्जकता के विषय में कहते हैं—]

(सू० १०१) श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥७६॥

अर्थ—जिस शब्द के सुनते ही तत्काल अर्थ प्रतीति हो जाय वे ही शब्द प्रसाद गुण के व्यञ्जक हैं। ये सभी प्रकार के रसों और रचनाओं के उपयोग में लाये जाते हैं।

समग्राणां रसानां सङ्घटनानां च। उदाहरणम्

मूल कारिका में जो 'समग्राणां' शब्द आया है उसका अर्थ है, सभी प्रकार के रसों और रचनाओं की (उपयोगिनी)। प्रसाद गुण व्यञ्जक काव्य का उदाहरण :—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥२४६॥

अर्थ—यह कमलिनी के पत्तों की शय्या इस दुर्बलाङ्गी (सागरिका नामक नायिका) की पीडा को विशद रूप से प्रकट कर रही है। क्योंकि यह नायिका के दोनों स्थूल स्तनों तथा विशाल जघनस्थलों की रगड़ से दोनों ओर म्लान हो गया है और मध्य भाग में कटि के कृश होने के कारण रगड न पाने से हरी हो बनी है तथा लता रूप शिथिल भुजाओं के हिलाने डुलाने से इधर-उधर बिखर भी गयी है।

यद्यपि गुणपरतन्त्राः सङ्घटनादयस्तथापि,

यद्यपि रचना आदि गुण ही के अधीन हैं तथापि

(सू० १०२) वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित्क्वचित्।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥७७॥

अर्थ—कहीं-कहीं पर कवि, उनके वर्ण्य विषय अथवा प्रबन्धादि

के औचित्य के अनुसार रचना, समास तथा अक्षरों की योजना गुणों की परतन्त्रता से भिन्न (स्वतन्त्र) भी हो सकती हैं।

क्वचिद्वाच्यप्रबन्धानपेक्षया वक्त्रौचित्यादेव रचनादयः। यथा

कहीं-कहीं पर वर्ण्य विषय और प्रबन्ध की अपेक्षा (प्रयोजन) न होने पर भी वक्ता के उचित होने के कारण नियम भङ्ग हो सकता है।

[वक्ता के उचित होने पर रचनादि के नियम भङ्ग का उदाहरण :—]

मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्ड।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽसौ ॥३५०॥

अर्थ—(द्रौपदी से बातें करते समय भीमसेन के कान में रण-दुन्दुभि की ध्वनि पड़ी, उसे सुनकर वे पूछते हैं—) अरे! यह दुन्दुभि किस ने बजाई है? जिस दुन्दुभि का शब्द, मंथन के कारण क्षुब्ध हुए समुद्र जल के आक्षेप से जिस (मन्दराचल) की गुफाओं में भरकर निनादित होता है उस मन्दर के शब्द-सा गम्भीर है, जिसके प्रत्येक कोणाघात[1] में प्रलयकाल की मेघमाला के परस्पर टक्कर लगने से जो गर्जना होती है उसके समान भीषण है और जो मानो द्रौपदी के (तुम्हारे) क्रोध का प्रथम दूत है तथा कौरवकुल विनाशरूप उत्पात के लिये वज्रपात के समान है और हम लोगों के सिंहनाद के समान युद्धस्थल में गूँजनेवाला है।

अत्र हि न वाच्यं क्रोधादिव्यञ्जकम्। अभिनेयार्थं च काव्यमिति

---

[1] भेरी शतसहस्राणि ढक्का शतशतानि च।
एकदा यत्र हन्यन्ते कोणाघातः स उच्यते ॥

अर्थात् कोणाघात उस ताडन की क्रिया का नाम है जिसमें एक लाख भेरी और दस सहस्र ढोल वा रणवाद्य (धौंसा) एक ही साथ बजा दिये जाँय।

तत्प्रतिकूला उद्धता रचनादयः। वक्ता चात्र भीमसेनः।

यहाँ पर वर्ण्य विषय मे क्रोध आदि की कुछ व्यञ्जकता नहीं है। ऐसी विकट रचना अभिनय के लिये लिखे गये नाटक के प्रतिकूल भी है; परन्तु यहाँ पर वक्ता भीमसेन हैं। [रौद्ररस प्रधान धीरोद्धत नायक के होने के कारण यहाँ पर रचना नियम से विपरीत कर दी गई है।]

क्वचिद्वक्तृप्रबन्धानपेक्षया वाच्यौचित्यादेव रचनादयः। यथा

कहीं-कहीं पर वक्ता और प्रबन्ध की बिना अपेक्षा किये भी केवल वर्ण्य विषय के उचितत्व से रचना आदि कथित नियमों से भिन्न प्रकार की होती है। उदाहरण :—

प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलनरयभवत्सैंहिकेयोपघात-
त्रासाकृष्टाश्वतिर्यग्वलितरविरथेनारुणेनेक्ष्यमाणम्।
कुर्वत्काकुत्स्थवीर्यस्तुतिमिव मरुतां कन्धरारन्ध्रभाजां
भाङ्कारैर्भीममेतन्निपतति वियतः कुम्भकर्णोत्तमाङ्गम् ॥२५१॥

अर्थ—दृढ प्रहार के अनुकूल उछलने के वेग से राहु की चढ़ाई के भय से जिसे देखते ही अरुण ने सूर्य के रथ के घोड़ों को तिरछे फेर लिया और जिसके छिद्रों में प्रविष्ट वायु के भाँय-भाँय शब्दों (भन्नाने के शब्दों) द्वारा मानो श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम की प्रशंसा की जा रही है, वह कुम्भकर्ण का भयानक शिर आकाश से (पृथ्वीतल पर) पतित हो रहा है।

क्वचिद्वक्तृवाच्यानपेक्षा प्रबन्धोचिता एव ते। तथाहि आख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः नाटकादौ रौद्रेऽपि न दीर्घसमासादयः। एवमन्यदप्यौचित्यमनुसर्तव्यम्।

कहीं-कहीं पर वक्ता और वाच्य की अपेक्षा के बिना भी केवल प्रबन्ध ही के अनुकूल रचनाएँ आदि होती हैं। जैसे आख्यायिका (कहानी) में शृंगार रस के प्रकरण मे भी कोमल वर्णन नहीं रखने चाहिये। कथा मे रौद्ररस का वर्णन करते समय बहुत उद्धत रचना नहीं रखनी चाहिए। नाटक आदि में रौद्ररस के प्रकरण में भी दीर्घ

समास आदि की रचना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी जहां जैसा उचित हो वैसी रचना आदि के लक्षण का अनुसरण कर लेना चाहिये।



नवम उल्लास

गुणविवेचने कृतेऽलङ्काराः प्राप्तावसर इति सम्प्रति शब्दालङ्कारानाह—

गुणों की विवेचना करने के अनन्तर अब अलङ्कारों का भी निरूपण यथावसर प्रयोजनीय हुआ; अतः सर्वप्रथम शब्दालङ्कार का निरूपण करते हैं।

[वक्रोक्ति अलकार का लक्षण :—]

(सू० १०३) यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥७८॥

अर्थ—जहाँ पर वक्ता के किसी अन्य तात्पर्य से कहे गये वाक्य को सुननेवाला श्लेप अथवा काकुरूप ध्वनिविकार द्वारा किसी अन्य अभिप्राय मे जोड़ दे तो वह वक्रोक्ति नामक शब्दालङ्कार श्लेप और काकु के भेद से दो प्रकार का होता है।

तथेति श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च। तत्र पदभङ्गश्लेषेण यथा—

मूल कारिका के 'तथा' शब्द का अर्थ है—श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति। इन दोनों भेदों मे से श्लेपवक्रोक्ति भी दो प्रकार की होती है (१) कहीं तो पदभङ्ग (सन्धि के नियमों द्वारा विश्लिष्ट) श्लेष द्वारा और (२) कहीं अभङ्ग (विना विलग किए हुए एक ही शब्द के) श्लेप द्वारा होती है। उनमे से पदभङ्गश्लेप द्वारा वक्रोक्ति का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है।

नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो
वामनां प्रियमादधाति हितकृन्नैवाबलानां भवान्।
युक्तं किं हितकर्तनं ननु बलाभावप्रसिद्धात्मनः
सामर्थ्यं भवतः पुरन्दरमतच्छेदं विधातुं कुतः ॥२९२॥

अर्थ—[दो मनुष्य परस्पर बातचीत करते हैं, उनमे से एक के कहे हुए शब्दों का ठीक-ठीक अभिप्राय न लेकर उसकी योजना

अर्थान्तर मे करके दूसरा कुछ और ही कह चलता है, वह बातचीत इस प्रकार है ।] पहला मनुष्य दूसरे से कहता है कि यदि तुम नारी-गणों (स्त्रियों) के अनुकूल आचरण करते हो तो विज्ञ हो। दूसरा इस वाक्य के सीधे-सादे अर्थ को पलटकर यह अभिप्राय ग्रहण करता है कि यदि तुम अरिगणो (शत्रुओं) के प्रतिकूल नहीं चलते तो सावधान हो और उत्तर मे कहता है कि ऐसा चेतन पुरुष कौन है जो अपने वाम (तिकूल) चलनेवाले को भलाई करेगा ? फिर प्रथम वक्ता इस उत्तर वाक्य मे 'वाम' शब्द का 'स्त्री' अर्थ लगाकर कहता है कि आप अबलाओं के 'हितकृत' (भलाई करनेवाले) नहीं हैं। दूसरा मनुष्य फिर उसके अभिप्राय को पलटने के लिये 'अबला' शब्द का अर्थ दुर्बल और 'हितकृत्' का अर्थ भलाई का छेदन करनेवाला (अर्थात् बुराई करनेवाला) लगाकर कहता है कि क्या जिनका स्वरूप बलरहित है उनकी बुराई करना उचित है ? तब फिर वक्ता बलाभाव-प्रसिद्धात्मनः' इस पद का (बल नामक राक्षस विशेष के नाश करने के कारण प्रसिद्ध) इन्द्र अर्थ मानकर कहता है कि भला आप में इन्द्र के हितकर्तन (इष्ट के विनाश करने) की शक्ति कहाँ से आ गयी ?

[यहाँ पर 'नारीणा' इत्यादि शब्दों को पदभङ्ग द्वारा 'न अरीणा' इत्यादि रूपों मे पलटकर श्लेष द्वारा उनका और का और अर्थ जोड़-कर वक्रोक्ति का उदाहरण दिखलाया गया है। हाँ, वामाना पद में जो श्लेष है वह पदभङ्ग के द्वारा नहीं है ।]

अभङ्गश्लेषेण यथा

अभङ्गश्लेष द्वारा वक्रोक्ति का उदाहरणः—]

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित् ॥३९३॥

अर्थ—पूछनेवाला (प्रथम वक्ता) कहता है कि अहो ! तुम्हारी ऐसी दारुणा (कठोर) बुद्धि किसने बनाई है ? उत्तरदाता (द्वितीय वक्ता) "दारुणा' शब्द का अर्थ दारु वा लकडी की बनी कल्पना कर पूर्व-

वक्ता के प्रश्न के उत्तर में कहता है कि बुद्धि तो त्रिगुणात्मिका (सत्त्व, रज और तमोगुणमयी) ही सुन पड़ती है; परन्तु 'दारुमयी' (लकड़ी की बनी) तो कहीं सुनने में नहीं आती? [यहाँ दारुणा' इस शब्द से अभङ्गश्लेप द्वारा वक्रोक्ति प्रकाशित की गई है।]

काक्वा यथा—

[काकु द्वारा वक्रोक्ति का उदाहरणः—]

गुरुजनपरतन्त्रतया दूरतरं देशमुद्यतोगन्तुम्।
अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि सुरभिसमयेऽसौ ॥३५४॥

अर्थ—कोई नायिका अपनी सखी से कहती है—] हे सखि! गुरुजनों की परवशता के कारण वह (मेरा नायक) बहुत दूर देश जाने के लिये उद्यत है अत. भ्रमरों तथा कोकिलों के शब्दों से सुहावने वसन्त काल में न लौटेगा क्या? उत्तर में सखी कहती है कि नहीं, लौट ही आवेगा।

[यहाँ पर नैष्यति (न+एष्यति) अर्थात् नहीं आवेगा इस शब्द का काकु द्वारा 'नहीं अवश्य ही आवेगा' ऐसा अर्थ लगाया गया है।]

[अनुप्रास नामक शब्दालंकार का लक्षण :—]

(सू० १०८) वर्णसाम्यमनुप्रासः।

वर्णों (अक्षरों) की समता अनुप्रास है।

स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम्। रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रास.।

तात्पर्य यह है कि स्वरों की भिन्न भिन्न मात्राओं के होने पर भी यदि व्यञ्जन अक्षरों में परस्पर समता (सादृश्य) हो तो उसको अनुप्रास नामक शब्दालङ्कार कहते हैं। वर्णनीय रसादि के अनुकूल जो वर्णों की चमत्कारजनक योजना है वह अनुप्रास कहलाती है। अब अनुप्रास के भेदों को बतलाते हुए कहते हैं :—]

(सू० १०९) छेकवृत्तिगतो द्विधा।

अर्थ—वह अनुप्रास छेक और वृत्ति इन दोनों नामों के अनुसार दो प्रकार का होता है।

छेका विदग्धाः। वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः। गत इति छेकानुप्रासो वृत्यनुप्रासश्च। किन्तयोः स्वरूपमित्याह

मूल कारिका मे छेक शब्द का अर्थ है विदग्ध (चतुर) और वृत्ति शब्द का अर्थ है रस विषयक (अर्थात् रसादि का उपकारक) वर्णों की नियत रूप से (आवश्यकतानुसार कोमल आदि अक्षरों द्वारा) योजना नामक कोई व्यापार। 'गत' शब्द कहने से छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास इन दोनों अनुप्रास के प्रकारों से प्रयोजन है। यदि यह पूछो कि इन दोनों के क्या स्वरूप हैं तो कहते हैं—

(सू० १०६) सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः।

अर्थ—पूर्व (पहिला छेकानुप्रास) वह है जहाँ पर अनेक व्यञ्जनों का एक बार भी सादृश्य पाया जाय।

अनेकस्य अर्थात् व्यञ्जनस्य सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानुप्रासः। उदाहरणम्

मूल कारिका का अर्थ विशद करने के लिये कहते हैं कि अनेकस्य व्यञ्जनस्य (अनेक व्यञ्जनों की) सकृत् (एक बार भी) सादृश्य (समता) हो तो, वह छेकानुप्रास कहा जायगा। उदाहरण :—

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥३२५॥

अर्थ—[कोई कवि प्रातःकाल का वर्णन करता हुआ कहता है—] तदनन्तर सूर्य के सारथी अरुण के सञ्चार से चन्द्रमा की कान्ति मन्द पड़ गई और वह कामावेग से दुबली कामिनी के कपोलों की भाँति पीतवर्ण का हो गया।

[यहाँ पर 'स्पन्द मन्दी', 'काम परिक्षाम' और 'गण्ड पाण्डु' आदि पदों में छेकानुप्रास है।]

[वृत्यनुप्रास का लक्षण :—]

(सू० १०७) एकस्याप्यसकृत्परः ॥७९॥

अर्थ—दूसरा (वृत्तिगत) अनुप्रास वह है जिसमें एक वा अनेक व्यञ्जन अनेक बार फिर-फिर कर आवें।

एकस्य अपिशब्दादनेकस्य व्यञ्जनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं वृत्त्यनुप्रासः। तत्र

'एकस्य' के अनन्तर 'अपि' शब्द के कथन का यह भाव है कि अनेक व्यञ्जनों का दो या बहुत बार परस्पर सादृश्य वृत्त्यनुप्रास है। उसमें—

(सू० १०८) माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते

अर्थ—मधुरता को प्रकट करनेवाले वर्णों द्वारा लिखित वृत्ति का नाम लोगों ने 'उपनागरिका' रखा है। और,

(सू० १०९) ओजःप्रकाशकैस्तैस्तु परुषा

अर्थ—ओजस् गुण को प्रकाश करनेवाले वर्णों द्वारा लिखित वृत्ति को 'परुषा' कहते हैं।

उभयत्रापि प्रागुदाहृतम्।

ऊपर दोनों वृत्तियों के उदाहरण दिये जा चुके हैं। तथा

(सू० ११०) कोमला परैः ॥८०॥

अर्थ—माधुर्य व्यञ्जक और ओज प्रकाशक वर्णों से भिन्न वर्णों द्वारा लिखित वृत्ति का नाम 'कोमला' है।

परैः शेषैः। तामेव केचिद् ग्राम्येति वदन्ति। उदाहरणम्

परैः—उन शेष वर्णों द्वारा जो माधुर्य वा ओजोगुण के प्रकाशक वर्णों से भिन्न हो। इसी कोमला वृत्ति को कुछ लोग 'ग्राम्या' नाम से भी पुकारते हैं।

[कोमला वृत्ति का उदाहरण :—]

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥२४६॥

(इस श्लोक का अर्थ अष्टम उल्लास मे लिखा जा चुका है देखिये पृष्ठ २८५)।

(सू० १११) केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः।

अर्थ—कुछ लोगों के मत में इन्हीं वृत्तियो का नाम वैदर्भी आदि है।

एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भीगौडीपाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः।

उक्त तीनों वृत्तियाँ (उपनागरिका, परुषा और कोमला) वामन आदि आचार्यों के मत में क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली के नाम से प्रसिद्ध हैं।

[लाटानुप्रास का लक्षण :—]

(सू०११२) शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥८१॥

अर्थ—वह शब्दगत अनुप्रास लाटानुप्रास कहा जाता है जहाँ पर शब्द वा उसके अर्थ के अभिन्न होने पर भी तात्पर्यमात्र के कारण भेद रहता है। यह लाटानुप्रास शब्दगत अनुप्रास ही है।

शब्दगतोऽनुप्रासः शब्दार्थयोरभेदेऽप्यन्वयमात्रभेदात् लाटजनवल्लभत्वाच्च लाटानुप्रासः। एष पदानुप्रास इत्यन्ये।

शब्द तथा अर्थ के अभिन्न रहने पर भी केवल अन्वय के भेद से तथा लाट देश के निवासियों को बहुत प्रिय होने के कारण यह लाटानुप्रास कहलाता है। दूसरे लोग इसे पदानुप्रास स्वीकार करते हैं।

(सू०११३) पदानां सः

अर्थ—वह कई पदों मे भी होता है।

स इति लाटानुप्रासः। उदाहरणम्

'सः' वह—लाटानुप्रास। उस अनेक पदगत लाटानुप्रास का उदाहरण :—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥३२७॥

अर्थ—जिस पुरुष के समीप उसकी प्यारी स्त्री नहीं है उसके लिये तुषारवर्षी चन्द्रमा भी दावानल के समान दुःखदायी है और जिसके समीप उसकी प्यारी स्त्री उपस्थित है उसके लिये दावानल भी तुषारवर्षी चन्द्रमा के समान ठण्डा है।

(सू० ११४) पदस्यापि।

अर्थ—वह (लाटानुप्रास) एक पद का भी होता है।

अपिशब्देन स इति समुच्चीयते। उदाहरणम्—

'अपि' (भी) शब्द से लाटानुप्रास ही का ग्रहण होता है। एक पदगत लाटानुप्रास का उदाहरण :—

वदनं वरवर्णिन्यास्तस्याः सत्यं सुधाकरः।
सुधाकरः क्व नु पुनः कलङ्कविकलो भवेत् ॥३५८॥

अर्थ—सचमुच इस श्रेष्ठ वर्णवाली सुन्दरी नायिका का मुख तो चन्द्रमा ही है; परन्तु ऐसा निष्कलङ्क चन्द्रमा भला कहाँ दिखाई पड़ता है? अर्थात् इस नायिका का मुख चन्द्रमा से भी बढ़कर आकर्षक है।)

(सू० ११५) वृत्तावन्यत्र तत्र वा
नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च

अर्थात्, वह लाटानुप्रास वृत्ति (समास) गत अथवा वृत्ति से विलग वा वृत्तिगत वा वृत्ति से विलग भी नाम (प्रातिपदिक) वाला कहा जाता है।

एकस्मिन् समासे भिन्ने वा समासे समासासमासयोर्वा नाम्नः प्रातिपदिकस्य न तु पदस्य सारूप्यम्। उदाहरणम्

किसी एक समास मे वा भिन्न-भिन्न समासों में, अथवा समास और असमास इन दोनों मे नाम का अर्थात् प्रातिपदिक का, न कि पद का सारूप्य बोधक वह लाटानुप्रास होता है। लाटानुप्रास के इन तीनों प्रकार के भेदों को दिखानेवाले एक पद्य का उदाहरण :—

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार धरणिधर कीर्तिः।
पौरुषकमला कमला साऽपि तवैवास्ति नान्यस्य ॥३५९॥

(इस श्लोक का अर्थ सप्तम उल्लास में लिखा जा चुका है देखिये पृष्ठ २६३।)

(सू० ११६) तदेवं पञ्चधा मतः ॥८२॥

अर्थ—इस प्रकार से लाटानुप्रास पाँच प्रकार का माना गया है।

[वे ये हैं—(१) अनेक पदों का; (२) एक पद का; (३) एक समासगत; (४) भिन्न समासगत और (५) समास तथा असमास दोनों मे उपस्थित ।]

[यमक नामक शब्दालङ्कार का लक्षण :—]

(सू० ११७) अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।

यमकम्

अर्थ—यदि अर्थ हो तो भिन्न-भिन्न अर्थवाले उन्हीं उन्ही वर्णों का फिर से वैसा ही सुनाई पड़ना यमक नामक शब्दालङ्कार है।

समरसमरसोऽयमित्यादावेकेषामर्थवत्त्वेऽन्येषामनर्थकत्वे भिन्नार्थानामिति न युज्यते वक्तुम् इति अर्थे सतीत्युक्तम् । सेति सरोरस इत्यादिवैलक्षण्येन तेनैव क्रमेण स्थिता ।

मूल कारिका मे 'अर्थे सति' (यदि अर्थ हो तो) ऐसा क्यों कहा ? इसका कारण कहते हैं कि जैसे 'समरसमरसोऽयं' इस वाक्य मे 'समर' इन तीनों वर्णों का पुनः श्रवण होता है, उनमे से प्रथम 'समर' शब्द तो सार्थक है; परन्तु दूसरा 'समर' 'समरस' इस शब्द का भाग होने से सार्थक नहीं है; किन्तु निरर्थक है, ऐसी दशा में भिन्न-भिन्न अर्थवाले शब्द नहीं कहे जा सकते। इसी कारण कहा गया कि जहाँ पर निरर्थक अक्षरावली न दुहराई गई हों तो वहाँ प्रथम अक्षरावली से बने शब्द से भिन्न अर्थवाले दुहराई गई अक्षरावली का ऐसा अर्थ लिया गया है। 'सरोरस' इत्यादि शब्दावली से भिन्न अर्थात् एक ही रूप तथा क्रम से रहनेवाले वर्ण (अक्षर) जिसमे हों वह यमक है—यह बात प्रकट करने के लिये 'स इति' 'वैसा ही' कहा गया है।

[यमक के नाना भेदों का निरूपण आगे करते हैं।]

(सू० ११८) पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ॥८३॥

अर्थ—वह यमकालङ्कार पादगत अथवा पाद के भागगत होने से अनेक प्रकार के भेदोंवाला हो जाता है। [उन भेदों का प्रदर्शन आगे किया जाता है।]

प्रथमो द्वितीयादौ, द्वितीयस्तृतीयादौ, तृतीयश्चतुर्थे, प्रथमस्त्रिष्वपीति सप्त। प्रथमो द्वितीये तृतीयश्चतुर्थे प्रथमश्चतुर्थे द्वितीयस्तृतीये इति द्वे। तदेवं पादजं नवभेदम्। अर्धावृत्तिश्चेदिति द्वे। द्विधा विभक्ते पादे प्रथमादिपादादिभागः पूर्ववत् द्वितीयादिपादादिभागेषु, अन्तभागोऽन्तभागेष्विति विंशतिर्भेदाः श्लोकान्तरे हि नासौ भागावृत्तिः। त्रिखण्डे त्रिंशत् चतुःखण्डे चत्वारिंशत्।

प्रथम पाद द्वितीयादि पादों मे, द्वितीय पाद तृतीयादि पादों में, तृतीय चतुर्थ मे तथा प्रथम पाद द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ इन तीनों पादों मे दुहराया जाय तो इस प्रकार यमक के सात प्रकार के भेद होते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि प्रथम द्वितीय में, प्रथम तृतीय मे और प्रथम चतुर्थ मे दुहराये जायँ तो तीन भेद; द्वितीय तृतीय मे और द्वितीय चतुर्थ मे दुहराये जायँ तो दो भेद और तृतीय चतुर्थ मे दुहराया जाय तो एक भेद, और प्रथम पाद द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ इन तीनों पादों मे दुहराया जाय तो एक भेद इस प्रकार ये सब मिलाकर पूरे-पूरे पाद दुहराने से यमक के सात भेद होते हैं। फिर प्रथम पाद द्वितीय मे और तृतीय पाद चतुर्थ मे एक साथ, ऐसा एक भेद, प्रथम भाग चतुर्थ में और द्वितीय भाग तृतीय में ऐसा एक भेद इस प्रकार पूरे-पूरे पादों के दुहराने से दो भेद हुए। इस प्रकार एक ही पाद के कई बार दुहराये जाने से नव भेद हुए। पुनः यदि आधा-आधा अथवा पूरा श्लोक ही पुनः दुहरा दिया जाय तो यमक के ग्यारह भेद हो जाते हैं। यदि श्लोक के प्रत्येक पाद के दो-दो भाग किये जावें तो उनके बीस भेद निम्न-लिखित प्रकार से पूर्व ही की भाँति बन जायेंगे। जैसे:—प्रथम पाद का आद्यभाग द्वितीय, तृतीय और

चतुर्थ पादों के आद्यभागों में दुहराया जाय—ऐसे तीन; द्वितीय पाद का आद्यभाग तृतीय और चतुर्थ पादों के आद्यभागों में दुहराया जाय—ऐसे दो, तृतीय पाद का आद्यभाग चतुर्थ पाद के आद्यभाग में दुहराया जाय—ऐसा एक, और प्रथम पाद का आद्यभाग तीनों (द्वितीय, तृतीय और चतुथ) पादों के आद्यभाग मे दुहराया जाय—ऐसा एक; ये सब सात भेद होते हैं। फिर प्रथम भाग के आद्यभाग सदृश द्वितीय पाद का आद्यभाग, तथा तृतीय पाद के आद्यभाग सदृश चतुर्थ पाद का आद्यभाग (एकत्र) और प्रथम पाद का आद्यभाग तृतीय पाद के आद्यभाग सदृश और द्वितीय पाद का आद्यभाग चतुर्थ पाद के आद्यभाग सदृश (एकत्र)—ये दो भेद हुए। इन सब के साथ अर्द्धावृत्ति (आधे-आधे भागों का फिर से दुहराया जाना) मिलाकर (पहले की भाँति) दस भेद हुए। इसी प्रकार प्रथमादि पादों के साथ द्वितीयादि पादों के अन्त्यभाग के दुहराये जाने से फिर ऐसे ही दस भेद होंगे। इस प्रकार एक-एक पाद को दो-दो भागों में बाँट देने से बीस भेद हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न श्लोकों मे पाद के भागों की आवृत्ति नहीं होती (अर्थात् चमत्कारजनक नहीं होती)। इस रीति से किसी श्लोक के एक पाद के तीन खण्ड करने से तीस और एक-एक पाद के चार-चार खण्ड करने से चालीस भेद हो जाते हैं।

प्रथमपादादिगतान्त्यार्धादिभागो द्वितीयपादादिगते आद्यार्धादिभागे यम्यते इत्याद्यन्वर्थतानुसरणेनानेकभेदम्, अन्तादिकम् आद्यन्तिकम् तत्समुच्चयः, मध्यादिकम् आदिमध्यम् अन्तमध्यम् मध्यान्तिकं तेषां समुच्चयः। तथा तस्मिन्नेव पादे आद्यादिभागानां मध्यादिभागेषु अनियते च स्थाने आवृत्तिरिति प्रभूततमभेदम्। तदेतत्काव्यान्तर्गडुभूतम् इति नास्य भेदलक्षणं कृतम्। दिङ्मात्रमुदाह्रियते।

प्रथम पादादि के अन्तिम और अर्द्धादिक भाग के साथ द्वितीयादि पाद के आद्य और अर्द्धादिक भाग यदि दुहराये जावे तो उनके भी सयोग से अनेक भेद बनते हैं, जो अन्तादिक [जिसमें प्रथम पाद का अन्तिम

भाग द्वितीय पाद के आद्यर्द्ध के साथ दुहराया जाय] आद्यन्तिक [जिसमें प्रथम पाद का आद्यर्ध भाग द्वितीय पाद के अन्तिम भाग के साथ दुहराया जाय] और इन दोनों का समुच्चय [अर्थात् प्रथम पाद के आद्यन्त भाग के साथ द्वितीय पाद के अन्तादि भाग दुहराये जायँ तब उन अन्तादिक और आद्यन्तिक के मेल से उत्पन्न] रूपभेद बनेंगे। इसी प्रकार तीसरे और चौथे पादों मे से यदि पूर्व पाद का मध्य भाग उत्तर पाद के आदि भाग के साथ दुहराया जाय तो मध्यादिक, [पूर्व पाद का आदिभाग उत्तर पाद के मध्यभाग के साथ दुहराया जाय तो] आदिमध्य, [प्रथम पादका अन्त भाग द्वितीय भाग के मध्यभाग के साथ दुहराया जाय तो] अन्तमध्य, [प्रथम भाग का मध्य भाग द्वितीय पाद के अन्तिम भाग के साथ दुहराया जाय तो] मध्यान्तिक तथा इन सब का समुच्चय [मध्यादिक और आदिमध्य तथा अन्तमध्य और मध्यान्तिक इत्यादि का एकत्र मेल] आदि भेद होंगे। इसी भाँति यदि एक ही पाद मे आद्यादिक भागों के साथ मध्यादिक भाग दुहराये जायँ अथवा अनियत स्थानों के वर्ण अनियत स्थानों के और-और वर्णों के साथ (गद्यादि रचना में) दुहराये जायँ तो इनके अगणित भेद बन जाते हैं। अतः ये सब यमक काव्यों मे गाँठरूप बनकर (रस की प्रतीति में विलम्ब कराने के कारण, एक प्रकार से अर्थप्रतीति के भी व्यवधायक होकर) रसास्वाद के बाधक हो जाते हैं। निदान इनके विलग-विलग भेदों का लक्षण लिखना निष्प्रयोजन है। यमकालङ्कार के असख्य भेदों में से कुछ के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।—

[सन्दश नामक यमक का उदाहरण :—]

सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम्।
सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ॥३६०॥

अर्थ—हे राजन्! सती स्त्रियों की भूषण स्वरूप पार्वती जी को प्राप्त करनेवाले भगवान् महादेव जी की आराधना करके आप वैसे युद्धों द्वारा पृथ्वी का विजय कीजिये, जिनमें आपके शत्रुओं के हाथी

मार डाले गये हो।

[इस श्लोक का प्रथम पाद तृतीय पाद मे दुहराया गया है।]

[युग्मक नामक यमकालकार का उदाहरण :—]

विनायमेनो नयताऽसुखादिना विना यमेनोनयता सुखादिना।

महाजनोऽदीयत मानसादरं महाजनोदी यतमानसादरम्॥३६१॥

अर्थ—[रावण द्वारा युद्धस्थल मे क्षतविक्षत शरीर वृद्ध पक्षिराज जटायु को देखकर लक्ष्मण जी रामचन्द्र जी से कहते हैं—] प्राणों के भक्षक यमराज ने इस दुर्जनापसारक महात्मा पक्षिराज जटायु को बिना अपराध ही सुखादि के भोग से रहित करके और उसके रक्षकों को पीडा प्रदान कर शीघ्र ही निजधाम की ओर ले जाते समय मन (और आत्मा के संयोग) से विलग कर दिया (मार डाला)।

[यहाँ प्रथम पाद द्वितीय में और तृतीय पाद चतुर्थ में दुहराया गया है।]

[जिस यमक में एक पूरे श्लोक की आवृत्ति दूसरे श्लोक में की जाय उसे महायमक कहते हैं। उदाहरण :—]

स त्वारम्भरतोऽवश्यमबलं विततारवम्।

सर्वदा रणमानैषीदवानलसमस्थितः॥३६२॥

सत्वारम्भरतोऽवश्यमवलम्बिततारवम्।

सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः॥३६३॥

अर्थ—सात्त्विक कर्मों मे निरत, विष्णुभक्ति परायण सब शत्रुओं वा दुष्टों के विनाश करने का गर्व रखनेवाला सदृश भयानक स्वरूप, शीघ्रतापूर्वक रणभूमि से उपस्थित होनेवाला वह राजा अवश्य ही अपने प्रभूत बल से शत्रुओं के स्वाधीन और वृक्ष सदृश अनम्र तथा निर्बल सेना को ऊँचे स्वर मे रोदन कराकर सदा युद्धस्थल मे खींच लाता था।

[सन्दष्टक नामक यमकालकार का उदाहरण :—]

अनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा न वेद याम् ।
या च मातेव भजते प्रणते मानवे दयाम् ॥३६४॥

अर्थ—मैं उन दुर्गादेवी जी का स्मरण करता हूँ, जिन्होंने अपनी असीम महिमा से संसार भर को व्याप्त कर लिया है, जिन्हें ब्रह्मा भी भलीभाँति नहीं जान सके और जो नम्र भक्तजनों पर माता के समान वात्सल्य प्रकट करनेवाली हैं।

[यहाँ पर द्वितीय पाद के अन्तिम भाग के चार अक्षर चतुर्थपाद के अन्तिम भाग मे दुहराये गये हैं।]

[आद्यन्तिक नामक यमकालकार का उदाहरण :—]

यदानतोऽयदानतो न यात्यय न यात्ययम् ।
शिवेहितां शिवे हितां स्मरामि तां स्मरामिताम् ॥३६५॥

अर्थ—जिनको प्रणाम करके उनके कल्याणप्रद आशीर्वाद द्वारा यह भक्त पुरुष राजनीति का उल्लङ्घन नहीं करता है, उन महादेव जी की इष्ट, कामदेव से भी न जीती गई, स्वस्ति प्रदायिनी, भगवती पार्वती जी का मैं स्मरण करता हूँ।

[यहाँ पर प्रत्येक पाद के आदि के चार अक्षर उसी पाद के अन्त में दुहराये गये है।]

[पूर्वार्द्ध मे केवल आद्यन्तिक और उत्तरार्द्ध मे आद्यन्तिक तथा अन्तादिक के समुच्चय वाले यमक का उदाहरण :—]

सरस्वति ! प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति !
सर स्वति ! कुरु क्षेत्रकुरुक्षेत्रसरस्वती ! ॥३३६॥

अर्थ—हे वाग्देवते सरस्वति ! जो मेरे शरीररूपी कुरुक्षेत्र में सरस्वती (नदी) सदृश हैं अतः मुझ पर प्रसन्न हों तथा मेरे चित्तरूप समुद्र में चिरकाल तक निवास करें।

[श्लोक के दोनों आधे भागों में आद्यन्तिक और अन्तादिक यमकों के समुच्चय का उदाहरण :—]

ससार साक दर्पेण कन्दर्पेण ससारसा ।

शरन्नवाना बिभ्राणा नाविभ्राणा शरन्नवा ॥३६७॥

अर्थ—वह नई शरद ऋतु मार्गों मे नये छकड़ों से भरी हुई, पक्षियों की चहचहाहट से युक्त, सारसों वा कमलों की पक्ति से सुशोभित, अभिमानी कामदेव समेत आ पहुँची ।

[अनियतस्थानावृत्ति रूप यमकों के समुच्चय का उदाहरण :—]

मधुपराजि पराजित मानिनीजनमनःसुमनःसुरभि श्रियम् ।

अभृत वारितवारिजविप्लवं स्फुटितताम्रतताम्रवण जगत् ॥३६८॥

अर्थ—वसन्त ऋतु में ससार, भौरो की पक्ति से युक्त और मानवती स्त्रियों के मन से मान निवारण करनेवाले सुगन्धियुक्त फूलों की शोभा से भर गया । कमल पुष्पों का विनाश रुक गया, और खिले हुए कुछ लाल रंग के पत्तेवाले आम्रवृक्ष के विस्तीर्ण वनों से व्याप्त हो गया ।

एवं वैचित्र्यसहस्रैः स्थितमन्यदुन्नेयम् ।

इसी प्रकार विचित्रतायुक्त यमकों के अन्य सहस्रों उदाहरण (नाना ग्रन्थों से) उद्धृत किये जा सकते हैं ।

[अब शब्दश्लेष नामक अलङ्कार का निरूपण करते हैं—]

(सू० ११६) वाच्यभेदेन भिन्ना तत् युगपद्भाषणस्पृशः ।

श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥८४॥

अर्थ—जहाँ एक ही उच्चारण के विषय होकर जो शब्द वाच्य अर्थ के भेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी श्लिष्ट (स्वरूप छिपानेवाले) होते हैं वहीं पर श्लेष नामक शब्दालङ्कार होता है, और वह अक्षर आदि के भेद से आठ प्रकार का होता है ।

'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति दर्शने 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति च नये वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः । स च वर्ण-पद-लिङ्ग-भाषा प्रकृति प्रत्यय

विभक्तिवचनानां भेदादष्टधा । क्रमेणोदाहरणम्—

दर्शनशास्त्रों में कहा गया है कि अर्थों के भेद के कारण शब्दों में भी भेद होता है, और काव्यग्रन्थों में स्वर की गिनती नहीं की जाती— इन दोनों न्याय वाक्यों के अनुसार जो शब्द वाच्य अर्थ के कारण से भिन्न हैं; परन्तु एक साथ उच्चारण किये जाने से श्लिष्ट होते हैं, अर्थात् निज निज भिन्न स्वरूपों को छिपा रखते हैं, तब श्लेष नामक अलङ्कार होता है। यह श्लेष वर्ण (अक्षर), पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय विभक्ति और वचनों के भेद से आठ प्रकार का माना जाता है उन सब के क्रमशः उदाहरण लिखे जाते हैं।

[वर्णश्लेष का उदाहरण :—]

अलङ्कारः शङ्काकरनरकपालं परिजनो
विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको बहुवयाः ।
अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो-
र्विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी ॥२६९॥

अर्थ—जब वक्र 'विधौ' अर्थात् टेढे चन्द्रमा के मस्तक पर विराजमान होने से, देवाधिदेव महादेव जी की ऐसी अवस्था हो जाती है कि उन्हें भयानक मुण्डमाल का आभूषण धारण करना पड़ता है, सड़े-गले अगोंवाला भृङ्गी सेवक के रूप में और एक बूढ़ा बैल धन-सम्पत्ति के रूप में मिलते हैं तो वक्र 'विधौ' टेढ़े दैव के मस्तक पर सवार होने से हम जैसे (क्षुद्र जन्तुओं) की क्या दशा कही जाय ?

[यहाँ पर 'विधौ' शब्द 'विधु' और 'विधि' इन दोनों शब्दों की सप्तमी विभक्ति का एक वचन है। इसी में श्लेष है।]

[पदश्लेष का उदाहरण :—]

पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥२७०॥

[इस श्लोक का अर्थ सप्तम उल्लास में लिखा जा चुका है। देखिये पृष्ट २५९ । यहाँ पर पृथुकार्तस्वर तथा पृथुक+आर्तस्वर और

भूषित तथा भू+उषित आदि पदों में श्लेष है ।]

[लिङ्ग और वचनश्लेष का एक ही श्लोक में उदाहरण :—]

भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये ।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः ॥३७१॥

अर्थ—भगवान् विष्णु जी के वे दोनों नेत्र अथवा उनका शरीर तुम्हारी सासारिक पीड़ा का निवारण करे, जो नम्र भक्तों पर वात्सल्य-युक्त हैं, नील कमल की शोभा के प्रतिस्पर्द्धी हैं, जिनका निज इष्ट प्राप्ति के लिये समाधि मे निरत योगीजन ध्यान करते हैं, जो सौन्दर्य की बडी खानि हैं तथा श्री (लक्ष्मी जी) के नेत्रों में प्रगाढ प्रेम उत्पन्न करनेवाले हैं।

एष वचनश्लेषोऽपि ।

यहाँ पर भगवान् विष्णु जी के लोचनों के विशेषण के लिये प्रयुक्त द्विवचन नपुसकलिङ्ग शब्दों के रूप ठीक वैसे ही हैं जैसे शरीर के विशेषण के लिये एक वचन स्त्रीलिङ्ग में होते हैं। इस प्रकार यह एकत्र लिङ्ग और वचन के शब्दश्लेष का उदाहरण है ।]

[भाषाश्लेष का उदाहरण :—]

महदे सुरसन्धम्मे तमवसमासङ्गमागमाहरणे ।
हरबहुसरण तं चित्तमोहमवसरउमे सहसा ॥३७२॥

[इस श्लोक का सस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं मे विलग-विलग अर्थ होता है। सस्कृत भाषा के अनुसार उसका अर्थ इस प्रकार है ।]

हे पार्वती जी ! सुखदायक वेदविद्या की प्राप्ति के प्रकरण मे मेरी उस आसक्ति की रक्षा करो, जिसमे देवताओं से समागम होता है और यथावसर शीघ्र ही मेरे उस मानसिक मोह का भी निवारण करो जो सभी ओर से फैलता चला आ रहा है ।

[प्राकृत भाषा में इस श्लोक की संस्कृत छाया इस प्रकार होगी।]

मम देहि रसं धर्मे तमोवशामाशां गमागमाद्धर नः।
हरवधु शरणं त्वं चित्तमोहोऽपसरतु मे सहसा॥

अर्थ—हे महादेव जी की धर्मपत्नी पार्वती जी! तुम मुझे शरण देनेवाली हो, मुझे धार्मिक कार्यों में रुचि दिलाओ, इस जन्म मरण-युक्त सृष्टि से मेरी तमोगुणी आशा को दूर करो और शीघ्र ही मेरे मानसिक मोह का भी निवारण करो।

[संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में भिन्न-भिन्न अर्थ उत्पन्न करनेवाला एक ही प्रकार के शब्दों से बना हुआ यह भाषाश्लेष का उदाहरण हुआ।]

[प्रकृतिश्लेष का उदाहरण:—]

अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः॥३७२॥

अर्थ—यह राजकुमार सभी शास्त्रों को अपने हृदय में धारण करेगा और उन्हें विद्वानों को सुनावेगा भी, तथा यह अपने शत्रुओं की शक्ति का काटनेवाला और मित्रों की शक्ति को बढ़ानेवाला भी होगा।

[यहाँ पर 'वक्ष्यति' यह शब्द 'वह्' और 'वच्' दोनों धातुओं के लृट् (सामान्य भविष्यकाल) के अन्य पुरुष एक वचन का रूप है। इसके दो अर्थ हुए' 'वह्' धातु से 'वक्ष्यति' का अर्थ है धारण करेगा और 'वच्' धातु से 'वक्ष्यति' का अर्थ है कहेगा (उपदेशरूप से सुनावेगा)। ऐसे ही 'कृन्तति' और 'करोति' इन दोनों क्रियाओं के मूल-धातु कृन्त और कृ) में 'क्विप्' प्रत्यय लगाने पर सामर्थ्य शब्द समेत 'सामर्थ्यकृत्' ऐसा एक ही रूप होता है; परन्तु दोनों के अर्थ भिन्न हैं। कृन्त् धातु के पक्ष में अर्थ है—सामर्थ्य को काटनेवाला, और कृ धातु के पक्ष में अर्थ है—सामर्थ्य को बढ़ानेवाला। इस प्रकार यह प्रकृति-श्लेष का उदाहरण हुआ।]

[प्रत्ययश्लेष का उदाहरण]

रजनिरमणमौलेः पादपद्मावलोकक्षणसमयपराप्तापूर्वसम्पसहस्रम् ।
प्रमथनिवहमध्येजातुचित्त्वत्प्रसादादहमुचितरुचिःस्यान्नन्दिता सा तथामे ॥
॥३७४॥

अर्थ—जिसके मस्तक पर चन्द्रमा विराजमान है—ऐसे शिव जी के चरण कमलों के दर्शनकर क्षण ही मे जिसने सहस्रोंप्रकार की अद्भुत सम्पत्ति प्राप्त कर ली है, वैसा मैं कदाचित् शिवजी के अनुग्रह से यथोचित दीप्ति से विशिष्ट हो प्रमथ आदि गणों के बीच सुखदायक बन जाऊँ, अथवा मुझे नन्दी (बृषभ) की पदवी मिल जाय।

[यहाँ पर श्लेष द्वारा 'नन्दिता' पद के दो अर्थ होते हैं। एक तो नन्द धातु के आगे 'कृदन्त' 'तृच्' प्रत्यय के लगने से 'नन्दिता' का सुखदायक अर्थ निकलता है, और दूसरे नन्द धातु के उत्तर तद्धित 'तल्' प्रत्यय के लगने से नन्दिता का नन्दी बैल की पदवी यह भी अर्थ होता है—इस प्रकार यह प्रत्ययश्लेप का उदाहरण हुआ।]

[विभक्तिश्लेष का उदाहरण :—]

सर्वस्वं हर सर्वस्य त्व भवच्छेदतत्परः ।
नयोपकार साम्मुख्यमायासि तनुवर्तनम् ॥३७५॥

अर्थ—[किसी पकड़े गये डाकू ने शिवालय के पास खड़े हुए अपने पुत्र को देखकर वह पद्य पढा है। इससे शिवजी की स्तुति भी निकलती है और पुत्र का उपदेश भी निकलता है। शिवभक्ति पक्ष मे—हे शिवजी, आप सब के सब कुछ है, ससार के निवर्तक होने (अर्थात् भक्तों को मोक्ष प्रदान करने) मे तत्पर रहते हैं। नीति और परोपकार की अनुकूलता के अनुसार निज शरीर की स्थिति भी बनाये रहते हैं। अर्थात् आपके सब व्यवहार ऐसे हैं, जिनसे परोपकार और

---

[1] 'स्यान्नन्दिता' में 'स्याम्' (उत्तमपुरुप एक वचन) तथा 'स्यात' (प्रथमपुरुष एक वचन) इन दोनों रूपों की भी तुल्यता है।

न्याय होता है ।]

[स्वपुत्रोपदेश पक्ष में—] हे पुत्र ! तू सब किसी का सब कुछ (जो हाथ आवे सब) हर ले और सेंध लगाने की प्रक्रिया का अभ्यास भी करता रह। प्रत्युपकार की चेष्टा से हाथ धो और अपनी जीविका निर्वाह का वह मार्ग ग्रहण कर जिसमे औरों को कष्ट मिले।

[इस श्लोक में 'हर' इत्यादि पद एक पक्ष मे सज्ञा और पक्षान्तर मे क्रिया के भिन्न-भिन्न विभक्तिगत) रूप हैं। इस प्रकार यह विभक्तिश्लेष का उदाहरण हुआ।]

[अब आगे अभङ्गश्लेष के विषय में कहते हैं :—

(सू० १२०) भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् ।

अर्थ—जहाँ ऊपर कहे गये प्रकृति आदि के भेद न भी पाये जायँ; किन्तु शब्दों मे श्लेष (द्व्यर्थ वाचकता हो तो उसे श्लेष का एक विलग नवाँ भेद गिनना चाहिये।

नवमोऽपीत्यपिर्भिन्नक्रमः । उदाहरणम्—

'नवमोऽपि' ऐसा पाठ जो आया है उसमे 'अपि' शब्द क्रम का द्योतक है (अर्थात् प्रकृत्यादि आठ श्लेषों से भिन्न यह एक नवें प्रकार के श्लेष का भेद है।)

अभङ्गश्लेष का उदाहरण :—

योऽसकृत्परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः ।
शतकोटिदतां बिभ्रद्विबुधेन्द्रः स राजते ॥३७६॥

अर्थ—(राज पक्ष में) जो राजा बारबार अपने शत्रुओं के वंशजों के सहायकों के पक्ष का क्षण भर में खण्डन करने का सामर्थ्य रखता है वह पण्डितों मे श्रेष्ठ राजा वज्र तुल्य चोखे अस्त्रों को धारण किये हुए शोभित होता है।

(इन्द्र पक्ष मे) जो इन्द्र क्षण भर मे बड़े-बड़े पर्वतों के पंखों को काट डालने में समर्थ है वह देवताओं का राजा वज्ररूप खण्डनकर्ता अस्त्र को धारण किये हुए शोभित है।

अत्र प्रकरणादिनियमाभावात् द्वावप्यर्थौ वाच्यौ ।

यहाँ पर प्रकरण । आदि के किसी नियम द्वारा बन्धन न होने से राजा तथा इन्द्र दोनों पक्षों मे श्लेष द्वारा वाच्यार्थ ही घटित होता है । नहीं तो यदि प्रकरण आदि के अनुसार कहीं एक अर्थ नियन्त्रित हो जाता तो वही वाच्यार्थ होता और दूसरा अर्थ व्यग्य बन जाता श्लेष कहने की आवश्यकता ही न पड़ती ।

[कुछ लोग अभंगश्लेष की गणना शब्दालङ्कार मे न कर अर्थालङ्कार मे करते हैं । युक्तिपूर्वक उनके मत का खण्डन करने के लिये पूर्वपक्ष (शङ्का) का अनुवाद करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं :—]

ननु स्वरितादिगुणभेदात् भिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां तदभावादभिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां च शब्दानां बन्धेऽलङ्कारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुः शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्यर्थालङ्कारमध्ये परिगणितोऽन्यैरिति कथमयं शब्दाऽलङ्कारः । उच्यते । इह दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः स अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते । तथाहि । कष्टत्वादिगाढत्वाद्यनुप्रासादयः व्यर्थत्वादिप्रौढ्याद्युपमादयस्तद्भावतदभावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते ।

स्वरित (तथा उदात्त और अनुदात्त) आदि (उच्चारण सम्बन्धी) गुणों के भेद से भिन्न-भिन्न प्रयत्नो द्वारा उच्चारण किये गये और वैसा न होने पर एक ही प्रकार के प्रयत्नों द्वारा उच्चरित शब्दों से, जहाँ पर रचना की जाती है, वहाँ पर भिन्न-भिन्न अलङ्कारों (उपमादि) के ज्ञानमात्र उसकी उत्पत्ति के कारण होते हैं । इस कारण से शब्दश्लेष और अर्थश्लेष—ये दोनों अलङ्कार और-और लोगों से अर्थालङ्कार ही के बीच गिने जाते हैं, अत. इन्हें शब्दालङ्कार क्यों माने ? इसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि यहाँ काव्य प्रकरण में दोष, गुण तथा अलङ्कारों से शब्दगत और अर्थगत नामक जो दो भेद किये गये हैं, वे अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा वैसे ही ठहरते हैं । [एक के उपस्थित रहने पर उसके सहचर दूसरे का नियमपूर्वक उसी के साथ वर्तमान

रहना अन्वय कहलाता है। जैसे :—जहाँ-जहाँ धुआँ देखने मे आता है, वहाँ-वहाँ आग भी रहती है—इस प्रकार की व्याप्ति को अन्वय कहते हैं। तथा जहाँ एक के अनुपस्थित रहने पर उसका सहचर दूसरा भी विद्यमान न हो वहाँ पर नियमपूर्वक एक के अभाव के साथ दूसरे का भी अभाव व्यतिरेक कहलाता है। जैसे:—जहाँ-जहाँ आग नहीं होती, वहाँ-वहाँ धुआँ भी नहीं होता—इस प्रकार की व्याप्ति को व्यतिरेक कहते हैं।] कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ पर शब्द परिवर्तन मे दोषनिवृत्ति न हो, या गुण पूर्ववत् बना रहे, अथवा अलङ्कार ही ज्यों का त्यों भासित हो तो वह शब्दगत दोष, गुण वा अलङ्कार नहीं माना जायगा; किन्तु अर्थगत ही होगा। दोष, गुण और अलङ्कार तभी शब्दगत हो सकते हैं जब कि बिना शब्द परिवर्तन किये ही उनका ज्ञान बना रहे और परिवर्तन कर देने पर वैसा ज्ञान न रह जाय। अतएव कष्टत्व, गाढ़त्व और अनुप्रास आदि शब्द के अक्षत (अपरिवर्तित) होने के कारण ही बने रहने से क्रमशः शब्दगत दोष, गुण वा अलङ्कार माने जाते हैं, और व्यर्थत्व, प्रौढि तथा उपमा आदि शब्द के परिवर्तित हो जाने पर भी उसके अभाव मे बने ही रहते हैं; अतः शब्दगत दोष, गुण वा अलङ्कार स्वीकार नहीं किये जाते—ऐसी व्यवस्था है। [भाव यह है कि शब्द के परिवर्तन करते ही जो दोष, गुण और अलङ्कार न रह जावे उन्हें तो शब्दगत और जो शब्द के परिवर्तन किये जाने पर भी बने रहें वे अर्थगत माने जावे।] ऐसा स्फुट और स्थिर नियम सिद्धान्त पक्षवालो का है।

[अभंग और सभंग दोनों प्रकार के श्लेषों की दशा में अन्वय और व्यतिरेक द्वारा शब्द ही के अनुसार श्लेष ग्रहण का उदाहरण एक ही श्लोक के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध मे दिखाया जाता है।]

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता। इत्यभङ्गः
प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥३७७॥ इति सभङ्गः

अर्थ—[पार्वती जी के पक्ष मे—] पार्वती जी स्वयं नये पत्तों के

समान कुछ-कुछ लाल और चमकीले हाथों से सुशोभित, मोक्षरूप दुर्लभ फल के चाहने वाले भक्तों को उनका अभीष्ट प्रदान करने के कारण, प्रातःकाल की सन्ध्या (रात बीत जाने पर रात दिन के संयोग की वेला) के समान हैं।

[प्रातःकालीन सन्ध्या के पक्ष में—] नये पत्तों के समान लाल-लाल सूर्य के किरणों से सन्ध्या सुशोभित है और जो जागते रहने का फल (सन्ध्योपासनादि क्रिया के) लाभ चाहते हैं उन्हें अभीष्ट फल की देने वाली है।

[यहाँ पर 'भास्वत्कर' इत्यादि शब्दों मे अभंग (सन्धि के नियमानुसार विना विश्लेषण किये ही) श्लेष है और उत्तरार्द्ध मे 'अस्वाप' शब्द में सभंग (सन्धि के नियमानुसार विश्लेषण करने पर) श्लेष है[1]। पार्वती पक्ष में 'अ+सु+आप' ऐसी सन्धि करने पर 'अस्वाप' का दुर्लभ अर्थ गृहीत होता है।]

इति द्वावपि शब्दैकसमाश्रयाविति द्वयोरपि शब्दश्लेषत्वमुपपन्नम्

---

[1]प्राचीन टीकाकारों ने इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में अभंग और उत्तरार्द्ध में सभंग श्लेष स्वीकार किया है क्योंकि पूर्वार्द्ध में 'भास्वत्करविराजिता' में सन्धि के नियमानुसार कोई भंग नहीं है, और उत्तरार्द्ध में पार्वतीजी के पक्ष में 'अस्वाप' शब्द में 'अ+सु+आप' इस प्रकार सन्धि के नियम द्वारा भंग करके 'दुर्लभ' अर्थ स्वीकार किया है। परन्तु गुरुवर महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ जी झा एम० ए० डी० लिट् ने पूर्वार्द्ध को सभंग और उत्तरार्द्ध को अभंग श्लेष का उदाहरण माना है। उनका कथन है कि सन्ध्या के पक्ष में श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'भास्वत्क—रवि—राजिता' यों शब्दों का (विना सन्धि किये ही) विलग करना सभंग है और 'अस्वाप' शब्द में (सन्धि करने पर भी शब्द रूप के ज्यों के त्यों बने रहने से, अभंग श्लेष है। उनका कथन है कि प्राचीन टीकाकारों ने उत्तरार्द्ध को सभंग और पूर्वार्द्ध को अभंग पाठ मानकर शब्दों का रूपान्तर विना किये ही अशुद्ध विभाग पाठ की भूल से ही कर दिया है।

न त्वाद्यस्यार्थश्लेषत्वम्। अर्थश्लेषस्य तु स विषयः यत्र शब्दपरिवर्त्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना यथा—

इन दोनों अभंग और सभंग श्लेषों के उदाहरणों में श्लेष शब्द ही के आश्रित होने के कारण यहाँ पर शब्दश्लेष ही मानना उचित है, न कि प्रथमार्द्ध वाले अभंग श्लेप को अर्थश्लेष कहना उचित है। यदि पूछिए कि फिर अर्थश्लेप किसे कहते हैं तो उसका उत्तर यह है कि जहाँ पर शब्दों के परिवर्तन कर देने पर भी श्लेष अलङ्कार बना रहे उसी को अर्थश्लेष मानना न्याय है। जैसे:—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥३७८॥

अर्थ—अहो आश्चर्य की बात है कि तराजू की डंडी और खल का व्यवहार एक दूसरे से बहुत मिलता है, यहाँ तक कि थोड़े ही हेर-फेर मे दोनों ऊपर की ओर चढ जाते और नीचे की ओर झुक भी पड़ते हैं।

न चायमुपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरुपमा। तथा हि—यथा 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्कचतितराम्' इत्यादौ गुणसाम्ये क्रियासाम्ये उभयसाम्ये वा उपमा। तथा 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव' इत्यादौ शब्दमात्रसाम्येऽपि सा युक्तैव।

'स्वयं च पल्लवाताम्र' इत्यादि प्रतीकवाले श्लोक मे उपमालङ्कार के ज्ञान की उत्पत्ति का कारण श्लेषालङ्कार नहीं है; किन्तु श्लेषालङ्कार के ज्ञान की उत्पत्ति का जनक उपमालङ्कार है, इसी प्रकार 'कमलमिव मुख मनोज्ञमेतत्कचतितराम्' कमल के समान सुन्दर यह मुख अतिशय उद्दीप्त हो रहा है—इस उदाहरण मे मनोज्ञरूपी गुण की समता, उद्दीप्त होना रूप क्रिया की समता अथवा दोनों की समता रहने पर उपमालङ्कार ही माना जाता है। वैसे ही 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधाशुविम्बमिव' सभी कलाओं से परिपूर्ण चन्द्रविम्ब के समान

यह नगर इस समय कलकल शब्दों से भरा हुआ है—इत्यादि उदाहरणों में केवल शब्दों की समता के कारण वही उपमालङ्कार माना जाता है।

तथाह्युक्तं रुद्रटेन—"स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवतः"॥ इति

अर्थ—इस विषय मे रुद्रट आचार्य ने भी कहा है कि उपमा और समुच्चय ये दोनों अर्थालङ्कार ही में गिने जाते हैं, यह बात प्रकट है तो भी कभी-कभी केवल शब्दगत साधारण धर्म के आश्रय द्वारा वे शब्दालङ्कार मे गिने जा सकते हैं।

न च 'कमलमिव मुखम्' इत्यादिः साधारणधर्मप्रयोगशून्य उपमाविषय इति वक्तुं युक्तम् पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः।

यह भी कहना युक्तिसङ्गत नहीं है कि 'कमलमिवमुख' इत्यादि उस उपमा के उदाहरण हैं, जिसमे साधारण धर्म का उल्लेख नहीं किया गया है। उपमा में यदि सर्वत्र साधारण धर्म का लोप ही नियम माना जायगा तो फिर पूर्णोपमा जिसमें साधारण धर्म का उपस्थित रहना आवश्यक है, निरर्थक हो जायगी।

देव ! त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम्।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः॥२७१॥

अर्थ—[विष्णु पक्ष मे]—हे भगवान् विष्णुदेव ! आप ही पाताल हैं, आप ही दिशाओं के छोर हैं, आप ही देवताओं और वायु के निवासस्थान स्वर्गलोक हैं, आप अकेले त्रिलोकरूप हैं।

[राज पक्ष मे]—हे राजन् ! आप ही पर्याप्त रूप से (हम लोगों के) पालक हैं आप ही हमारी अभिलाषाओं के निबाहनेवाले हैं। एक आप ही की चॅवर द्वारा सेवा की जाती है, आप अकेले ही तीन जन के बराबर हैं।

इत्यादिः श्लेषस्य चोपमाद्यलङ्कारविविक्तोऽस्ति विषय इति। द्वयोर्योगे सङ्कर एव। उपपत्तिपर्यालोचने तु उपमाया एवायं युक्तो विषयः।

अन्यथा विषयापह्नार एव पूर्णोपमायाः स्यात् ।

इन उदाहरणों में उपमादि अलङ्कारों से नितान्त विलग भी श्लेषालङ्कार दिखाई पड़ता है । उपमा और श्लेष दोनों अलङ्कारों के मेल होने पर सङ्कर अलङ्कार होता है । उपपत्ति (सिद्धि) के विषय में विशेष विचार करने से यह विषय उपमालङ्कार ही के लिये युक्त जान पड़ता है । नहीं तो पूर्णोपमा के विषय का तो लोप ही हो जायगा ।

न च 'अबिन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यबिन्दुका' इत्यादौ विरोध-प्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुर्विरोधः । नह्यत्रा-र्थद्वयप्रतिपादकःशब्दश्लेषः द्वितीयार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य प्ररोहाभावात् । न च विरोधाभास इव विरोधः श्लेषाभासःश्लेषः । तदेवमादिषु वाक्येषु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरलङ्कारान्तरमेव । तथा च संद्वशमुक्तामणिः ॥२८०॥

'यह नायिका जल मे प्रतिविम्बित चन्द्रमा की भाँति सुन्दरी है और चारुता का बूँदे टपका रही है' इत्यादि उदाहरणों मे विरोधाभास नामक अलङ्कार के ज्ञान का कारण श्लेष नहीं है, किन्तु श्लेष ही के ज्ञानोत्पत्ति का कारण विरोधाभास है । यहाँ पर दोनों अर्थों का प्रति-पादक शब्दश्लेष नहीं है, क्योंकि द्वितीय अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होते ही अन्वय का सम्बन्ध न मिलने से वह प्रतीति नष्ट हो जाती है । जिस प्रकार विरोधाभास को विरोधालङ्कार कहते हैं उसी प्रकार श्लेषाभास को भी श्लेषालङ्कार नहीं मानते । निदान उक्त प्रकरण के समान अव-सरो मे श्लेषज्ञान की उत्पत्ति के कारण (विरोधाभासादि) कोई और ही अलङ्कार हैं । ऐसे ही 'सद्वशमुक्तामणिः' अर्थात् यह राजा सद्वंश रूप वेणु मे मुक्तामणि के समान है । और—

नाल्पः कविरिव स्वल्पश्लोको देव महान् भवान् ॥२८१

हे राजन् ! आप क्षुद्र कवि की भाँति स्वल्प श्लोक (थोड़े से श्लोकों को रचना करनेवाले कवि अथवा थोड़ी कीतिवाले) नहीं हैं; किन्तु बड़े हैं । और—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥३८२॥

अर्थ—यद्यपि सन्ध्या अनुरागमयी (लालिमा तथा प्रेमयुक्त) है और दिन उसके आगे-आगे चलता वा सामने आता है तथापि यह विचित्र दैवी गति है कि इन दोनों का समागम (मेल वा सयोग) नहीं होता । और—

आदाय चापमचलं कृत्वाहीन गुणं विषमदृष्टिः ।
यश्चित्रमच्युतशरो लक्ष्यमभाङ्क्षीन्नमस्तस्मै ॥३८३॥

अर्थ—उन महादेव जी को प्रणाम है, जिन्होंने अचल (पर्वत वा स्थिर) को धनुष बनाकर अहीन (सर्पराज वासुकि) को डोरी के स्थान पर बाँधकर, विपम दृष्टि (वा तीन आँखों) से अच्युत (विष्णु जी) को बाण बनाकर, (वा बिना बाण छोड़े ही) लक्ष्य पर प्रहार रूप आश्चर्य-जनक कार्य कर दिखाया ।

इत्यादावेकदेशविवर्तिरूपकश्लेषव्यतिरेकसमासोक्तिविरोधत्वमुचितम् नतु श्लेषत्वम् ।

ऊपर कहे गये इन उदाहरणों में क्रमशः एकदेशविवर्ति, रूपक, श्लेष, व्यतिरेक, समासोक्ति और विरोधाभास—इन चारों अलङ्कारों को मानना चाहिये और इन चारों मे से किसी को भी श्लेप कहना युक्ति-सङ्गत नहीं प्रतीत होता ।

शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालकार मध्ये च लक्ष्यतेकोऽयं नयः । किंच वैचित्र्यमलकार इति य एव कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता इति सर्वालकारभूमिः । अर्थमुखप्रेक्षित्वमतेषां शब्दानामिति चेत् अनुप्रासादीनामपि तथैवेति तेऽप्यर्थालकाराः किं नोच्यन्ते । रसादिव्यञ्जक स्वरूप-वाच्यविशेषसव्यपेक्षत्वेऽपि ह्यनुप्रासादीनामलंकारता । शब्दगुणदोषाणा-मप्यर्थापेक्षयैव गुणदोषता । अर्थगुणदोषालकाराणां शब्दपेक्षयैवव्यव-स्थितिरितितेऽपि शब्दगतत्वेनोच्यन्ताम् । 'विधौ वक्रे मूर्ध्नि' इत्यादौ च वर्णादि श्लेषे एकप्रयत्नोच्चार्यत्वे अर्थश्लेषत्वं शब्दभेदेऽपि प्रसज्यताः

मित्येवमादि स्वयं विचार्यम् ।

भला यह कौन-सा न्याय है कि नाम तो लिया जाय शब्दश्लेष का और गणना की जाय अर्थालङ्कार के बीच ? और भी, चमत्कार ही तो अलङ्कार है अतएव जो कार्य कवि प्रतिभा की चतुराई में परिणत होकर ज्ञानगोचर हो, वहीं पर विचित्रता (चमत्कारिता) रहती है, उसी को अलङ्कार का आधार भी समझना चाहिये । यदि कहो कि इन श्लेषवाले शब्दों को भी अर्थ की अपेक्षा बनी ही रहती है तो क्या अनुप्रास आदि के प्रकरण मे अर्थ की आकाङ्क्षा नही रहती ? फिर उन्हें भी अर्थालङ्कार क्यों नहीं कहते ? रसादि के प्रकाश रूप जो कोई विशेष वाच्यार्थ हैं उन्हीं के आधार पर लोग अनुप्रासादि को अलङ्कार स्वीकार करते हैं । शब्दों के गुण और दोष की पहिचान भी अर्थ ही के अनुसार होती है [तो उन्हें भी अर्थगत गुण और दोष मानना चाहिये ।] इसी प्रकार अर्थों के दोषों, गुणों और अलङ्कारों को भी शब्दों की अपेक्षा रहती ही है, ऐसा नियम है तो उन अर्थ के दोष, गुण और अलङ्कारों को भी शब्दगत ही क्यों न मानें ? 'विधौ वक्रे मूर्ध्नि' इत्यादि वर्णगत श्लेष के प्रकरण में एक ही प्रयत्न से उच्चारण किये गये शब्दों के भेद के रहते हुए भी अर्थश्लेष का प्रसङ्ग आ पड़ेगा—इत्यादि सभी बातों को बुद्धिमान् लोग अपने आप ही विचार कर निर्णय कर लें ।

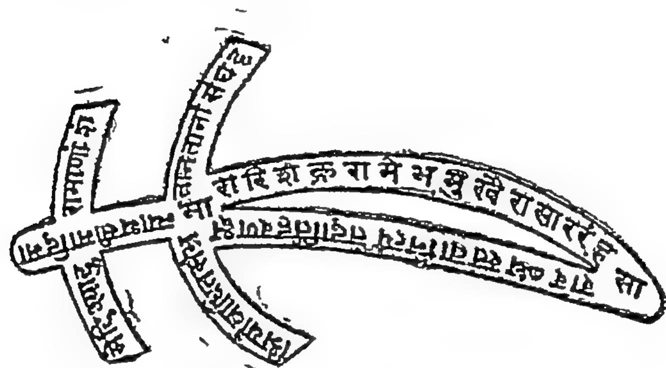
[अब चित्र नामक शब्दालङ्कार का निरूपण करते हैं :—]

(सू० १२१) तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ॥८५॥

अर्थ—चित्र उस प्रकार के (शब्दगत) अलङ्कार को कहते हैं, जहाँ पर अक्षरादिकों का विन्यास (रखना) ऐसे क्रम से हो कि उनके द्वारा खंग आदि के रूप बन जायँ ।

सन्निवेशविशेषेण यत्र न्यस्ता वर्णाः खड्ग-मुरज-पद्माद्याकारमुल्लासयन्ति तच्चित्रं काव्यम् । कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते । उदाहरणम् ।

अक्षरों के विशेषरूप से किये गये विन्यास द्वारा जहाँ पर ऐसी रचना (क्रम पूर्वक अक्षर योजना) हो कि उन अक्षरों से खड्ग, मुरज, पद्म इत्यादि के आकार भासित हों, तो उस काव्य को 'चित्र' कहते हैं ऐसे काव्य कठिनाई से प्रस्तुत होते हैं, अतः उनके कुछ थोड़े-से उदाहरण आगे दिखलाये जाते हैं—



खड्गबन्ध का चित्र

[खड्गबन्ध का उदाहरण :—]

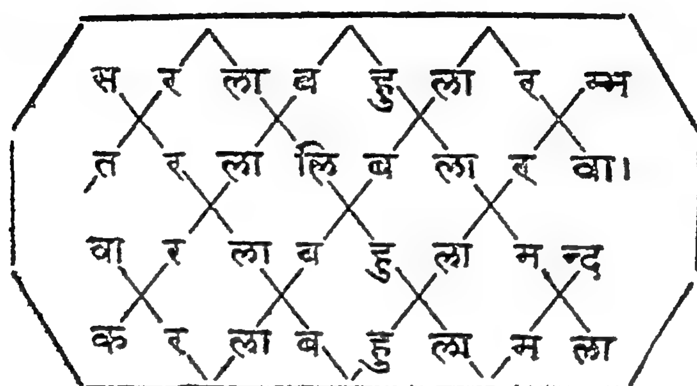
मारारिशक्रामेभमुखैरासाररहसा।
साराख्धस्तवा नित्यं तदार्तिहरणक्षमा ॥३८४॥
माता नतानां सङ्घट्टः श्रियां बाधितसंभ्रमा ।
मान्याऽथ सीमा रामाणां श मे दिश्यादुमादिमा ॥३८५॥(खड्गबन्धः)

अर्थ—संसार की मूलभूत, सुन्दरी स्त्रियों मे परम आदर के योग्य, प्रणत भक्तों को प्यार तथा उनके सन्देहों का निवारण करनेवाली, शोभा सम्पत्ति की खानि, वे पार्वती जी सदा हम लोगों का कल्याण करें, जिनकी कीर्ति का गान शिव, इन्द्र, श्रीराम तथा श्रीगणेशजी आदि देवता धारा प्रवाह सदृश प्रबलवेग युक्त वाक्यों द्वारा बड़े प्रेम से आरम्भ कर देते हैं, और जो उन सब की पीड़ाओं को दूर करने मे समर्थ हैं ।

[मुरजबन्ध का उदाहरण :—]

सरला बहुलारम्भतरलालिबलारवा ।

वारलाबहुलामन्दकरलाबहुलामला ॥३८६॥ (मुरजबन्धः)



मुरजबन्ध का चित्र

अर्थ—वह शरद ऋतु अत्यन्त उत्तम है, जिसमें मेघ आदि की कुटिलता नहीं होती, भ्रमरों के समूह बड़े आवेग के साथ गुञ्जार करते हैं; बहुत-सी हंसिनियाँ रहती हैं; राजागण बहुत उद्योगी हो जाते हैं, और जो कृष्ण पक्ष में भी (आकाश के स्वच्छ रहने से) अत्यन्त निर्मल बनी रहती है।

[पद्मबन्ध का उदाहरण :—]

भासते प्रतिभासार रसाभाताहताविभा ।

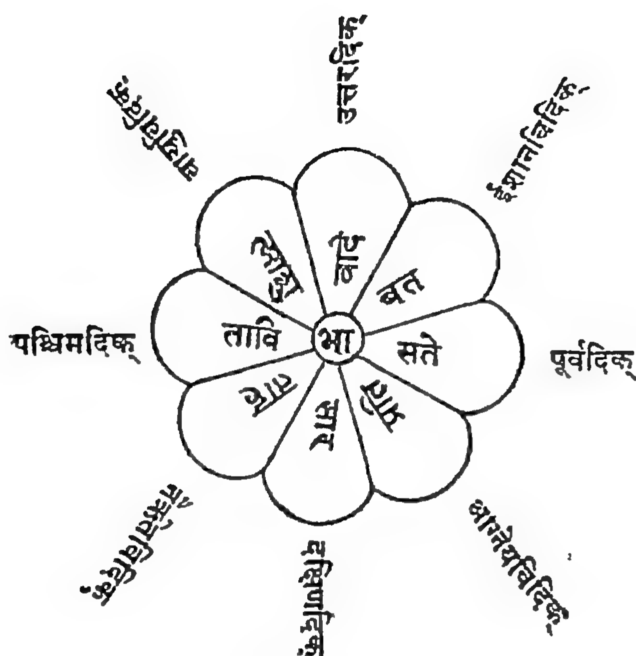
भावितात्मा शुभा वादे देवाभा बत ते सभा ॥३८७॥ (पद्मबन्धः)

अर्थ—हे श्रेष्ठ बुद्धिविशिष्ट राजन्! आपकी सभा देवताओं के तुल्य है, यह प्रीतिद्वारा सुशोभित (रसिक) उद्दीप्त (निर्दोष) आत्मज्ञ विद्वानों से परिपूर्ण और वाद विवाद में निपुण है।

[सर्वतोभद्र का उदाहरण :—]

रसासार रसा सारसायताक्ष क्षतायसा ।

सातावात! तवातासा रक्षतस्त्वस्वतक्षर! ॥३८८॥



सर्वतोभद्र का चित्र

अर्थ—हे पृथ्वी भर में श्रेष्ठ कमलदल के समान विशाललोचन, अज्ञान के विनाशकारी परम उदार चित्त राजन्! जब आप असार संसार की रक्षा में तत्पर हैं तो वह कल्याण के बाधक दुर्जनों के उपद्रव से रहित स्थिर स्वरूप बन जाय।

सम्भविनोऽप्यन्ये प्रभेदाः शक्तिमात्रप्रकाशका न तु काव्यरूपतां दधतीति न प्रदर्श्यन्ते।

इसी प्रकार के और भी अनेक भेद-प्रभेद चित्र काव्यों के हो सकते हैं, जो केवल कवि की विशिष्ट शक्ति ही के प्रकट करनेवाले हैं, नीरस होने के कारण उनमें काव्य विषयक चमत्कार नहीं रहता, अतएव वे यहाँ पर (अधिक विस्तारपूर्वक) नहीं दिखाये गये।

[अब पुनरुक्तवदाभास नामक शब्दालङ्कार का निरूपण कर रहे हैं—]

(सू० १२२) एकार्थतेव पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा ।

अर्थ—भिन्न-भिन्न प्रकारवाले (विलग-विलग आनुपूर्वी रखनेवाले) शब्दों में जहाँ पर एक ही अर्थ की सी प्रतीत हो (परन्तु अर्थ एक न होकर भिन्न-भिन्न हो) वहाँ पर पुनरुक्तवदाभास नामक अलङ्कार होता है।

भिन्नरूपसार्थकानर्थकशब्दनिष्ठमेकार्थत्वेन मुखे भासनं पुनरुक्तवदाभासः। स च—

भिन्न-भिन्न रूप रखनेवाले सार्थक और निरर्थक (दोनों प्रकार के) शब्दों के आश्रित एक ही से अर्थों की जहाँ पर आपाततः [ऊपरी दृष्टि से देखने पर] प्रतीत हो उसी को पुनरुक्तवदाभास नामक अलङ्कार समझना चाहिये। वह पुनरुक्तवदाभास नामक शब्दालङ्कार

(सू० १२३) शब्दस्य ।

केवल शब्द का आश्रित रहता है।

सभङ्गाभङ्गरूपकेवलशब्दनिष्ठः । उदाहरणम्

वह पुनरुक्तवदाभास कहीं-कहीं सभङ्ग और कहीं-कहीं अभङ्ग दोनों प्रकार से केवल शब्दों के आधार पर रहता है। उनमें से सभङ्ग शब्दनिष्ठ पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण :—

अरिवधदेहशरीरः सहसा रथिसूततुरगपादातः ।
भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः ॥३८६॥

अर्थ—शत्रु विनाशिनी चेष्टावाले बाणधारी योद्धाओं को (रण में) प्रेरित करनेवाला, रथी लोगों से शीघ्र भली-भाँति बाँधे गये घोड़ों, और पैदल सैनिकों के समूह को रखनेवाला, स्थिरता में पर्वत के समान, पृथ्वीतल का शिरोमणि यह राजा अपनी नम्रता के कारण शोभित रहता है।

[उक्त श्लोक में देह-शरीर, सारथी-सूत, और दान-त्याग, ये शब्द आपाततः पुनरुक्त-से जान पड़ते हैं; परन्तु वास्तव में सन्धि तोड़ देने

पर भिन्नार्थक हो जाते हैं। इस प्रकार वास्तव में यहाँ पुनरुक्ति नहीं है।

[अभङ्ग (बिना सन्धि द्वारा शब्दों के तोड़े) शब्दनिष्ठ पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण:—

चकासत्यङ्गनारामाः कौतुकानन्द हेतवः।
तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्तिनः ॥३६०॥

अर्थ—उस राजा के निकटवर्ती सुन्दर चित्तवाले पण्डित लोग, प्रशंसनीय अगवाली सुन्दरी स्त्रियों के साथ क्रीड़ा का आनन्द भोगनेवाले और नाच-गान आदि के कौतुक (चमत्कार) तथा आनन्द (अखण्ड सुखोपभोग) के पात्र बनकर, सुशोभित हो रहे हैं।

(सू० १२४) तथा शब्दार्थयोरयम् ॥८६॥

अर्थ—यह पुनरुक्तवदाभास नामक अलङ्कार शब्द तथा अर्थ इन दोनों के भी आश्रित रहता है।

उदहरणम्—

शब्दार्थोभयनिष्ठ पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण :—

तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखरः।
तेजो धाम महः पृथुमनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः ॥३६१॥

अर्थ—वह सिंह दुर्बल शरीर होकर भी प्रचुर बलशाली है। उसके तीक्ष्ण पञ्जे बड़े-बड़े हाथियों के रक्त से रँगे हुए हैं। वह प्रताप की खानि है, अत्यन्त गर्विष्ठ प्राणियों का भी स्वामी है, तथा विजयशील है।

[यहाँ पर 'तनु' और 'वपु' इन दोनों शब्दों का शरीर रूप एक अर्थ, 'करि' और 'कुञ्जर' इन दोनो शब्दों का हाथी रूप एक अर्थ, 'रुधिर' और 'रक्त' इन दोनों शब्दों का लोहू रूप एक अर्थ, 'तेज' 'धाम' और 'महः' इन तीनों शब्दों का तेज रूप एक अर्थ तथा 'इन्द्र', 'हरि' और 'जिष्णु' इन तीनों शब्दो का देवेन्द्र रूप एक अर्थ, आपा-

ततः पुनरुक्ति का ज्ञानोत्पादक है। इनमें से 'तनु', 'कुञ्जर', 'रक्त', 'धाम', 'हरि' और 'जिष्णु'—ये शब्द परिवर्तित नहीं किये जा सकते और 'वपु', 'करि', 'रुधिर' तथा 'इन्द्र'—ये शब्द समानार्थक शब्दों मे परिवर्तित हो सकते हैं। इनमें से जो शब्द परिवर्तन योग्य नहीं हैं वहाँ शब्दनिष्ठ और जो पलटने योग्य हैं वहाँ अर्थनिष्ठ पुनरुक्तवदाभास नामक अलङ्कार है। इसी कारण यह पुनरुक्तवदाभास उभयनिष्ठ कहलाता है।

अत्रैकस्मिन् पदे परिवर्तिते नालंकार इति शब्दाश्रयः अपरस्मिंस्तु परिवर्तितेऽपि स न हीयते इत्यर्थनिष्ठ इत्युभयालङ्कारोऽयम्।

उसी अर्थ को विशद करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि यहाँ एक ओर तो शब्दों के पलट देने से यह अलङ्कार नहीं रह जाता है, इस कारण वह शब्दनिष्ठ माना जाता है, और दूसरी ओर कुछ शब्दों के पलटने से भी यथापूर्व अलङ्कार बना रहता है और नष्ट नहीं होता, इस कारण वह अर्थनिष्ठ है। अतएव यह उभयालङ्कार (शब्दनिष्ठ और अर्थनिष्ठ दोनो) का उदाहरण हुआ।

दशम उल्लास

अर्थालंकारानाह—

अब प्रकरण के अनुसार अर्थालङ्कारों का निरूपण किया जाता है।

[उपमालङ्कार का लक्षण:—]

(सू० १२५) साधर्म्यमुपमा भेदे।

अर्थ—दो भिन्न-भिन्न पदार्थों के साधर्म्य [गुण क्रिया आदि रूप समान धर्म वाले होने का भाव] को उपमा के नाम से पुकारते हैं।

उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा।

साधर्म्य उपमान और उपमेय इन्हीं दोनों पदार्थों को समझना चाहिये। कार्य, कारण आदि का भी साधर्म्य होता है सही; परन्तु उन्हीं के समान धर्मवाले सम्बन्ध को (जो कवि की बुद्धि द्वारा कल्पित नहीं है) उपमा न स्वीकार करना चाहिये; किन्तु कवि बुद्धि द्वारा कल्पित उपमान और उपमेय के समान धर्मवाले सम्बन्ध का नाम उपमा है।

भेदग्रहणमनन्वयव्यवच्छेदाय।

यहाँ पर मूल कारिका मे जो 'भेद' शब्द कहा गया है उसका कारण यह है कि जिसमें अनन्वय नामक अलङ्कार से उपमालङ्कार का भेद प्रकट रहे, क्योंकि अनन्वय अलङ्कार में उपमान तथा उपमेय दोनों एक ही अर्थात् अभिन्न पदार्थ होते हैं।

[उपमा के भेदों के निरूपणार्थ कहते हैं:—]

(सू० १२६) पूर्णा लुप्ता च

अर्थात् उपमालङ्कार पूर्ण और लुप्त के भेद से दो प्रकार का होता है।

उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाप्रतिपादकानामुपादाने पूर्णा एकस्य द्वयोस्त्रयाणाम्वा लोपे लुप्ता।

उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और उपमा-सूचक वा, इव, यथा इत्यादि शब्द जब कहे जायँ अर्थात् उपमा के चारों अवयवों का उल्लेख वाक्य में किया गया हो तो पूर्णोपमा होती है, और जब इनमें से किसी एक या दो अथवा तीन का भी कथन न किया जाय अर्थात् किसी का लोप (अकथन) हो तो वह लुप्तोपमा होती है।

[आगे पूर्णोपमा का विभाग बतलाया जाता है:—]

(सू० १२७) साऽग्रिमा।

श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥८७॥

अर्थ—वह पहले कही गई पूर्णोपमा वाक्य, समास और तद्धित में श्रौती और आर्थी के भेद से प्रत्येक में दो दो भेद के अनुसार छः प्रकार की होती है। [जैसेः—(१) वाक्यगा श्रौती (२) समासगा श्रौती (३) तद्धितगा श्रौती (४) वाक्यगा आर्थी (५) समासगा आर्थी और (६) तद्धितगा आर्थी।]

अग्रिमा पूर्णा।

मूलकारिका में अग्रिमा से तात्पर्य पूर्णा से है। अर्थात् उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक पद विशिष्ट उपमा।

यथेववादिशब्दा यत्परास्तस्यैवोपमानताप्रतीतिरिति यद्यप्युपमानविशेषणान्येते तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् सम्बन्धं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे श्रौती उपमा। तथैव 'तत्र तस्येव' इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने।

यथा, इव, वा, व आदि शब्द जिन शब्दों के पीछे कहे जाते हैं उन्हीं के उपमान होने का ज्ञान भी उत्पन्न कराते हैं। इस रीति से यद्यपि वे उपमान हो के विशेषण रहते हैं, तथापि शब्दों की विचित्र शक्ति के बल से वे अपने श्रवणमात्र से षष्ठी विभक्ति की भाँति सम्बन्ध का बोध करा देते हैं, अतएव इन यथा, इव, व आदि शब्दों के उपस्थित रहने पर उपमा श्रौती (श्रवणमात्र से बोध करानेवाली) कहलाती है। वैसे ही 'तत्र तस्येव' (५।१।११६) इस पाणिनिसूत्र द्वारा प्रयुक्त

बना रहता है। अतः उसके योग में उपमा 'समासगा' ही होती है। पूर्णोपमा के भेदों के उदाहरण आगे क्रमशः दिये जाते हैं।

[वाक्यगा श्रौती उपमा का उदाहरणः—]

स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्नमुञ्चति।
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा ॥३६२॥

अर्थ—हे राजन्! जैसे पति को अपने अधीन रखनेवाली नायिका विशेष प्रेम के उत्पत्तिकारक रूप अपने प्यारे पति को नहीं छोड़ती, वैसे ही स्वप्न मे भी विजयलक्ष्मी आपका परित्याग नहीं करती।

[यहाँ पर 'स्वाधीनपतिका' नायिका उपमान, 'विजय श्री' उपमेय, 'परित्याग न करना' रूप साधारण धर्म और 'यथा' शब्द उपमा का वाचक है। इस प्रकार उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक शब्द—इन सबके उपस्थित रहने से यह पूर्णोपमा का उदाहरण हुआ।]

[वाक्यगा आर्थी उपमा का उदाहरणः—]

चकितहरिणलोललोचनायाः क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति।
सरसिजमिदमानन च तस्याःसममिति चेतसि सम्मदं विधत्ते ॥३६३॥

अर्थ—भयभीत हरिणी के नेत्रों के समान चञ्चल नेत्रोंवाली, क्रोधकाल मे गाढ लालरङ्ग के स्वच्छ मोती-सी जिसकी शोभा हो जाती है, उस नायिका का मुख और ये कमल दोनो पदार्थ नायक के मन में एक साथ ही हर्ष उत्पन्न करते हैं।

[यहाँ पर कमल उपमान, नायिका का मुख उपमेय, अरुण के समान शोभा साधारण धर्म और सम शव्द उपमावाचक है।]

[समासगा श्रौती उपमा का उदाहरण :—]

अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानां दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः।
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार ॥३६४॥

अर्थ—जैसे भगवान् श्रीकृष्णजी अपने जानुओं तक पहुँचनेवाली अत्यन्त लम्बी, गर्विष्ठ, राक्षसों को दबानेवाली, स्वर्गीय कान्ति द्वारा

चमकीली, लक्ष्मी जी के विलास की आधारभूत, अविनाशिनी चारो भुजाओं से ससार की रक्षा करते हैं; वैसे ही यह राजा अपने साम, दाम, भेद और विग्रह रूप चारों उपायों से पृथ्वी की रक्षा करता है। ये उपाय परिणाम में शुद्धिविशिष्ट, अभिमानियों को दण्डप्रद, उत्कृष्ट प्रभावशाली, सफल और घने विस्तार के कारणस्वरूप हैं।

[यहाँ पर भुजाएँ उपमान, उपाय उपमेय, अत्यायत आदि साधारण धर्म और इव उपमावाचक है।]

[समासगा आर्थी उपमा का उदाहरण :—

अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः ।

सुरतरुसदृशः स भवानभिलषणीयः क्षितीश्वर ! न कस्य ॥२९५॥

अर्थ—हे पृथ्वीराज ! कल्पद्रुम के समान मनोरथ मार्ग के विस्तार को सफल करने के कारण जिसके उत्कृष्ट गुणों की मधुर महिमा गाई गई है—ऐसे आपको कौन नहीं चाहता ?

[यहाँ पर कल्पद्रुम उपमान, आप (राजा) उपमेय, प्रगुणमहिमायुक्त अथवा अभिलषणीयत्व साधारण धर्म तथा सदृश शब्द उपमा का बोधक है।]

[एक ही श्लोक के पूर्वार्द्ध में तद्धितगा श्रौती उपमा और उत्तरार्द्ध में तद्धितगा आर्थी उपमा का उदाहरण :—]

गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्य गङ्गाभुजङ्गवत् ।

दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत् ॥२९६॥

अर्थ—उस राजा की गम्भीरता का बड़प्पन तो समुद्र की भाँति है और युद्ध मे वह ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के समान कठिनाई से अवलोकन योग्य हो जाता है।

[यहाँ पर पूर्वार्द्ध में समुद्र उपमान, राजा उपमेय, गाम्भीर्य, गरिमा साधारण धर्म और वत् 'तत्र तस्येव' सूत्रानुसार उपमावाचक शब्द है। इस प्रकार यह तद्धितगा श्रौती उपमा का उदाहरण हुआ। उत्तरार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु का सूर्य उपमान, राजा उपमेय, कठिनाई से

अवलोकन योग्य साधारण धर्म और वत् (तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः के अनुसार) उपमाबोधक शब्द है। अतः यह तद्धितगा आर्थी उपमा का उदाहरण हुआ। इस प्रकार पूर्णोपमा के छ प्रकार के उदाहरण ऊपर दिखाये जा चुके।]

स्वाधीनपतिका कान्तं भजमाना यथा लोकोत्तरचमत्कारभूः तथा जयश्रीस्त्वद्‌सेवनेनेत्यादिना प्रतीयमानेन विना यद्यपि नोक्तेर्वैचित्र्यम् वैचित्र्यं चालङ्कारः तथापि न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारः। न खलु व्यङ्ग्यसंस्पर्शपरामर्शादत्र चारुताप्रतीतिः अपि तु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव। रसादिस्तु व्यङ्ग्योऽर्थोऽलङ्कारान्तरं च सर्वत्राव्यभिचारीत्यगणयित्वैव तदलङ्कारा उदाहृताः। तद्रहितत्वेन तु उदाह्रियमाणा विरसतामावहन्तीति पूर्वापरविरुद्धाभिधानमिति न चोदनीयम्।

यद्यपि 'स्वप्नेऽपि' इत्यादि प्रतीकवाले श्लोक में 'स्वाधीनपतिका नायिका जैसे पति का सेवन करते हुए अलौकिक चमत्कार का विषय होती है, वैसे ही आपके सेवन द्वारा विजयश्री भी विचित्र चमत्कार उत्पन्न करती है' ऐसे व्यंग्य अर्थ का जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक उक्ति की कोई विचित्रता नहीं जान पड़ती और विचित्रता ही का नाम अलङ्कार है; तथापि इस प्रकरण में ध्वनिकाव्य अथवा गुणीभूत व्यंग्य का नाम नहीं लिया जाता। इसका कारण यह है कि यहाँ पर व्यंग्य ही के सम्बन्ध मात्र से उत्कर्ष का ज्ञान नहीं होता है; किन्तु केवल वाच्य अर्थ ही की विचित्रता के अनुसन्धान द्वारा उत्कर्ष प्रतीति होती है। रसादिक रूप व्यंग्य अर्थ अथवा और और अलङ्कारों समेत कोई एक अलङ्कार तो अवश्य कहीं न कहीं एक साथ पाया ही जाता है, अतएव उन सबकी गणना बिना किये ही (मुख्यतया) किसी एक अलंकार के नाम से उनके उदाहरण उद्धृत किये हैं। यदि व्यंग्य अर्थ वा अलंकारान्तरों से रहित उदाहरण ही दिये जायँ तो वे नीरस प्रतीत होंगे। इसलिये यहाँ पर किसी एक अलंकार के उदाहरण स्थल में व्यंग्य अर्थ वा अन्यान्य अलंकारों का उपस्थित रहना पूर्व कथन से विरुद्ध पड़ता

है, ऐसी शंका न उठानी चाहिये।

[अब लुप्तोपमा का विभाग प्रदर्शित करते हुए प्रथम पाँच प्रकार की धर्मलुप्ता (उपमा) का वर्णन कर रहे हैं—]

(सू० १२८) तद्वद्धर्मस्य लोपे स्यान्न श्रौती तद्धिते पुनः ।

अर्थ—पूर्णोपमा ही की भाँति धर्मलुप्ता उपमा के भेद होते हैं; परन्तु तद्धित मे श्रौती धर्मलुप्ता उपमा नही होती है।

धर्मः साधारणः । तद्धिते कल्पबादौ त्वार्थ्येव । तेन पञ्च ।

उदाहरणम्

मूल कारिका मे धर्म शब्द से तात्पर्य उपमा के प्रकरणवाले साधारण गुण (अर्थात् उपमान और उपमेय के साधारण गुण) से है। तद्धित शब्द से तात्पर्य 'कल्पप्' आदि प्रत्ययो से है, जो सादृश्यरूप अर्थ प्रकट करते हैं। निदान धर्मलुप्ता उपमा के केवल पाँच ही भेद होंगे (क्योंकि तद्धितगा श्रौती उपमा के उदाहरण मे साधारण धर्म का उपस्थित रहना आवश्यक है) तदनुसार धर्मलुप्ता उपमा में (साधारण धर्म के लोप के कारण) तद्धितगा श्रौती उपमा का भेद नहीं रह सकता। पाँचों प्रकार की धर्मलुप्ता उपमा के भेद आगे क्रमशः प्रदर्शित किये जाते हैं।

[वाक्यगा धर्मलुप्ता श्रौती उपमा का उदाहरण :—]

धन्यस्यानन्यसामान्यसौजन्योत्कर्षशालिनः ।
करणीयं वचश्चेतः सत्यं तस्यामृतं यथा ॥३९७॥

अर्थ—हे चित्त ! असाधारण सज्जनता के प्रभाव से विशिष्ट, धन्यवाद के पात्र उस साधु मनुष्य के कथन को अमृत के समान सन्तोषजनक समझकर अवश्यमेव करना चाहिये।

[यहाँ पर अमृत उपमान, वचन उपमेय और यथा उपमा का वाचक शब्द है। सन्तोषजनकत्व आदि साधारण धर्म अधिक प्रसिद्ध होने के कारण नहीं कहे गये। इसी से यह धर्मलुप्ता वाक्यगा श्रौती उपमा का उदाहरण हुआ।]

[वाक्यगा धर्मलुप्ता आर्थी उपमा का उदाहरण :—]

आकृष्टकरवालोऽसौ संपराये परिभ्रमन् ।
प्रत्यर्थिसेनया दृष्टः कृतान्तेन समः प्रभुः ॥३९८॥

अर्थ – यह राजा युद्ध में तलवार खींचकर घूमता हुआ शत्रुओं की सेना को यमराज के समान दिखलाई पड़ा ।

[यहाँ पर कृतान्त (यम) उपमान, राजा उपमेय और सम यह उपमा बोधक शब्द है तथा क्रूरता, भयङ्करता आदि साधारण धर्म अति प्रसिद्ध होने से लुप्त हैं ।]

[एक ही श्लोक में समासगा श्रौती और समासगा आर्थी तथा तद्धितगा आर्थी तीनों प्रकार की धर्मलुप्ता उपमा का उदाहरण:—]

करवालइवाचारस्तस्य वागमृतोपमा ।
विषकल्पं मनो वेत्सि यदि जीवसि तत्सखे ! ॥३९९॥

अर्थ—हे मित्र ! उस दुष्ट का व्यवहार तलवार के समान है, और उसके वचन अमृत सरीखे हैं । यदि तुम उसके विष सदृश अन्तःकरण को पहिचान लोगे तो जीते बचोगे ।

[यहाँ पर प्रथम वाक्य में करवाल उपमान, दुष्टजन उपमेय और इव शब्द उपमा का वाचक है और घातकत्वरूप साधारण धर्म लुप्त है । द्वितीय वाक्य में अमृत उपमान, वाक् उपमेय और 'उपमा' उपमा वाचक शब्द है, तथा मीठापन रूप साधारण-धर्म लुप्त है । तृतीय वाक्य में विष उपमान मन उपमेय, कल्प उपमा बोधक शब्द और नाशक स्वरूप साधारण धर्म लुप्त है । इस प्रकार धर्मलुप्ता उपमा के पाँचों भेद ऊपर प्रदर्शित किये जा चुके ।]

[अब दो प्रकार के भेदोंवाली उपमानलुप्ता उपमा के विषय में कहते हैं—]

(सू० १२९) उपमानानुपादाने वाक्यगाऽथ समासगा ॥८८॥

अर्थ—यदि उपमान का ग्रहण न किया जाय, (अर्थात् उपमान लुप्त हो) तो वाक्यगा और समासगा नामक दो भेद उपमानलुप्ता

उपमा के होंगे ।

[वाक्यगा उपमानलुप्ता का उदाहरण :—]

सअलकरणपरवीसामसिरिविअरणं ण सरसकव्वस्स ।
दीसइ अह व णिसम्मइ सरिसं अंसंसमेत्तेण ॥४००॥

[छाया—सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरणं न सरसकाव्यस्य ।
दृश्यतेऽथवा निशम्यते सदृशमंशांशमात्रेण ।]

अर्थ—सभी इन्द्रियों के लिये उच्चकोटि की विश्रामदायिनी सम्पत्ति का वितरण करनेवाले रसीले काव्य की किसी भी अंश में समता करनेवाले अन्य कोई विषय देखने वा सुनने में नहीं आते ।

[यहाँ पर काव्य उपमेय 'सकल करण पर विश्राम श्री वितरण' (सभी इन्द्रयों के लिये उच्चकोटि की विश्रामदायिनी सम्पत्ति का वितरण करनेवाले) साधारण धर्म और समास से विलग सदृश शब्द उपमा बोधक है। अमृतादि रूप उपमान अति प्रसिद्ध होने के कारण: लुप्त हैं ।

कव्वस्सेत्यत्र कव्वसममिति सरिसमित्यत्र च णूणमिति पाठे एपैव समासगा ।

इसी ऊपर के श्लोक का पाठ यदि इस प्रकार कर दिया जायः— सअलकरण परवीसामसिरिविअरणं ण सरस कव्वसमं । दीसइ अह विणि सम्मइ णूणम् अंससमेतेण ॥ [छाया—सकलकरणपरविश्राम-श्रीवितरणं न सरस काव्यसमम् । दृश्यतेऽथवा निशम्यते नूनं अंशांश-मात्रेण ॥] (अर्थ पूर्व श्लोक ही की भाँति होगा ।) तो समासगा उपमानलुप्ता का उदाहरण हो जायगा ।

[उपमानलुप्ता उपमा चाहे वाक्यगा हो चाहे समासगा दोनों दशाओं में उपमा आर्थी ही होती है। वा आदि उपमावाचक शब्दों के लुप्त रहने पर लुप्तोपमा के छः प्रकार के भेदों का निरूपण करने के लिये आगे कहते हैं—]

(सू० १२०) वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि ।

कर्मकर्त्रोर्णमुलि

अर्थ—वह उपमा वा आदि के लुप्त कर देने से समासगा, कर्मरूप क्यच् प्रत्ययवाली, आधाररूप क्यच् प्रत्ययवाली, क्यङ् प्रत्ययवाली, कर्मकारक में उपपद विभक्तियुक्त णमुल् प्रत्ययवाली और कर्ताकारकरूप उपपद विभक्तियुक्त णमुल प्रत्ययवाली होती है।

वाशब्दः उपमाद्योतक इति वादेरुपमाप्रतिपादकस्य लोपे षट् समासेन कर्मणोऽधिकरणाच्चोत्पन्नेन क्यचा कर्तुः क्यङा कर्मकर्त्रोरुपपदयोर्णमुला च भवेत्। उदाहरणम्—

मूल कारिका का विशद अर्थ प्रकट करने के लिये कहते हैं कि वा शब्द उपमा का द्योतक है। वा इत्यादि उपमा के प्रतिपादक (सूचक) शब्दों के लुप्त रहने पर छ प्रकार के भेद होते हैं। जैसे :—(१) समास द्वारा, (२) कर्म से उत्पन्न क्यच् प्रत्यय, (३) अधिकरण से उत्पन्न क्यच् प्रत्यय, (४) कर्ता के साथ क्यङ् प्रत्यय, (५) कर्मोपपद समेत णमुल् और (६) कर्ता उपपद समेत णमुल्। आगे यथाक्रम सब के उदाहरण दिये जाते हैं—

[वादिलुप्ता द्विपद समासगा उपमा का उदाहरणः—)

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलङ्कृता ॥४०१॥

अर्थ—तदनन्तर नेत्रों को आनन्द देनेवाले कुमुदनायक चन्द्रमा ने, जो विरहिणी स्त्रियों के कपोल के समान पीतवर्ण का था, पूर्व दिशा को सुशोभित किया।

[यहाँ पर 'कामिनीगण्डपाण्डुना' इस पद मे 'इव' यह उपमा वाचक शब्द लुप्त है और समास भी द्विपद (दो पदवाला) है।]

तथा

[वादिलुप्ता बहुपद समासगा का उपमा उदाहरण :—]

असितभुजगभीषणासिपत्रो रुहरुहिकाहितचित्ततूर्णचारः।
पुलकिततनुरुत्कपोलकान्तिः प्रतिभटविक्रमदर्शनेऽयमासीत् ॥४०२॥

अर्थ—शत्रुओं का पराक्रम देखने पर इस वीर की पत्र सदृश तलवार काले नाग के समान भयानक हो गई। सहसा उत्कण्ठा से भरे हुए चित्त के कारण वह शीघ्र चलने लगा। उसका शरीर रोमाञ्चित हो गया और उसके दोनों कपोलो की शोभा भी चमक उठी।

[यहाँ पर कृष्णसर्प उपमान, असिपत्र उपमेय, भीषणत्व साधारण धर्म है। तथा वा आदि उपमावाचक शब्द लुप्त हैं।

[एक ही श्लोक में कर्म से उत्पन्न क्यच् प्रत्यय, अधिकरण से उत्पन्न क्यच् प्रत्यय तथा क्यङ् प्रत्ययविशिष्ट वादिलुप्ता उपमा का उदाहरण :—

पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसावन्तःपुरीयति विचित्र चरित्रचुन्चुः।
नारीयते समर सीम्नि कृपाणपाणेरालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना॥४०३॥

अर्थ—यह राजा अपने पुरवासियो के साथ पुत्र-सा व्यवहार रखता है और अपने अद्भुत चरित्रों के कारण प्रसिद्ध होकर युद्ध में रनिवास की भाँति स्वतन्त्र घूमता है। जब वह हाथ मे तलवार लिये रहता है तब शत्रुओं की सेना उसके चरित्रों को देख स्त्रियों के समान (भीरु होकर) आचरण करने लगती है।

[यहाँ पर 'सुतीयति' (पुत्र-सा व्यवहार करता है) मे कर्मपद से आचारार्थ 'क्यच्' प्रत्यय है। 'अन्तःपुरीयति' (रनिवास के समान स्वच्छन्द आचरण करता है) मे अधिकरण पद से आचारार्थक क्यच् प्रत्यय हुआ है और 'नारीयते' (स्त्री के समान आचरण करती है) में कर्तृपद मे आचारार्थ 'क्यङ्' प्रत्यय लगा है। सभी स्थलों में वा आदि सदृशार्थ बोधक शब्द लुप्त हैं। प्रथम वाक्य में पुत्र उपमान, पौर उपमेय और परिपालन साधारण धर्म है, द्वितीय वाक्य मे अन्तः पुर उपमान, समरान्तर उपमेय और स्वच्छन्द विहार साधारण धर्म है। तृतीय वाक्य मे नारी उपमान, शत्रु सेना उपमेय तथा भीरुता साधारण धर्म है। इस प्रकार तीनो वाक्यों मे तीनों प्रकार की वादिलुप्ता उपमा के उदाहरण दिखा दिये गये।]

[कर्म और कर्त्ता दोनों मे 'णमुल्' प्रत्ययवाले वादिलुप्ता उपमा के उदाहरण एक ही श्लोक में आगे दिखलाये जाते हैं।]

मृधे निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति तं परे।
स पुनः पार्थसंचारं सचरत्यवनीपतिः ॥४०४॥

अर्थ—शत्रुगण उस राजा को युद्धस्थल मे ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के समान देखते हैं और युद्ध में तो वह पार्थ (अर्जुन) के समान सञ्चार (भ्रमण) करता है।

[यहाँ पर पूर्वार्द्ध मे 'निदाघ घर्मांशु' (ग्रीष्म का सूर्य) उपमान, राजा उपमेय और देखना साधारण धर्म है तथा वा आदि उपमा के प्रतिपादक शब्द लुप्त हैं। उत्तरार्द्ध में पार्थ उपमान, राजा उपमेय और सञ्चार साधारण धर्म है तथा वा आदि उपमा के प्रतिपादक शब्द लुप्त हैं। इस प्रकार छः प्रकार के वादि लुप्ता उपमा के उदाहरण दिखाये जा चुके। सब मिलाकर तेरह प्रकार की लुप्तोपमा का निरूपण किया गया। पाँच प्रकार की धर्मलुप्ता, दो प्रकार की उपमानलुप्ता और छः प्रकार की वादि लुप्ता। अर्थात् तेरह प्रकार की एकलुप्ता उपमा हुई।

[अब द्विलुप्ता उपमा के भेदों में से प्रथम धर्म और वा आदि के एकत्र लोप का भेद बतलाते हैं—]

(सू० १२१) एतद्द्विलोपे क्विप्समासगा ॥८६॥

अर्थ—इन दोनों के लोप करने पर क्विप् प्रत्यय तथा समास से युक्त दो प्रकार की (द्विलुप्ता) उपमा होती है।

एतयोर्धर्मवाद्योः। उदाहरणम्

मूल कारिका मे जो 'द्विलोप' पद आया है उसका धर्म तथा वा आदि—इन दोनों के लोप से तात्पर्य है। इन दोनों भेदों में से क्विप्गा उपमा का उदाहरण आगे दिया जा रहा है।

सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥४०५॥

अर्थ—जब किसी मनुष्य का चित्त सुख या दुःख के वशीभूत हो जाता है तब उसके लिये सूर्य चन्द्र सदृश (आह्लादक) और चन्द्र सूर्य सदृश (तापक) हो जाता है, वैसे ही रात्रि दिन के समान सुखदा और दिन रात्रि के समान दुःखद होने लगते हैं।

[यहाँ पर सूर्य और चन्द्र तथा दिन और रात परस्पर उपमान उपमेय हैं। सुखद तथा दुःखद ये साधारण धर्म हैं, इनके साथ वा आदि उपमावाचक शब्द लुप्त है।]

[समासगा उपमा का उदाहरण :—]

परिपन्थिमनोराज्यशतैरपि दुराक्रमः।
सम्परायप्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुञ्जरः ॥४०६॥

अर्थ—युद्धस्थल में प्रवृत्त, शत्रुओं के सैकडों मनोरथों के द्वारा भी दुष्प्राप्य यह राजकुंजर (हाथी के समान दुराधर्ष राजा) सुशोभित हो रहा है।

[यहाँ पर 'राजकुञ्जर' इस सामासिक पद में राजा उपमेय और कुञ्जर (हाथी) उपमान है, तथा दुराधर्षत्व रूप साधारण धर्म और वादिउपमा सूचक शब्द लुप्त हैं।]

[अब धर्म और उपमान दोनों के एकत्र लोप के विषय में कहते हैं :—]

(सू० १३२) धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते।

अर्थ—धर्म और उपमान के एकत्र लोप के उदाहरण सामासिक पदों तथा वाक्यों में भी देखने में आते हैं। [इनमे से समासगा उपमा का उदाहरण :—]

दुण्दुण्णन्तो मरिहिसि कण्टअकलिआइँ केअइवणाइं।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर भमन्तो ण पाविहिसि ॥४०७॥

[छाया— दुण्दुणायमानो मरिष्यसि कण्टककलितानि केतकीवनानि।
मालतीकुसुमसदृक्षं भ्रमर भ्रमन् न प्राप्स्यसि।]

अर्थ—[कोई नायिका अपने सौभाग्य की सूचना पास में खड़े

हुए अपने प्रियतम को देती हुई भ्रमर से कह रही हैं—] हे भ्रमर! काँटे से भरे केतकी के वनों मे टुनटुन शब्द करते हुए तुम चाहे मर भी जाओ; किन्तु तुम्हें मालती के फूल के समान कोई दूसरा फूल नहीं मिलेगा।

[यहाँ पर मालतीकुसुम उपमेय है और सदृक्ष उपमावाचक शब्द है; किन्तु उत्कृष्टपुष्पत्व रूप साधारण धर्म और मालती सदृश किसी अन्य पुष्परूप उपमान का लोप किया गया है।]

कुसुमेण सममिति पाठे वाक्यगा।

इसी श्लोक मे यदि 'कुसुम सदृक्षं' के स्थान में 'कुसुमेण समं' ऐसा पाठ करके पढ़ा जाय तो धर्मोपमानलुप्ता (असमासगा) वाक्यगा उपमा का उदाहरण बन जायगा।

[वा आदि और उपमेय के लोप के विषय में कहते हैं :—]

(सू० १३३) क्यचि वाद्युपमेयासे।

अर्थात्—वादि और उपमेय के लोप का उदाहरण 'क्यच्' प्रत्ययवाले वाक्य मे पाया जाता है।

आसे निरासे—

मूल कारिका में 'आसे' से तात्पर्य 'निरासे' अर्थात् अनुपस्थित वा लोप होने की अवस्था से है। उदाहरण :—

अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः।
कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥४०८॥

अर्थ—शत्रुओं के पराक्रम के देखने से जिसकी आँखें खिल जाती हैं और तलवार के ग्रहण करने से जिसका भुजदण्ड उदग्र (उत्कृष्ट वा भीषण) हो रहा है वह राजा सहस्रायुध धारण करनेवाले सहस्रार्जुन के समान अपने को समझने लगता है।

अत्रात्मा उपमेयः।

यहाँ पर राजा का आत्मा उपमेय है वही लुप्त है और वा आदि उपमावाचक शब्द भी नहीं कहे गये हैं। सहस्रायुध (अर्जुन) उपमान

और तद्वत् अपने को मानना (दुर्जयमानिता) यह साधारण धर्म है।

[अत्र वादि, धर्म, और उपमान इन तीनों के लुप्त होने पर त्रिलुप्ता उपमा के विषय मे कहते हैं :—

(सू० १३४) त्रिलोपे च समासगा ॥६०॥

अर्थात् तीनों के लुप्त रहने पर समासगा उपमा होती है।

त्रयाणां वादिधर्मोपमानानाम् उदाहरणम्—

यहाँ पर तीनों से तात्पर्य वादि, धर्म तथा उपमान से है। उदाहरण :—

तरुणिमनि कृतावलोकना ललितविलासवितीर्णविग्रहा।
स्मरशरविसराचितान्तरा मृगनयना हरते मुनेर्मनः ॥४०६॥

अर्थ—जिसे अपने शरीर मे युवावस्था की प्राप्ति का ज्ञान हो गया है, जो मनोहरता और विलास के लिये अपना शरीर समर्पण कर चुकी है तथा कामदेव के बाण समूहों से जिसका चित्त भरा हुआ है वह हरिण सदृश नेत्रोंवाली स्त्री तपस्वी मुनियों के मन को भी लुभा लेती है।

अत्र सप्तम्युपमानेत्यादिना यदा समासलोपौ भवतस्तदेदमुदाहरणम्।

यहाँ पर यदि 'सप्तम्युपमाने' आदि वार्तिक के अनुसार समास किया जाय और वादि, धर्म, तथा उपमान इन तीनों का लोप स्वीकार किया जाय, अर्थात् मृग के लोचनों के समान चञ्चल लोचन हों जिस (स्त्री) के—ऐसा विग्रह किया जाय तो यह त्रिलुप्ता उपमा का उदाहरण माना जा सकता है। यहाँ पर लोचन रूप उपमान, चञ्चल स्वरूप साधारण धर्म और वा आदि उपमा वाचक शब्दों के लुप्त रहने रहने से तथा मृगनयनारूप उपमेय के उपस्थित रहने से त्रिलुप्ता उपमा का उदाहरण प्रदर्शित हुआ।

क्रूरस्याचारस्यायःशूलतयाऽध्यवसायात् अयःशूलेनान्विच्छति 'आयःशूलिकः' इत्यतिशयोक्तिर्न्नतु क्रूराचारोपमेयतैक्ष्ण्यधर्मवादीनां लोपे

त्रिलोपेयमुपमा ।

'आयःशूलिकः' शब्द का अर्थ लोहे की शलाका सदृश व्यवहार कर्ता है, इस प्रकार कठोर आचार का 'अयःशूलता' अर्थात् लोहे की शलाका सदृश व्यवहार—यह अर्थ होता है। निदान कुछ लोग 'आयः-शूलिकः पद मे त्रिलुप्ता उपमा मानते हैं। उनका कहना है कि यहाँ पर केवल उपमान 'अयःशूल' पद तो उपस्थित है और क्रूराचार रूप उपमेय, तीक्ष्णतारूप साधारण धर्म और वा आदिक उपमा वाचक शब्द लुप्त हैं। यह ठीक नहीं; किन्तु कठोर व्यवहार के लिये 'अयः शूलता' पद का उपयोग अतिशयोक्ति युक्त मानना चाहिये।

एवमेकोनविंशतिर्लुप्ताः पूर्णाभिः सह पञ्चविंशतिः ।

इस प्रकार उन्नीस प्रकार की लुप्तोपमा तथा छ प्रकार की पूर्णोपमा होती हैं। इन सबको मिलाकर उपमा के पचीस भेद हुए।

[अब मालोपमा का निरूपण करते हैं। जहाँ पर एक ही उपमेय के कई एक उपमान कहे जायँ वहाँ पर साधारण धर्म चाहे अभिन्न हो अथवा भिन्न ही हो दोनों दशाओं में मालोपमा ही मानी जायगी।]

[अभिन्न साधारण धर्मवाली मालोपमा का उदाहरण:—]

अनयेनेव राज्यश्रीर्दैन्येनेव मनस्विता ।
मम्लौ साऽथ विषादेन पद्मिनी व हिमाम्भसा ॥४१०॥

अर्थ—जैसे अनीति द्वारा राज्यलक्ष्मी, दीनता द्वारा स्वेच्छाचार और पालाद्वारा कमलिनी मलिन पड जाती है वैसे ही वह नायिका विषाद (विरह जनित पीड़ा) के कारण मुरझा गई।

इत्यभिन्ने साधारणे धर्मे ।

यहाँ पर नायिका उपमेय है, म्लान होना रूप अभिन्न धर्म है और राज्यश्री, मनस्विता तथा पद्मिनी—ये तीन उपमान हैं, अतएव यह अभिन्न साधारण धर्मवाली मालोपमा का उदाहरण हुआ।

[भिन्न-भिन्न साधारण धर्मोंवाली मालोपमा तब होगी जब कि कई एक उपमानों में साधारण धर्म भिन्न-भिन्न हों। जैसे:—]

ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुरेव मदकारणम् ।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ॥४११॥

अर्थ—यह प्रशस्त नितम्बवाली नायिका चाँदनी के समान आँखों को सुख देनेवाली, मदिरा के समान मद (नशा) को उत्पन्न करनेवाली और प्रभुता के समान सब लोगों को निज वश मे करनेवाली है।

[यहाँ पर नायिका उपमेय है, ज्योत्स्ना, सुरा और प्रभुता ये तीन उपमान हैं तथा नयनानन्द, मद कारण और समाकृष्ट सर्वलोक—ये भिन्न-भिन्न साधारण धर्म हैं ।]

इति भिन्ने च तस्मिन् एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमा । यथोत्तरमुपमेयस्योपमानत्वे पूर्ववदभिन्नभिन्नधर्मत्वे

इस प्रकार साधारण धर्म के भिन्न-भिन्न होने पर एक ही उपमेय के अनेक उपमान उपस्थित होने के कारण यह मालोपमा का उदाहरण हुआ । इसी प्रकार यदि क्रमशः पूर्व-पूर्व वाले उपमेय पीछे-पीछे उपमान रूप से कहे जायँ तो मालोपमा ही की भाँति रशनोपमा के भी दो-दो भेद हो सकते हैं। उनमें से अभिन्न साधारण धर्मवाली रशनोपमा का उदाहरण :—

अनवरतकनकवितरणजललवभृतकरतरङ्गिताथिततेः ।
भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा चेष्टेव कीर्तिरतिविमला ॥४१२॥

अर्थ—हे राजन् ! निरन्तर सुवर्ण दान करने के लिए हाथ मे सङ्कल्प का जलबिन्दु भरे, याचकों की भीडों को लहर के समान बढ़ाते हुए आपकी भाषा के समान बुद्धि, बुद्धि के सदृश चेष्टा और चेष्टा के सदृश कीर्त्ति अत्यन्त विमल है।

[यहाँ पर केवल एक (अभिन्न) विमलत्व साधारण गुण है, जो क्रमशः सभी उपमेयों और उपमानों मे रखा गया है अतः यह अभिन्न साधारण धर्मवाली रशनोपमा का उदाहरण हुआ :—]

[भिन्न-भिन्न धर्मोंवाली रशनोपमा का उदाहरण :—]

मतिरिव मूर्त्तिर्मधुरा मूर्त्तिरिव सभा प्रभावचिता ।
तस्य सभेव जयश्रीः शक्या जेतुं नृपस्य न परेषाम् ॥४१३॥

अर्थ—उस राजा के बुद्धि के समान उसकी मूर्त्ति प्यारी है, मूर्त्ति ही के समान उसकी सभा प्रभावशालिनी है और सभा के समान उसकी विजयश्री शत्रुगणों से जीते जाने योग्य नहीं है ।

[यहाँ पर मूर्त्ति आदि पूर्व-पूर्व उपमेय और उत्तरोत्तर उपमान में मधुरत्व आदि साधारण धर्म भिन्न-भिन्न हैं ।]

इत्यादिका रशनोपमा च न लक्षिता एवंविधवैचित्र्यसहस्रसंभवात् उक्तभेदानतिक्रमाच्च ।

इस प्रकार सहस्रों प्रकार की विचित्रताएँ हो सकती हैं; परन्तु वे उक्त उपमा के भेदों से विलग न होने के कारण पृथक् पृथक् प्रदर्शित नहीं की गईं ।

[अनन्वयालङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १३५) उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।
अनन्वयः

अर्थात्—यदि एक ही धर्मी (वस्तु) के (उपमा प्रतिपादक) एक ही वाक्य में उपमान और उपमेय रूप धर्म कहे जायँ तो वहाँ पर अनन्वय नामक अलङ्कार होता है ।

अनन्वय शब्द से यह तात्पर्य है कि जहाँ पर किसी भिन्न उपमान का सम्बन्ध न कहा जाय । उदाहरण :—

न केवलं भाति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव ।
यावद्विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासा इव तद्विलासाः ॥४१४॥

अर्थ—न केवल अत्यन्त सुन्दर रूपवती, प्रशस्त नितम्बवाली वह नायिका ही प्रशस्त नितम्बवाली की भाँति शोभित होती है; किन्तु कामदेव के क्रीडा स्थान रूप जो उसके हावभाव हैं वे भी उसी (नायिका) के हावभाव ही के समान हैं ।

[यहाँ पर नितम्बिनी और उसके विलासादि की उपमा उसी

नितम्बिनी और उसके विलासादि से देकर उपमानान्तर का निषेध सकेतित है।]

[उपमेयोपमा नामक अलङ्कार का लक्षण :—

(सू० १३६) विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥६१॥

अर्थात् उन्हीं दोनों को परस्पर पलट कर वर्णन कर देने का नाम उपमेयोपमा है।

तयोरुपमानोपमेययोः। परिवृत्तिः अर्थाद्वाक्यद्वये। इतरोपमानव्यवच्छेदपरा उपमेयेनोपमा इति उपमेयोपमा। उदाहरणम्

'उन दोनों' से तात्पर्य उपमान और उपमेय से है। विपर्यास, अर्थात् पलटकर वर्णन करना। दो भिन्न-भिन्न वाक्यों द्वारा यह कथन किया जाता है। उपमेयोपमा वहाँ पर कही जाती है जहाँ पर प्रकृत उदाहरण वाले दो धर्मियों को छोड़कर और किसी भी अन्य उपमान का कथन न किया जाय। ऐसे उदाहरणों मे जहाँ उपमेय ही के साथ उपमा कही जाय वहाँ पर उपमेयोपमा नामक अलङ्कार होता है। उदाहरण :—

कमलेव मतिर्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य ॥४१४॥

अर्थ—हर्ष का विषय है कि यह वह राजा है, जिसकी लक्ष्मी उसकी बुद्धि के सदृश है, उसकी बुद्धि उसकी लक्ष्मी के सदृश है। तथा जिसकी शोभा उसके शरीर के सदृश है और शरीर उसकी शोभा के सदृश है, जिसका धीरज पृथ्वी के समान है और पृथ्वी भी उसी के धीरज के समान सदा शोभित रहती है।

[यहाँ पर एक ही उपमेय और उपमान की सादृश्य परम्परा कही गई है।]

[अब उत्प्रेक्षा नामक अलङ्कार का वर्णन करते हैं—]

(सू० १३७) सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।

अर्थात्—प्रकृत (उपमेय) का सम (उपमान) के साथ जहाँ पर

एकरूपता (अभेद) की सम्भावना (वह संशय, जिसकी एक कोटि उत्कट हो) की जाय वहाँ उत्प्रेक्षा नामक अलङ्कार जानना चाहिये।

समेन उपमानेन। उदाहरणम् :—

मूल कारिका में 'समेन' का तात्पर्य है 'उपमान के साथ'।

[हेतु, फल, स्वरूप आदि की सम्भावना के अनुसार उत्प्रेक्षा के अनेक भेद हो सकते हैं। तथा जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और अभावादि की सम्भावना के अनुसार हेतु आदि मूलक उत्प्रेक्षा में से प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद हो सकते हैं। इन पन्द्रहों भेदों में भी उपमान के ग्रहण वा त्याग के अनुसार आगे भी दो दो भेद हो सकते हैं। इस प्रकार उत्प्रेक्षा के अनेक भेद विशिष्ट उदाहरण दिये जा सकते हैं। उन सभी के विशेष चमत्कारयुक्त न होने के कारण दिग्दर्शन मात्र के लिये केवल दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। प्रथम हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण :—]

उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया-
मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः।
नीतः शान्ति प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-
ल्लग्नां मन्ये ललिततनु ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः ॥४१६॥

अर्थ—हे सुन्दर सुकुमार शरीरवाली प्यारी! मैं समझता हूँ कि कमल की शोभा तुम्हारे चरणों में इस कारण सहर्ष आकर लिपट गई है कि उसके स्वाभाविक वैरी चन्द्रमा में रात्रि के समय उसका विकास सहन करने की शक्ति नहीं है। उस (चन्द्रमा) की सुन्दरता के घमण्ड को इस नील कमल सदृश नेत्रवाली नायिका ने हठात् अपने मुख की शोभा से निवारण कर दिया है।

[क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण:—]

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥४१७॥

अर्थ—जान पड़ता है कि इस अँधेरे के समय में अंधकार अङ्गों

मे लिप्त हो रहा है तथा आकाश मानो काजल बरसा रहा है। ऐसी अवस्था मे दृष्टि तो दुष्ट मनुष्य की सेवा के समान निष्फल हो गई है।

इत्यादौ व्यापनादि लेपनादिरूपतया संभावितम्।

उक्त उदाहरण मे 'व्याप्त होनेवाले', इस व्यापार को लेपन आदि रूप से सम्भावित कल्पना द्वारा कहा गया है, अतः यह क्रिया-स्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण हुआ।

[ससन्देह अलकार का लक्षण :—]

सू० १२८) ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ॥९२॥

अर्थ—[उपमेय के साथ उपमान के] सादृश्य ज्ञान का जहाँ पर सन्देह हो वहाँ पर ससन्देह नामक अलकार जानना चाहिये। भेद के कथन करने अथवा न करने के कारण इस अलंकार के दो भेद होते हैं

भेदोक्तौ यथा—

भेद कथनपूर्वक ससन्देहालङ्कार का उदाहरण :—

अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम्।
कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान्प्रतिभटाः ॥४१८॥

अर्थ—हे राजन्! आपके शत्रुगण रणभूमि मे आपको भली भाँति देखकर अपने मन में सन्देह करने लगते हैं कि क्या यह सूर्य है? परन्तु उस सूर्य के रथ मे तो सात घोड़े जुतते हैं। क्या यह अग्निदेव हैं? परन्तु अग्निदेव तो सभी दिशाओं मे एक सा नहीं फैलते। क्या यह साक्षात् यम तो नहीं हैं? परन्तु उनका तो वाहन भैंसा है।

भेदोक्तावित्यनेन न केवलमयं निश्चयगर्भो यावन्निश्चयान्तोऽपि सन्देहः स्वीकृतः। यथा

यहाँ भी ध्यान रखना चाहिये कि जो भेदोक्ति शब्द कहा गया है उसका यह भाव है कि यह ससन्देह नामक अलङ्कार न केवल निश्चय गर्भवाला ही होता हैं; किन्तु निश्चयान्त भी होता है। जहाँ

पर उपमान से भिन्न उपमेय के निश्चय सिद्ध हो जाने पर फिर भी संशयोत्पत्ति हो तो वह निश्चयगर्भ है और जहाँ उपमान तथा उपमेय का भेद उपमेय के वैधर्म्य दृष्टान्त द्वारा ऐसा निश्चित हो जाय कि फिर सन्देह रह ही न जाय तो वहाँ निश्चयान्त सन्देह नामक अलकार होगा।

[निश्चयान्त सन्देह अलङ्कार का उदाहरण :—]

इन्दुः किं क्व कलङ्कः सरसिजमेतत् किमम्बु कुत्र गतम्।

ललितसविलासवचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि निश्चितं परतः ॥४१९॥

अर्थ— हे हरिण के समान नेत्रोंवाली! यदि तेरा मुख चन्द्रमा है तो उसमें कलङ्क क्यों नहीं दिखाई पड़ता? यदि कमल है तो पानी कहाँ गया? ऐसा सन्देह उपस्थित होने के अनन्तर मनोहर विलासयुक्त वचनों द्वारा इस बात का निश्चय हुआ कि यह तेरा मुख है!

किन्तु निश्चयगर्भ इव नात्र निश्चयः प्रतीयमान इति उपेक्षितो भट्टोद्भटेन। तदनुक्तौ यथा

इस पिछले उदाहरण में प्रथम निश्चय गर्भवाले उदाहरण के समान निश्चय प्रतीयमान होकर वाच्य हो जाता है, अतएव वाच्य अर्थ की चमत्कारिता को स्वीकार न करने के कारण भट्टोद्भट ने निश्चयान्त सन्देहालङ्कार को स्वीकार न करके उसकी उपेक्षा की है। इस प्रकार जिस उक्ति में भेद का कथन नहीं किया गया है ऐसे ससन्देह नामक अलङ्कार का उदाहरण :—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥४२०॥

अर्थ—[उर्वशी के सम्बन्ध में राजा पुरूरवा कहते हैं:—] इस सुन्दरी के शरीर की रचना का विधाता क्या अद्भुत कान्ति दान करनेवाला चन्द्रमा तो नहीं है, अथवा स्वयं कामदेव ही, जिसका कि

शृङ्गार से एकमात्र प्रेम है, इसका सिरजनहार है, अथवा वसन्त ऋतु के मुख्य मास चैत्र ही ने, जिसमे फूल खिलते हैं इसका निर्माण किया होगा ? भला वेदों के अभ्यास से जिसकी बुद्धि कुण्ठित हो गई है— ऐसा संसारी विषयों के औत्सुक्य (उत्कण्ठा वा प्रेम) से अनभिज्ञ, पुराना बूढा ब्रह्मा ऐसे मनोहर शरीर की रचना कैसे कर सकता है ?

[यहाँ पर ब्रह्मा उपमेय, चन्द्रादिक उपमान बनाये गये हैं; परन्तु किसी के भी वैधर्म्य गुण के कथन न किये जाने से यह अनुक्त भेद-वाले ससन्देह नामक अलङ्कार का वर्णन हुआ। यहाँ पर भेदोक्ति विशिष्ट निश्चयगर्भ, भेदोक्ति विशिष्ट निश्चयान्त और अनुक्त भेद-वाले—तीनों प्रकार के ससन्देह नामक अलङ्कार के उदाहरण प्रदर्शित हुए।]

[रूपकालङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १३९) तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

अर्थ—उपमान और उपमेय इन दोनों का अभेदारोप (एक दूसरे से नितान्त अभिन्न) करके वर्णन किया जाय तो रूपक नाम का अल-ङ्कार होता है।

अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोः अभेदः।

मूल कारिका मे जो अभेद शब्द कहा गया है उसका भाव यह है कि उपमान तथा उपमेय के परस्पर एक दूसरे के अत्यन्त सदृश होने से जब उनके परस्पर भेद का ज्ञान छिप जाय और वे अभिन्न-से प्रतीत होने लगें।

[रूपकालङ्कार के आठ भेद होते हैं। प्रथम तो साङ्ग, निरङ्ग और परम्परित—ये तीन भेद हैं। उनमें से साङ्ग के दो भेद हैं। समस्त-वस्तुविषय और एकदेशविवर्ति। वैसे ही निरङ्ग के भी शुद्ध और मालारूप दो भेद होते हैं। परम्परित रूपक के भी श्लिष्ट और अश्लिष्ट (श्लेषरहित) शब्दों द्वारा दो भेद होते हैं, और वे श्लिष्ट और अश्लिष्ट रूपक भी शुद्ध और मालारूप से दो प्रकार के होते हैं। अतः

परम्परित रूपक के चार भेद हुए। इस प्रकार सब मिलाकर रूपक के आठ भेद हुए। इन आठों में से प्रथम साङ्ग समस्त वस्तुविषयक रूपक का लक्षण निम्नलिखित कारिका में कहा जाता है।]

(सू० १४०) समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ॥९३॥

अर्थ—जिस रूपक में आरोपित (आरोप्यमाण विषय वा उपमान) का भी आरोप विषय (उपमेय) की भाँति शब्दों द्वारा कथन किया गया हो उसको समस्त वस्तुविषयक रूपक कहते हैं।

आरोपविषया इव आरोप्यमाणाः यदा शब्दोपात्तास्तदा समस्तानि वस्तूनि विषयोऽस्येति समस्तवस्तुविषयम्। आरोपिता इति बहुवचनमविवक्षितम्। यथा

आरोप विषय (उपमेय) के समान आरोप्यमाण (उपमान) भी जब शब्दों के द्वारा उपात्त (प्रतिपाद्य) हो, तब सभी वस्तु के विषय शब्दोपात्त होने से रूपक के इस भेद का नाम समस्त वस्तुविषय रखा गया है। 'आरोपित' शब्द जो बहुवचन में रखा गया है वह किसी विशेष प्रयोजन के लिये नहीं है। समस्तवस्तुविषयक रूपक अलङ्कार का उदाहरण:—

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्द्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम्।
द्वीपाद्द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्यच्छलेन ॥४२१॥

अर्थ—अन्तर्निहित (लुप्त) होने के कार्य में विशेष रुचि रखनेवाली यह रात्रि रूप योगिनी अपने अंगों में चाँदनी रूप राख मलकर अत्यन्त उज्ज्वल वर्ण हो, तारा रूप हड्डी के अलङ्कार पहिन, चन्द्रमा रूपी भिक्षा के कपाल (खप्पर) में कलङ्क के नाम से सिद्धाञ्जन चूर्ण को धारण किये हुए एक द्वीप से दूसरे द्वीप में जा-जा कर घूम रही है।

[यहाँ पर रात्रि उपमेय, कापालिकी (योगिनी) उपमान है तथा ज्योत्स्नादि उपमेय और भस्मादिक उपमान है। रात्रिरूप कापालिकी

प्रधान रूपक और ज्योत्स्ना रूप भस्म आदि अङ्ग रूपक हैं। सभ उपमेय तथा उपमान शब्द द्वारा कहे गये हैं, अतएव यह समस्तवस्तु-विषयक साङ्ग रूपक है।

अत्र पादत्रये अन्तर्द्धानव्यसनरसिकत्वमारोपितधर्म एवेति रूपकपरिग्रहे साधकमस्तीति तत्संकराशंका न कार्या।

इस श्लोक मे अन्तर्धानव्यसनरसिकत्व (अन्तर्हित होने के कार्य में विशेष रुचि) रूप आरोपित धर्म कापालिकी (योगिनी) रूप उपमान ही के पक्ष मे सम्भव है रात्रिरूप उपमेय के पक्ष मे नही; अतएव तीनों चरणों मे जो रूपक बाँधे गये हैं वे उनके स्वीकार के साधक हैं। निदान इस प्रकरण मे उपमा के साथ रूपकालङ्कार के सन्देह सङ्कर की शङ्का नहीं करनी चाहिये।

[एकदेशविवर्ति रूपक का लक्षण :—]

(सू० १४१) श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत्।

अर्थ—वह रूपक एकदेशविवर्ति तब कहा जाता है, जब कुछ उपमान शब्दों द्वारा प्रतिपाद्य हों और कुछ अर्थाक्षिप्त (अर्थ द्वारा बोधगम्य) हों।

केचिदारोप्यमाणाः शब्दोपात्ताः केचिदर्थसामर्थ्यादवसेयाः इत्येकदेशविवर्तनात् एकदेशविवर्ति। तथा

कुछ आरोप्यमाण (उपमान) तो शब्दों द्वारा कहे जायँ और कुछ अर्थ के सामर्थ्य द्वारा निश्चय किये जायँ, तब स्पष्ट रूप से एकदेश में वर्तमान रहने के कारण इस भेद को एकदेशविवर्ति कहते हैं। जैसे :—

जस्स रणन्तेउरए करे कुणन्तस्स मण्डलग्गलअम्।
रससंमुही वि सहसा परंमुही होइ रिउसेणा ॥४२२॥

[छाया—यस्य रणान्तःपुरे करे कुर्वतो मण्डलाग्रलताम्।
रससंमुख्यपि सहसा पराङ्मुखी भवति रिपुसेना ॥]

अर्थ—जिस राजा के युद्धरूप अन्तःपुर में खड्ग लता के कर-ग्रहण

करते ही रसाविष्ट भी शत्रु सेना सहसा उससे पराङ्मुख हो जाती है।

अत्र रणस्यान्तःपुरत्वमारोप्यमाणं शब्दोपात्तम् मण्डलाग्रलतायाः नायिकात्वम् रिपुसेनायाश्च प्रतिनायिकात्वम् अर्थसामर्थ्यादवसीयते इत्येकदेशे विशेषेण वर्तनादेकदेशविवर्ति।

यहाँ पर रणभूमि में अन्तःपुर (रनिवास) का आरोप तो शब्द द्वारा किया गया है; परन्तु मण्डलाग्रलता (खड्गलता) में नायिकात्व का और रिपुसेना में प्रतिनायिकात्व के आरोप का निश्चय अर्थ के सामर्थ्य द्वारा होता है, अतएव एकदेश में विशेष रूप से (शब्द द्वारा स्फुट रूप में प्रकाशित होने के कारण) रहने के कारण यह एकदेशविवर्ति रूपक का उदाहरण हुआ।

(सू० १४२) साङ्गमेतत्

उक्तद्विभेदं सावयवम्—

उक्त दोनों भेद (समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति) अवयव विशिष्ट कहे जाते हैं।

(सू० १४३) निरङ्गन्तु शुद्धम्।

यथा—

अर्थात् अवयव रहित रूपक शुद्ध कहा जाता है। उदाहरण :—

कुरङ्गीवाङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत्
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम् ॥४२३॥

अर्थ—[कोई धाय अपनी सखी से किशोरी का वृत्तान्त बतला रही है।] हे सखी! यह बाला गीत सुनते समय मृगी की भाँति जो अपने अङ्गों को निश्चल कर लेती है अपने प्रियतम के समाचारों को सुन कर भी फिर-फिर सखी से पूछती है तथा घर के भीतर भी सोते समय जो इसे नींद नहीं आती—सो मुझे समझ पड़ता है कि इसके चित्त में कामदेव एक नई प्रेमलता को सींचने लगा है।

[यहाँ पर केवल प्रेमरूप उपमेय को लतारूप उपमान बनाया गया है और उसके किसी अप्रधान वस्तुओं का पोषकरूप से निर्देश नहीं किया गया अतएव अङ्गों (अवयवों) से रहित होने के कारण यह निरङ्ग (शुद्ध) रूपक अलङ्कार का उदाहरण हुआ।]

[दूसरे मालारूप निरङ्गरूपक अलङ्कार का निर्देश करते हुए कहते हैं :—]

(सू० १४४) माला तु पूर्ववत् ॥६४॥

अर्थात् मालारूप रूपकालङ्कार तो पूर्व प्रतिपादित मालोपमा की भाँति होता है।

मालोपमायामिवैकस्मिन्बहव आरोपिताः। यथा

मालोपमा की भाँति जब एक ही उपमेय मे अनेक उपमानों का आरोप हो तो मालोपमा की तरह मालारूपक भी होता है। यह साङ्ग न होकर निरङ्ग ही होता है। उदाहरण :—

सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः
कान्तेः कार्मणकर्म नर्मरहसामुल्लासनावासभूः।
विद्या वक्रगिरां विधेरनवधिप्रावीण्यसाक्षात्क्रिया
बाणाः पञ्चशिलीमुखस्य ललनाचूडामणिः सा प्रिया ॥४२४॥

अर्थ—[कोई विरही अपनी प्रियतमा के विषय में सोच रहा है—वह मेरी प्यारी ललना सुन्दरता की नदी है, चढ़ती हुई युवावस्था के आनन्द का विकास है। शारीरिक शोभा की वशीकरण क्रिया है, गुप्त परिहासों के उमङ्ग का घर है, साभिप्राय वचनों की उपदेशिका है, सृष्टिकर्ता (ब्रह्मा) के असीम निर्माण चातुरी की साक्षात् मूर्ति है, कामदेव के बाणों का समूह है तथा सुन्दरी स्त्रियो का शिरोमणि है।

[यहाँ पर प्रियारूप एक ही उपमेय मे तरङ्गिणी आदि अनेक रूप उपमान का आरोप एक सूत मे गुथे अनेक फूलों की भाँति माला सदृश किया गया है।]

[परम्परित रूपक अलङ्कार के लक्षण और भेद :—]

(सू० १४९) नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।
तत्परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥९५॥

अर्थ—जहाँ पर वर्ण्य विषय के लिए अवश्य अपेक्षित आरोप (साधारण धर्म के प्रकाशक) कारणभूत किसी अन्य पर आरोप है तो वह कार्य कारण रूप आरोप परम्परा के होने से परम्परित रूपक कहलाता है, उसके वाचक शब्द के श्लिष्ट (दो अर्थवाले) होने से तथा न होने से दो प्रकार के भेद होते हैं

[श्लिष्ट मालारूप परम्परित रूपक का उदाहरण :—]

विद्वन्मानसहंस ! वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते !
दुर्गामार्गणनीललोहित ! समित्स्वीकारवैश्वानर !
सत्यप्रीतिविधानदक्ष ! विजयप्राग्भावभीम ! प्रभो !
साम्राज्यं वरवीर ! वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥४२५॥

अर्थ—हे वीरों में श्रेष्ठ राजन् ! आप ब्रह्मा के सैकड़ों वर्ष पर्यन्त अत्यन्त प्रभाव समेत पृथ्वी पर चक्रवर्ती रहकर राज्य भोग कीजिये। आप पण्डितों के मन रूप मानसरोवर के हंस हैं, शत्रुओं की कमला (लक्ष्मी) के सकोचकारक (घटानेवाले तथा कमलों के असंकोच (विकास) कारक उद्दीप्त द्युतिवाले सूर्य हैं। दुर्गों (अगम्यमार्गों) के अमार्गण (न खोजनेवाले) रूप दुर्गा जी के खोजने में शिव जी हैं। समित् (युद्ध) स्वीकारकर्ता रूप समिधों (यज्ञ में होम करने योग्य लकड़ियों) के स्वीकारकर्ता अग्नि हैं। सत्य (भाषण) में प्रीति रखनेवाले रूप सती में प्रीति रहित दक्ष प्रजापति हैं। विजयरूप अर्जुन से प्रथम उत्पन्न (उनके बड़े भाई) भीमसेन स्वरूप हैं।

अत्र मानसमेव मानसम् कमलायाः सकोच एव कमलानामसंकोचः दुर्गाणाममार्गणमेव दुर्गायाः मार्गणम् समितां स्वीकार एव समिधां स्वीकारः सत्ये प्रीतिरेव सत्यामप्रीतिः विजयः परपराभव एव विजयोऽर्जुन तस्मात् प्राग्भव इत्यादिनिमित्तो हंसादेरारोपः ।

यहाँ पर मानस चित्त ही मानसरोवर है। कमला लक्ष्मी का

संकोच (घटती) ही कमलों का असंकोच (विकास) है। दुर्गों (गढ़ों) का अमार्गण ही दुर्गा (पार्वती) जी का मार्गण (खोजना) है। समितों (युद्धों) का स्वीकार ही समिधों (यज्ञ की लकड़ियों) का स्वीकार है। सत्य मे प्रीति ही सती में अप्रीति है। विजय (शत्रु पराभव) ही विजय (अर्जुन) है। इस रीति से आरोपण के निमित्त कारण हंसादि का आरोपण राजा मे किया गया है।

यद्यपि शब्दार्थालंकारोऽयमित्युक्तं वक्ष्यते च तथापि प्रसिद्ध्यनुरोधादत्रोक्तः एकदेशविवर्ति हीदमन्यैरभिधीयते। भेदभाजि यथा

यद्यपि इस (श्लेषात्मक रूपक) की गणना शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के अलङ्कारों में होती है और आगे ऐसा ही प्रदर्शन भी किया जायगा, तथापि पूर्व आचार्यों मे ऐसी प्रसिद्धि रहती चली आई है, उसी के अनुसार यहाँ पर श्लिष्टपरम्परित रूपक की गणना अर्थालङ्कार ही मे की गई। कुछ लोग तो इसे एकदेशविवर्तिरूपक ही मे गिनते हैं। श्लिष्ट से भिन्न (मालारूप) परम्परित रूपक का उदाहरण :—

आलानं जयकुञ्जरस्य दृषदां सेतुर्विपद्वारिधेः
पूर्वाद्रिःकरवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः।
संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
राजन्! राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः ॥४२६॥

अर्थ—हे राजन्! आपकी भुजा विजयरूप हाथी के बाँधने के लिये खंभा, विपत्तिरूपी समुद्र के लिये पत्थर का पुल, खड्गरूप सूर्य के लिये उदयाचल, सम्पत्ति के सुखपूर्वक शयन के लिए उपधान (तकिया), युद्धरूप अमृत सागर के भलीभाँति मंथन के लिये मन्दराचल और बलिष्ठ शत्रुओं की स्त्रियों के लिए वैधव्यदायिनी बनकर सुशोभित हो रही है।

अत्र जयादेर्भिन्नशब्दवाच्यस्य कुञ्जरत्वाद्यारोपे भुजस्य आलानत्वाद्यारोपो युज्यते।

यहाँ जय आदि मे भिन्न-भिन्न शब्दों से वाच्य कुञ्जरत्व आदि का

आरोप और भुज मे आलानत्व (वन्धन स्तम्भत्व) का आरोप ठीक वैठता है।

[श्लेषयुक्त केवल अमालारूप परम्परित रूपक का उदाहरण :—]

अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगत्त्रयः ।

स्तूयते देव ! सद्वंशमुक्तारत्नं न कैर्भवान् ॥४२७॥

अर्थ—हे राजन् ! अद्भुत प्रकार की उत्कृष्ट दीप्ति से तीनो लोको मे प्रकाश पहुँचा देनेवाले आप सद्वंश रूप अच्छे बाँस मे उत्पन्न होनेवाले श्रेष्ठ मोती के समान किससे नही स्तुति किये जाते ?

[यहाँ पर आरोप विषय सत्कुल और आरोपणीय वेणु—ये दोनों श्लेषयुक्त सद्वंश शब्द द्वारा कहे गये हैं, तथा राजा मे मुक्तात्व के आरोप मे कुलगत वेणुत्व का आरोप निमित्त कारण है, इस प्रकार यह श्लिष्ट परम्परित रूपक का उदाहरण हुआ।

[श्लेषरहित केवल अमालारूप परम्परित रूपक का उदाहरणः—]

निरवधि च निराश्रयं च यस्य स्थितमनिवर्तितकौतुकप्रपञ्चम् ।

प्रथम इह भवान् स कूर्ममूर्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः ॥४२८॥

अर्थ—हे भगवान् विष्णु जी ! आप चौदहों भुवनरूपी लता के मूलभूत, अनन्तकाल तक विना किसी आधार ही के स्थित होकर, आश्चर्य के विस्तार को विना घटाये ही सब मे प्रथम कूर्म मूर्त्ति धारण करनेवाले सर्वोत्कृष्ट (देवता) हैं।

[यहाँ पर 'लोक' और 'वल्लि' पद के भिन्न भिन्न (अश्लिष्ट) होने से विष्णु जी में कन्दत्व के आरोप की कारणता है; अतः यह अश्लिष्ट परम्परित रूपक है।]

इति च अमालारूपकमपि परम्परितं द्रष्टव्यम् ।

उक्त दोनों 'अलौकिक' इत्यादि तथा 'निरवधि' इत्यादि प्रतीकवाले श्लोकरूप उदाहरणों मे जो श्लिष्ट और अश्लिष्ट परम्परित रूपक हैं, उन्हें अमालारूपक समझना चाहिये।

[रसना रूपक का उदाहरण :—]

किसलयकरैर्लतानां करकमलै॰ कामिनां मनो जयति ।
नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः ॥४२६॥

अर्थ—कामदेव लताओ के नवपल्लवरूप हाथों से, स्त्रियो के हाथ रूप कमलों से, नलिनियो के कमलरूप मुखों से और स्त्रियों के मुखरूप चन्द्रमा से कामियों के चित्त को वशीभूत करता है ।

[यहाँ पर किसलय मे करत्व, कर मे कमलत्व, कमल मे मुखत्व और मुख मे चन्द्रत्व का आरोप करने से (रशनोपमा की भाँति) रशनारूपक भी होता है ।]

इत्यादि रशनारूपक न वैचित्र्यवदिति न लक्षितम् ।

ऐसे रशनारूपक नामक अलकार विशेष चमत्कारकारी न होने के कारण विस्तारपूर्वक उदाहृत नहीं किये गये ।

अपह्नुति नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू॰ १४६) प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।

अर्थ—अपह्नुति उस अलङ्कार को कहते हैं, जहाँ पर प्रकृत (उपमेय) को असत्य सिद्ध करके उससे भिन्न (उपमान) की सत्यता का प्रतिपादन किया जाय ।

उपमेयमसत्यं कृत्वा उपमान सत्यतया यत्स्थाप्यते सा त्वपह्नुतिः ।

उपमेय को असत्य कहकर जहाँ उपमान को सत्यता सिद्ध की जाती है उसे अपह्नुति कहते हैं ।

[यह अलङ्कार कहीं-कहीं तो शब्दों द्वारा प्रकट होता है और कहीं-कहीं अर्थ द्वारा ऊह्य होता है, जिन्हें क्रमशः शाब्दी और आर्थी अपह्नुति कहते हैं । आर्थी अपह्नुति भी कहीं-कहीं कपटार्थक शब्दों द्वारा, कहीं-कहीं परिणामार्थक शब्दों द्वारा और कहीं-कहीं पर किसी और प्रकार से भी हो सकती है ।]

उदाहरणम्

शाब्दी अपह्नुति का उदाहरण :—

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये !
कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि ।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥४२०॥

अर्थ—हे पार्वती जी ! पूर्ण कान्ति विशिष्ट चन्द्रमा के शरीर में प्रकटरूपता को प्राप्त (स्पष्ट दिखाई देनेवाला) यह कलङ्क कलङ्क की तरह नहीं शोभित होता, किन्तु मैं ऐसा समझता हूँ कि यह रात्रिरूप चन्द्रमा की स्त्री है, जो उस चन्द्रमा के पिघले हुए अमृत से सिक्त वक्षःस्थल पर रति के कारण परिश्रान्त-सी होकर गाढ़ी नींद में सो रही है।

[यहाँ पर उपमेयरूप कलंक को असत्य सिद्ध करके उपमान रूप रात्रि को सत्य प्रतिपादित किया है।]

इत्थं वा—

ऐसे ही और भी कपटार्थक शब्द ग्रहण करके आर्थी अपह्नुति का उदाहरण :—

बत सखि ! कियदेतत्पश्य वैरं स्मरस्य
प्रियविरहकृशेऽस्मिन् रागिलोके तथा हि ।
उपवनसहकारोद्भासिभृङ्गच्छलेन
प्रतिविशिखमनेनोट्टङ्कितं कालकूटम् ॥४२१॥

अर्थ—हे सखि ! देखो, यह खेद का विषय है कि प्रियतम के वियोग से दुबले शरीरवाली मुझ सरीखी कामिनी पर कामदेव ने अपनी वैसी शत्रुता प्रकट की है कि उसने वाटिकाओं में आम के सुगन्धित पुष्पों पर बैठी भ्रमर पंक्ति के बहाने से अपने प्रत्येक बाणों पर उत्कट विष का प्रलेप कर रखा है।

अत्र हि न सभृङ्गाणि सहकाराणि अपि तु सकालकूटाः शरा इति प्रतीतिः। एवं वा—

यहाँ पर ये भ्रमरयुक्त सहकार-पुष्प नहीं हैं; किन्तु विष-प्रलिप्तबाण

ही हैं—ऐसी प्रतीति होती है। उपमेयभूत भृङ्गों को असत्य कहकर उपमान रूप कालकूट को सत्य प्रतिपादित किया गया है। अथवा ऐसा ही एक अन्य परिणामार्थक शब्दोपादान से आर्थी अपह्नुति का उदाहरण :—

अमुष्मिल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः
स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः।
यदङ्गाङ्गाराणां प्रथमपिशुना नाभिकुहरे
शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः ॥४३२॥

अर्थ—[किसी सुन्दरी युवती की रोमावली का वर्णन करते हुए कोई कवि कहता है—]महादेव जी द्वारा दग्ध किया गया कामदेव इस मृगनयनी के जघनस्थली पर विराजमान सौंदर्य रूप अमृत से परिपूर्ण वराङ्ग (योनि) रूप तडाग में (शान्ति के लिए) अवश्य डुबकी लगा रहा है; क्योंकि उसके अंग के अङ्गारों का बुझना प्रकट करनेवाली यह धूमशिखा नाभिरूप बिल पर रोमावलि के रूप में परिणत हो रही है।

अत्र न रोमावलिः धूमशिखेयमिति प्रतिपत्तिः। एवमियं भङ्ग्यन्तरैरप्यूह्या।

यहाँ पर सुन्दरी युवती के शरीर में यह रोमावलि नहीं; किन्तु धूमशिखा (धुएँ की धारा) ही प्रकट है—यह सिद्ध किया गया है। ऐसे ही अपह्नुति अलङ्कार के और-और उदाहरण भी समझ लेने चाहिये।

[आगे अर्थगत श्लेष नामक अलङ्कार का निरूपण करते हुए कहते हैं:—]

(सू० १४७) श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् ॥९६॥

अर्थ—जहाँ पर एक ही वाक्य में अनेक अर्थ प्रकट हों वहाँ पर श्लेष नामक अलङ्कार जानना चाहिए।

एकार्थप्रतिपादकानामेव शब्दानां यत्रानेकोऽर्थः स श्लेषः। उदाहरणम्

एक ही अर्थ के प्रतिपादक शब्दों का जहाँ पर अनेक अर्थ हो

उसे श्लेषालङ्कार कहते हैं। उदाहरण :—

उदयमयते दिङ्मालिन्यं निराकुरुतेतरां
नयति निधनं निद्रामुद्रां प्रवर्तयति क्रियाः।
रचयतितरां स्वैराचारप्रवर्तनकर्तनम्
बत बत लसत्तेजःपुञ्जो विभाति विभाकरः ॥४२३॥

अर्थ—[सूर्य के पक्ष में]—सूर्य उदयाचल पर पहुँच रहा है। दिशाओं की मलिनता को भलीभाँति निवारण करता है। तन्द्रा से अलसाये हुए आँखों की मुद्रा को नष्ट करता है अर्थात् आँखें खोल देता है। लोगों को अग्निहोत्र आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करता है। स्वतन्त्रता के आचरण का पूर्णतया उच्छेद करता है। हर्ष की बात है कि सुशोभित किरणों के समूह सहित वह सूर्य विशेष उद्दीप्त हो रहा है।

[राजा के पक्ष में—] वह विभाकर नामक राजा सम्पत्ति लाभ करता है। अधीन जनों की दरिद्रता के कुवेष को भली भाँति दूर करता है। उनके निद्रा सदृश कार्य में अनुत्साह रूप आलस्य को नष्ट करता है। वेदों के विरुद्ध आचरण करनेवाले स्वतन्त्र जनों को मूलतः नष्ट करता है। हर्ष का विषय है कि सुशोभित कान्तियों का समूह वह वह राजा विशेष उद्दीप्त हो रहा है।

अत्राभिधाया अनियन्त्रणात् द्वावप्यर्कभूपौ वाच्यौ।

यहाँ पर प्रकरण आदि कारणों से अभिधेयार्थ के नियन्त्रित न होने से समान रीति से सूर्य तथा विभाकर नामक राजा दोनों के पक्ष में वाच्य अर्थ ही घटित होता है।

[समासोक्ति नामक अलङ्कार का लक्षण:—]

(सू० १४८) परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः

अर्थ—समासोक्ति नामक अलङ्कार वहाँ पर कहा जाता है जहाँ पर श्लिष्ट (द्वयर्थवाची) विशेषणों द्वारा किसी अप्रकृत (प्रकरण से प्राप्त विषय से भिन्न कोई अन्य व्यवहार) अर्थ का बोध हो।

प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टविशेषणमाहात्म्यात् न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि यत् अप्रकृतस्यार्थस्याभिधानं सा समासेन संक्षेपेणार्थद्वय-कथनात्समासोक्तिः। उदाहरणम्

मूल कारिका का अर्थ विशद करने के लिये कहते हैं कि जहाँ प्रकरण से प्राप्त अर्थ के प्रतिपादक वाक्य द्वारा श्लेषयुक्त विशेषणों के सामर्थ्य से, न कि विशेष्य ही के सामर्थ्य से भी प्रकरण से अप्राप्त किसी अन्य अर्थ का कथन हो, वहाँ समास अर्थात् सक्षेप से दो प्रकार के अर्थों के कथन का नाम समासोक्ति अलङ्कार है। उदाहरण :—

लहिऊण तुज्झ बाहुप्फसं जीए स को वि उल्लासो।
जअलच्छी तुह विरहे ण हुजला दुब्बला णं सा ॥४२४॥

[छाया—लब्ध्वा तव बाहुस्पर्शं यस्याः स कोऽप्युल्लासः।
जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्ज्वला दुर्बला ननु सा ॥]

अर्थ—हे वीर! तुम्हारे भुजस्पर्श को पाकर जिसके चित्त मे किसी अकथनीय हर्ष का उमङ्ग हुआ था, वह विजयलक्ष्मी नायिका तुम्हारे विरह से अब उज्वल नहीं रह गई, किन्तु दुबली हो गई है।

अत्र जयलक्ष्मीशब्दस्य केवलं कान्तावाचकत्व नास्ति।

यहाँ पर केवल 'जयलक्ष्मी' इस विशेष्य पद मे 'कान्ता' इस अप्रकृत अर्थ की वाचकता नहीं है। शेष विशेषण पदों में प्रकरण प्राप्त जयलक्ष्मी और प्रकरण से अप्राप्त अर्थात् तद्भिन्न कान्ता (नायिका) के अर्थ का भी बोध होता है।

[निदर्शना नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १४४) निदर्शना।

अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ॥६७॥

अर्थ—वस्तुओं के असम्भव सम्बन्धों के उपमा की जहाँ पर कल्पना की जाय, वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है।

निदर्शनं दृष्टान्तकरणम्। उदाहरणम्

निदर्शन—दृष्टान्त वा उदाहरण बनाना। [निदर्शना पहिले तो

दो प्रकार की होती है। एक वाक्यार्थनिदर्शना दूसरी पदार्थनिदर्शना मालारूप में भी हो सकती है और इन सबसे भिन्न एक अन्य प्रकार की भी होती है। चारों प्रकार की निदर्शना के उदाहरण आगे क्रमशः लिखे जाते हैं। वाक्यार्थनिदर्शना का उदाहरण :—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥४३५॥

अर्थ—[रघुवंश महाकाव्य की भूमिका में महाकवि कालिदास जी कहते हैं—]कहाँ तो सूर्य द्वारा उत्पन्न (राजा रघु का) वंश और कहाँ मेरी अल्पशक्ति विशिष्ट बुद्धि। उस वंश के माहात्म्य वर्णनार्थ मेरी चेष्टा ऐसी है कि मानों मैं मूर्खतावश पनसूई (एक प्रकार की छोटी नाव) पर बैठकर अपार) समुद्र को पार करना चाहता हूँ।

अत्रोडुपेन सागरतरणमिव मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमित्युपमायां पर्यवस्यति। यथा वा

यहाँ पर पनसूई द्वारा समुद्र संतरण की भाँति मेरी अल्प बुद्धि द्वारा सूर्यवंश महिमा का वर्णन है। कवि का कथन इस प्रकार की उपमा में परिणत होता है।

पदार्थनिदर्शना का उदाहरण :—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥४३६॥

अर्थ—[माघकवि कृत शिशुपालवध महाकाव्य में यह रैवतक पर्वत का वर्णन है।] पूर्णिमा के अन्त में ऊपर की ओर किरण पसारे हुए सूर्य के उदय तथा चन्द्रमा के अस्तकाल में यह रैवतक पर्वत उस बड़े हाथी के समान सुशोभित होता है जिसके दोनों ओर दो बड़े-बड़े घण्टे लटक रहे हों।

अत्र कथमन्यस्य लीलामन्यो वहतीति तत्सदृशीमित्युपमायां पर्यवसानम्।

यहाँ पर किसी अन्य (वारणेन्द्र) की लीला (शोभा) को कोई अन्य

(रैवतक पर्वत) कैसे धारण करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में उसके ऐसी यह लीला सम्बन्धिनी उक्ति उपमा में परिणत होती है। अतएव यह पदार्थ निदर्शना का उदाहरण है।

[मालारूप निदर्शनालङ्कार का उदाहरण :—

दोर्भ्यां तितीर्षति तरङ्गवतीभुजङ्गमादातुमिच्छति करे हरिणाङ्कबिम्बम्।
मेरुं लिलङ्घयिषति ध्रुवमेष देव ! यस्ते गुणान् गदितुमुद्यममादधाति॥४३७॥

अर्थ—हे महाराज ! जो मनुष्य आपके गुणों के कथन का प्रयास करता है, वह निश्चय निज बाहुओ से तैरकर समुद्र पार करना चाहता है, अपने हाथों से चन्द्रमण्डल को पकड़ना चाहता है और मेरु पर्वत को लाँघ जाना चाहता है।

इत्यादौ मालारूपाऽप्येषा द्रष्टव्या।

इत्यादि उदाहरणों में मालारूप निदर्शनालंकार भी पाया जाता है, इसे समझ लेना चाहिये।

[अब एक अन्य प्रकार की निदर्शना का लक्षण लिखते हुए कहते हैं :—]

(सू० १५०) स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च साऽपरा।

अर्थ—अपनी ही क्रिया द्वारा अपने कार्य और कारण के परस्पर सम्बन्ध का कथन जहाँ पर हो वह एक अन्य प्रकार की निदर्शना है।

क्रिययैव स्वस्वरूपस्वकारणयोः सम्बन्धो यदवगम्यते साऽपरा निदर्शना। यथा

क्रिया ही से अपने स्वरूप और कारण का परस्पर सम्बन्ध जहाँ पर समझ लिया जाय, वह एक अन्य प्रकार की (अर्थात् वाक्यार्थ, पदार्थ और मालारूप से भिन्न) निदर्शना है। उदाहरण :—

उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति ब्रुवन्।
शैलशेखरगतो दृषत्कणश्चारुमारुतधुतः पतत्यधः॥४३८॥

अर्थ—पर्वत की चोटी पर पहुंचा हुआ शिलाकण मन्द वायु के झोंके का धक्का खाकर नीचे गिरते हुए यह कहता है कि जो अल्पबुद्धि

मनुष्य ऊँची पदवी को पा जाता है वह शीघ्र ही वहाँ से नीचे भी गिरता है।

अत्र पातक्रियया पतनस्य लाघवे सति उन्नतपदप्राप्तिरूपस्य च सम्बन्धः स्याप्यते।

यहाँ पर पातरूप क्रिया मे पतनरूप कार्य और लघु मनुष्य का उच्चपद प्राप्तिरूप कारण—इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध प्रकाशित होता है।

[अप्रस्तुतप्रशंसा नामक अलंकार का लक्षण :—]

(सू० १५१) अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥९८॥

अर्थ—किसी अप्रासंगिक विषय का वर्णन यदि प्रसंग प्राप्त विषय के वर्णन का कारण हो तो उसे अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलङ्कार जानना चाहिए।

अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा।

अप्राकरणिक (अप्रस्तुत) विषय के कथन द्वारा यदि प्राकरणिक (प्रस्तुत) विषय का आक्षेप (प्रकटन) हो जाय तो उसे अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलंकार समझना चाहिये।

[प्रस्तुताप्रस्तुत प्रकरण के परस्पर सम्बन्धों को प्रकट करते हुये अप्रस्तुत प्रशंसा के प्रथम पाँच भेदों को निम्नलिखित कारिका द्वारा प्रकट करते हैं :—]

(सू० १५२) कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥९९॥

अर्थ—अप्रस्तुत प्रशंसा पाँच प्रकार की होती है। (१) कार्य के प्रस्तुत रहने पर तद्भिन्न (कारण) का वर्णन, (२) कारण के प्रस्तुत रहने पर तद्भिन्न (कार्य) का वर्णन, (३) सामान्य के प्रस्तुत रहने पर तद्भिन्न (विशेष) का वर्णन, (४) विशेष के प्रस्तुत रहने पर तद्भिन्न (सामान्य) का वर्णन, और (५) किसी वस्तु के प्रस्तुत रहने पर तत्तुल्य किसी अप्रस्तुत वस्तु का वर्णन।

तदन्यस्य कारणादेः। क्रमेणोदाहरणम्

मूल कारिका मे 'तदन्यस्य' से तात्पर्य कारण आदिक (तद्भिन्न) का, से है। यहाँ पर कार्य कारण और सामान्य विशेष के परस्पर होने या न होने से एक की उपस्थिति और अपर के अनुपस्थिति से तात्पर्य है। प्रत्येक के क्रमशः उदाहरण लिखे जाते हैं :—

याताः किं न मिलन्ति सुन्दरि ! पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते
नो कार्या नितरां कृशाऽसि कथयत्येवं सबाष्पे मयि।
लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ॥४३९॥

अर्थ —[कोई मनुष्य अपने मित्र से कहता है—] विदा होते समय आँखों में आँसू भर कर जब मैंने अपनी प्यारी स्त्री से कहा हे सुन्दरी ! जो लोग यात्रा के लिये जाते हैं क्या वे फिर लौटकर नहीं मिलते ? अतः तुम मेरे लिये कुछ भी चिन्ता मत करो। मारे चिन्ता के तुम बहुत दुबली हो गई हो, तो मेरे इतना कहने पर लज्जा से उसकी आँखों के तारे निश्चल हो गये तथा वहती हुई आँसुओ की की धारा भी रुक गई—ऐसी दशा मे मेरी ओर देख हँसकर उस प्रियतमा ने अपने मरण विषयक भावी उत्साह की सूचना दी।

अत्र प्रस्थानात्किमिति निवृत्तोऽसीति कार्ये पृष्टे कारणमभिहितम्।

यहाँ पर जब किसी मित्र ने पूछा कि तुम प्रस्थान से क्यों लौट आये ? तो कार्य विषयक जिज्ञासा करने पर (अप्रस्थान का) कारण बतलाया गया है।

[दूसरे प्रकार की अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण :—]

राजन् ! राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः
कुब्जे ! भोजय मां कुमार ! सचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते।
इत्थं नाथ ! शुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरात्
चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥४४०॥

अर्थ—[कोई कवि राजा की प्रशंसा मे कह रहा है—] हे राजन् !

आपके शत्रुओं के घर मे पथिकों द्वारा पिजड़ों से उड़ाया गया शत्रु का तोता सूनी अटारी पर चित्रलिखित उन लोगों को देखकर बारी-बारी मे प्रत्येक से ऐसी बातें कहता है। हे राजन्! राजकन्या तो मुझे पढाती ही नहीं, रानियाँ भी सब चुपचाप हैं हे कुबड़ी! मुझे खिला, हे कुमार! क्या अब तक तुम्हारे साथियों ने भोजन नहीं किया?

अत्रप्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य गता इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम्।

यहाँ पर 'आपको आक्रमण के लिये उद्यत जानकर सहसा आपके शत्रु भाग निकले' इस प्रस्तुत कारण के अवसर पर कार्य का कथन किया गया है।

[तीसरे प्रकार की अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण :—]

एतत्तस्य मुखात्कियत् कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन् यदस्मादपि।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा ॥४४१॥

अर्थ—यह कौन-सी बड़ी बात थी कि उस मूर्ख ने किसी से यह सुन लिया कि कमलिनी के पत्ते पर जो जलबिन्दु है वह मोती है, बस वैसा ही मान भी लिया। परन्तु अंगुली के अग्रभाग से शीघ्रतापूर्वक उठाने के समय जब वह जलबिन्दु धीरे-से (गिरकर) विलीन हो गया तब मेरा रत्न उड़कर कहाँ चला गया—ऐसा प्रतिदिन वह कहता रहता है। मारे शोक के उसे नींद भी नहीं आती।

अत्रास्थाने जडानां ममत्वसंभावना भवतीति सामान्ये प्रस्तुते विशेषः कथितः।

यहाँ पर मूर्खजनको बिना बात की बात मे ममता की सम्भावना होती है, इस प्रस्तुत सामान्य विषय के वर्णन मे एक विशेष बात का दृष्टान्त उठाया गया है।

[चौथे प्रकार की अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण :—]

सुहृद्वधूबाष्पजलप्रमार्जनं करोति वैरप्रतियातनेन यः ।
स एव पूज्यः स पुमान् स नीतिमान् सुजीवितं तस्य स भाजनं श्रियः ॥४४२॥

अर्थ—जो मनुष्य वैर का बदला लेकर अपने मित्र की धर्मपत्नी के आँसुओं को पोंछेगा वही पूजनीय होगा, वही यथार्थ मनुष्य है, वही नीतिज्ञ है; उसी का जीवन सफल है और वही सम्पत्ति लाभ का पात्र होगा ।

अत्र 'कृष्णं निहत्य नरकासुर वधूनां यदि दुःखं प्रशमयसि तत् त्वमेव श्लाघ्यः' इति विशेषे प्रकृते सामान्यमभिहितम् ।

यहाँ पर 'यदि कृष्ण को मानकर नरकासुर की स्त्रियों का दुःख तुम निवारण करोगे तो तुम्हीं प्रशंसाभाजन होगे' इस विशेषार्थ के प्रस्तुत रहने पर केवल सामान्यार्थ का कथन किया गया है ।

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः श्लेषः समासोक्तिः सादृश्य-मात्रं व तुल्यात्तुल्यस्य हि आक्षेपे हेतुः । क्रमेणोदाहरणम्

तुल्य के प्रस्तुत रहने पर तत्तुल्य किसी अन्य पदार्थ के कथन के तीन प्रकार हैं । तुल्य से तुल्य के आक्षेप का हेतु श्लेष, समासोक्ति तथा केवल सादृश्य भी होता है । प्रत्येक के क्रमशः उदाहरण नीचे दिये जाते हैं ।

[श्लेषहेतुकतुल्य से तुल्य का आक्षेप :—]

पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि यायाद्यदि प्रणयने न महानपिस्यात्।
अभ्युद्धरेत्तदपिविश्वमितीदृशीयं केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥४४॥

अर्थ—[विष्णु पक्ष मे—] चाहे पुरुषत्व से च्युत होकर स्त्री (मोहिनी) का रूप बना ले, चाहे (कूर्म या बाराह बनकर) अधोगमन करे और चाहे तो भिक्षा के लिये बड़प्पन छोड़ (वामनरूप बन) कर रहे; परन्तु सभी अवस्था में संसार का उद्धार ही करे—ऐसी रीति अकथनीय गुणवाले भगवान् श्री पुरुषोत्तम (विष्णु) ने प्रत्यक्ष कर दिखाई है ।

[राजा के पक्ष में—] चाहे पौरुष से स्खलित ही हो जाय, धन

सम्पत्ति खो कर नीच दशा को पहुँच जाय, प्रयोजन पड़ने पर माँगने के लिये महत्व विहीन भी हो जाय, परन्तु शत्रुओं द्वारा छीनी गई सब वस्तुओं का फिर से उद्धार कर ही ले। कार्य करने की यह रीति किसी सज्जन की निकाली हुई है अतः आप भी वैसे ही होकर अपने छीने गये राज्य का पुनरुद्धार कीजिये।

[यहाँ पर प्रस्तुत सत्पुरुष के वर्णन के प्रस्ताव में तत्तुल्य अप्रस्तुत भगवान् विष्णु का कथन पुंस्त्वादि विशेषण और पुरुषोत्तमादि विशेष पद द्वारा श्लेष के बल से किया गया है।]

[समासोक्ति हेतुक तुल्य से तुल्य का आक्षेप :—]

येनास्यभ्युदितेन चन्द्र ! गमितः क्लान्तिं रवौ तत्र ते
युज्येत प्रतिकर्तुमेव न पुनस्तस्यैव पादग्रहः।
क्षीणेनैतदनुष्ठितं यदि ततः किं लज्जसे नो मनाग्-
अस्त्येव जडधामता तु भवतो यद्व्योम्नि विस्फूर्जसे ॥४४४॥

अर्थ—हे चन्द्रमा ! जिस सूर्य के उदय होते ही तुम निस्तेज हो गये, तुम्हें उसका प्रतिकार करना था न कि उसी का पादग्रहण। यदि तुमने क्षीण (धनहीन) होकर ऐसा किया तो फिर थोड़ा लज्जित क्यों नहीं होते ? यह तुम्हारी जड़धामता (शीतलता वा मूर्खता) ही तो ठहरी जो फिर भी तुम आकाश में चमक रहे हो।

[यहाँ पर विशेष्यवाची चन्द्र शब्द तो श्लिष्ट नहीं है; परन्तु विशेषण वाचक शब्द धनी और दरिद्र का आक्षेप करके समासोक्ति हेतुक अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण बन जाता है।]

[केवल सादृश्य हेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण :—]

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः किं तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च ॥४४५॥

[दूसरों से धन बटोरकर असत्कार्य मे व्यय करनेवाले प्रकरण प्राप्त किसी पुरुष के प्रस्तुत वर्णन में अप्रस्तुत समुद्र का उल्लेख यहाँ पर केवल सादृश्य मात्र से प्रकट किया गया है ।]

इयं च काचित् वाच्ये प्रतीयमानार्थाऽनध्यारोपेणैव भवति । यथा

यह पाँचवे प्रकार की (तुल्य के प्रस्तुत रहने पर तुल्यता कथन रूप) अप्रस्तुत प्रशंसा कही वाच्य अर्थ के सम्भावित होने पर विना व्यंग्य अर्थ के अध्यारोप द्वारा हो सकती है। उदाहरण :—

अब्धेरम्भः स्थगितभुवनाभोगपातालकुक्षेः
पोतोपाया इह हि बहवो लंघनेऽपि क्षमन्ते ।
आहो रिक्तः कथमपि भवेदेष दैवात्तदानीं
को नाम स्यादवटकुहरालोकनेऽप्यस्य कल्पः ॥४४६॥

अर्थ—निज जल द्वारा पृथ्वी के भागों और पाताल के गड्ढों को भर देने वाले समुद्र को लाँघने मे भी पोत आदि के द्वारा अनेक समुद्र-वणिक् (समुद्र मे व्यापार करनेवाले) समर्थ होते हैं, किन्तु यदि यह समुद्र दैवयोग से जल रहित हो जाय तो फिर इसके गड़हों तथा छिद्रों को कोई देख भी न सकेगा ।

[यहाँ पर पीडादायक दुष्ट प्रभु का धनपूर्ण होना ही भला है धन-हीन होना नहीं ! नहीं तो वह और भी अधिक दुःखदायी हो जायगा। यह तो व्यंग्य अर्थ है, परन्तु वाच्य अर्थ के सम्भावित होने पर प्रतीय-मान अर्थ के अध्यारोप की कोई आवश्यकता नहीं है ।]

क्वचिदध्यारोपेणैव । यथा

कहीं-कहीं पर जहाँ पर वाच्य अर्थ सम्भावित नहीं रहता वहाँ पर व्यंग्य अर्थ के अध्यारोप से ही अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है । उदाहरण :—

कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
रागादि द्व वच्मि साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते ।

वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायाऽपि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे ॥४४७॥

अर्थ—[कोई पथिक शाखोटक (सेहुँड) वृक्ष से पूछता है] भाई तुम कौन हो? [शाखोटक उत्तर देता है—] कहता हूँ 'मुझे अभागा शाखोटक वृक्ष जानो'। [पथिक फिर कहता है—] तुम तो वैरागी की भाँति बोल रहे हो। [शाखोटक बोला—] हाँ आपने ठीक पहचाना [फिर पथिक पूछता है—] आपके वैराग्य का कारण क्या है? [शाखोटक उत्तर देता है—] देखो, मार्ग की बाईं ओर स्थित जो वट-वृक्ष है पथिकगण बड़े प्रेम से उसकी सेवा में तत्पर हैं; परन्तु मैं यद्यपि बीच मार्ग में स्थित हूँ, तथापि मेरी छाया से भी किसी अन्य का उपकार नहीं हो सकता है।

[यहाँ पर अचेतन शाखोटक के साथ किसी का वार्तालाप असम्भव होने से वाच्यार्थ बाधित है। अतएव व्यंग्य अर्थ यह है कि किसी अधम जाति के दाता द्वारा दिये गये दान को सत्पुरुष स्वीकार नहीं करते—यह प्रस्तुत प्रकरण है। अतः शाखोटक में अधम जाति के दाता का अध्यारोप आवश्यक है।]

क्वचिदंशेऽप्यध्यारोपेण। यथा

कहीं-कहीं केवल कुछ अंश में अध्यारोप और कुछ अंश में बिना अध्यारोप ही के अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार होता है। उदाहरण :—

सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत् कर्णयोश्चापलं
दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वपरदिक् किं भूयसोक्तेन वा।
सर्वं विस्मृतवानसि भ्रमर हे यद्वारणोऽद्याप्यसौ

पहिचानती (आप्त वा अनाप्त पुरुषों का विवेक नहीं करती), उसका और क्या विशेष वर्णन करें ? तुम तो सभी बातें भूल गये। अरे ! इसका कर (सूँड़ वा हाथ) भीतर से छूछा ही है। क्या अब तक तुम उसी वारण (हाथी वा सेवक के निवारणकर्ता) ही का सेवन कर रहे हो ? अरे भाई ! यह कैसा हठ है ?

अत्र रसनाविपर्यासः शून्यकरत्वं च भ्रमरस्यासेवने न हेतुः कर्णचापलं तु हेतुः मदः प्रत्युत सेवने निमित्तम्।

यहाँ पर रसनाविपर्यय (जीभ का उलटा होना वा आगे पीछे के कथन का परस्पर विपरीत होना) और शून्यकरत्व (शुण्ड वा हाथ का छूछा होना) भ्रमर के सेवन न करने का कारण नहीं है, किन्तु सेवन करने में बाधक हेतु है। कर्णचापल (कान का हिलाना वा सब किसी की बातों में आ जाना) और मद तो सेवन का हेतु है ही। अतएव यहाँ पर कुछ अंश में अध्यारोप है और कुछ में नहीं

[तात्पर्य यह है कि कर्ण चापलत्वांश में व्यंग्य अर्थ का अध्यारोप आवश्यक नहीं है, किन्तु रसनाविपर्यय, मदविस्मृतहस्तत्व और शून्यकरत्व इन तीन अंशों में आवश्यक हैं। यहाँ पर श्लेष के बल से वाच्य अर्थ तो हाथी और भ्रमर का सम्बन्ध प्रकट कर रहा है और व्यंग्य अर्थ दुष्ट प्रभु और अनुरक्त सेवक का सम्बन्ध सूचित करता है।]

[अतिशयोक्ति नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १५३) निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।

प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥१००॥

कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः।

विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा

अर्थ—एक प्रकार की अतिशयोक्ति वह है जहाँ प्रकृत विषय (उपमेय) को दूसरा (उपमान) इस प्रकार पृथक् न बताकर अपने में मिलाकर छिपा ले कि उस (उपमेय) का पता ही न चले। दूसरे जहाँ वर्ण्य विषय का कथन प्रकारान्तर से किया जाय। तीसरे जहाँ 'यदि' वा

'चेत्' आदि शब्दों द्वारा किसी असम्भव बात की कल्पना की जाय। चौथे जहाँ पर कार्य और कारण इन दोनों के पूर्व-पश्चाद्भावों के क्रम में उलट-फेर हो। उक्त चारों दशाओं में अतिशयोक्ति नामक अलङ्कार जानना चाहिये।

उपमानेनान्तर्निगीर्णस्योपमेयस्य यदध्यवसानं सैका। यथा—
उनमें से पहली अतिशयोक्ति, जिसमें उपमान ने उपमेय को अपने में निगल लेने की भाँति मिला लिया हो, का उदाहरण :—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥४४९॥

अर्थ—जल रहित स्थान में तो कमल (स्त्री मुख) है और उस एक कमल के भीतर दो नीले कमल (स्त्री के दोनों नेत्र) हैं और ये सब सोने की लता (स्त्री के शरीर) में हैं; और तिसपर भी वह सुकुमारी सुन्दर रूपवाली है! अहो! यह कैसी उत्पात की श्रेणी खड़ी हो गई है!

अत्र मुखादि कमलादिरूपतयाऽध्यवसितम्।

यहाँ पर स्त्री-मुख आदि कमल आदि के आकार में लुप्त हुए-से प्रतीत होते हैं।

यच्च तस्यैवान्यत्वेनाध्यवसीयते साऽपरा यथा

दूसरी अतिशयोक्ति, जिसमें वर्ण्य विषय (उपमेय) किसी प्रकारान्तर से प्रतीति का विषय हो, का उदाहरण :—

अण्णं लडहत्तणअं अण्णा चिअ का वि वत्तणच्छाआ।
सामा सामण्णपआवइणो रेह चिअ ण होइ ॥४५०॥

छाया—अन्यत्सौकुमार्यमन्यैव च कापि वर्तनच्छाया।
श्यामा सामान्यप्रजापतेः रेखैव च न भवति।]

ब्रह्मा की सिरजी हुई ही नहीं है।

[श्यामा स्त्री का लक्षण ऊपर चतुर्थ उल्लास मे लिखा जा चुका है।]

'यद्यर्थस्य' यदिशब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ यत्कल्पनम् (अर्थादासम्भविनोऽर्थस्य) सा तृतीया। यथा

तीसरी अतिशयोक्ति, जिसमें यदि, वा, चेत् आदि शब्दों के द्वारा किसी असम्भव बात की कल्पना की जाय, का उदाहरण :—

राकायामकलङ्कं चेदमृतांशोर्भवेद्वपुः।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ॥४५१॥

अर्थ—यदि पूर्णिमा के अवसर पर कहीं चन्द्रमा का निष्कलङ्क रूप दिखाई पड़े तब कहीं जाकर उस नायिका का चन्द्रसदृश वदन पराजित हो!

कारणस्य शीघ्रकारितां वक्तुं कार्यस्य पूर्वमुक्तौ चतुर्थी। यथा

चौथी अतिशयोक्ति, जिसमे कारण की शीघ्रता सिद्ध करने के लिये कार्य की उत्पत्ति से पूर्व ही उसका कथन किया जाय, का उदाहरण :—

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन।
चरमं रमणीवल्लभ लोचनविषयं त्वया भजता ॥४५२॥

अर्थ—हे स्त्रियों के प्यारे युवक! पहले तो फूल धनुष-बाणधारी कामदेव ने मालती (नामक नायिका) के हृदय मे अपना अड्डा जमाया पीछे से उसे दिखलाई पडकर आप भी वहीं (मालती के हृदय मे) जा बसे।

[प्रतिवस्तूपमा नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १५४) प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥१०१॥

सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः।

अर्थ—जहाँ पर साधारण धर्म का दो भिन्न-भिन्न वाक्यों मे भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा) दो बार कथन किया जाय वहां प्रतिवस्तूपमा होती है।

साधारणो धर्मः उपमेयवाक्ये उपमानवाक्ये च कथितपदस्य दुष्टतयाऽभिहितत्वात् शब्दभेदेन यदुपादीयते सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात् प्रतिवस्तूपमा। यथा

मूल कारिका का अर्थ विशद करने के लिये कहते हैं कि जहाँ पर साधारण धर्म उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य—इन दोनों में कथितपद नामक दोष के निवारणार्थ भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाय वहाँ पर वस्तु के साथ वाक्यार्थ के उपमान होने से अलङ्कार का नाम प्रतिवस्तूपमा रखा गया है।

[अभावरूप प्रतिवस्तूपमालङ्कार का उदाहरण :—]

देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्वेषा।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम्॥४५३॥

अर्थ—जो रानी देवी अर्थात् पटरानी के पद को पा चुकी है अब वह किस सामान्य स्त्री के पद को कैसे ग्रहण करे? जो रत्न देवता के नाम पर चढ़ाया जा चुका है अब वह भला सचमुच अपने उपयोग में कैसे लाया जा सकता है?

[मालारूप प्रतिवस्तूपमालङ्कार का उदाहरण :—]

यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता॥४५४॥

[इस श्लोक का अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है। देखिये पृष्ठ २४१]

इत्यादिका मालाप्रतिवस्तूपमा द्रष्टव्या। एवमन्यत्राप्यनुसर्तव्यम्।

इत्यादि उदाहरण माला प्रतिवस्तूपमा के जान लेने चाहियें, और ऐसे ही अन्यान्य उदाहरण भी समझ लिये जावें।

[दृष्टान्त नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १५५) दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्॥१०२॥

अर्थ—दृष्टान्त नामक अलङ्कार वहाँ पर होता है, जहाँ पर (उपमेय वाक्य तथा उपमान वाक्य में) इन सब (उपमान, उपमेय

और साधारण धर्मादिक) का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव हो। [बिम्ब प्रति-बिम्ब भाव उसे कहते हैं, जहाँ पर वास्तव में भिन्न उपमान और उपमेय सादृश्य गुण द्वारा एक ही प्रतीत होकर भी पृथक्-पृथक् कथित हों।]

एतेषां साधारणधर्मादीनाम् दृष्टोऽन्तो निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः।

मूलकारिका में एतेषा = साधारण धर्मादि का, दृष्ट = देख लिया गया है प्रमाणरूप से, अन्त = निश्चय जिस उदाहरण में। तात्पर्य यह है कि निश्चयरूप से साधारण धर्म आदि का प्रमाण्य जिस उदाहरण मे देख लिया गया है, उसी का नाम दृष्टान्त है।

[साधर्म्य विशिष्ट दृष्टान्तालङ्कार का उदाहरण :—]

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम्।
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः ॥४५५॥

अर्थ—कामदेव द्वारा तपाया गया उस नायिका का मन आपके दर्शन मात्र से शान्ति को प्राप्त होता है, जैसे कि चन्द्रमा के दर्शन मात्र से कुमुदिनी का पुष्प विकसित होता हैं।

एष साधर्म्येण। वैधर्म्येण तु—

यह साधर्म्य का उदाहरण हुआ वैधर्म्य विशिष्ट दृष्टान्त का उदाहरण तोः—

तवाहवे साहसकर्मशर्मणः करं कृपाणान्तिकमानिनीषतः।
भटाः परेषां विशरारुतामगुः दधत्यवाते स्थिरतां हि पांसवः ॥४५६॥

अर्थ—हे राजन्! युद्ध मे साहस का कार्य करके सुखी होनेवाले आप जब अपने हाथ को तलवार के समीप ले जाना चाहते हैं तब आपके शत्रुओं के योद्धागण (युद्ध-स्थल से) भाग निकलते हैं। वास्तव में बात तो यह है कि जब पवन नहीं चलता तभी तो धूलि भी स्थिरता-पूर्वक पड़ी रहा करती है।

[दीपक नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १५६) सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥१०३॥

अर्थ—प्रकृत (उपमेय) और अप्रकृत (उपमान) इन दोनों के क्रियादिक जो धर्म हैं, उनका एक ही बार में कथन एक प्रकार का दीपक अलङ्कार है, जो क्रिया दीपक कहलाता है और वही एक बार का कथन यदि कई एक कारकों के सम्बन्ध में हो तो वह दूसरे प्रकार का दीपक अलंकार है जो कारक दीपक कहलाता है।

प्राकरणिकाप्राकरणिकानाम् अर्थात् उपमानोपमेयानाम् धर्मः क्रियादिःएकवारमेव यत् उपादीयते तत् एकस्थस्यैव समस्तवाक्यदीपनात् दीपकम्। यथा

प्रकरण से सम्बद्ध (उपमेय) और प्रकरण से असम्बद्ध (उपमान) इन दोनों के जो धर्म, गुण, क्रियादिक हैं उनका एक ही बार जो कथन किया जाय तो उस एकनिष्ठ पद के द्वारा समस्त वाक्य के प्रकाशित होने के कारण इस अलङ्कार को दीपक कहते हैं। उदाहरण :—

किवणाण धणं णाआणं फणमणी केसराइं सीहाणं।
कुलबालिआण त्थणआ कुतो छिप्पन्ति अमुआणम् ॥४५७॥

[छाया—कृपणानां धन नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम्।
कुलबालिकानां च स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम् ॥]

अर्थ—कृपण जनों के धन को, सर्पों के फणस्थ मणि को, सिंहों के केसर को और सती कुलस्त्रियों के स्तनों को भला कोई उनके जीते जी कैसे छू सकता है?

कारकस्य च बह्वीषु क्रियासु सकृद्वृत्तिर्दीपकम्। यथा

को सिकोड लेती है, हट जाती है, करवटें पलटती है, मुख फेरकर लेट जाती है, आँखें मूँद लेती है। तिरछा ताकती है। मन हीं मन प्रसन्न होती है और अपने प्यारे पति के मुख को चूम लेना चाहती है।

[मालादीपक का लक्षण :—]

(सू० १५७) मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम्।

अर्थ—मालादीपक वहाँ पर होता है जहाँ पर पहिले के विषय में कही गई बात पिछले-पिछले के विषय की बात में गुणों को बढाती चले [तात्पर्य यह है कि जहाँ पहिले-पहिले कही गई बात पीछे कही गई बातों की उपकारक (शोभावर्द्धक) हो।] उदाहरण :—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्त्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम्॥४५९॥

[इस श्लोक का अर्थ ऊपर सप्तम उल्लास मे लिखा जा चुका है। देखिये पृष्ठ २१६,]

[तुल्ययोगिता नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १५८) नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता॥१०४॥

अर्थ—नियत अथवा वर्णनीय विषय के साधारण धर्म का यदि एक ही एक वर्णन किया जाय तो वह तुल्ययोगिता नामक अलङ्कार कहलाता है।

नियतानांप्राकरणिकानामेवअप्राकरणिकानामेवया। क्रमेणोदाहरणम्

यहाँ पर नियत शब्द से तात्पर्य प्रकरण प्राप्त वा प्रकरण से अप्राप्त इन दोनों मे से किसी एक (उपमेय वा उपमान मात्र) से लिया गया है। केवल प्रस्तुत विषय के धर्म का एक बार कथनरूप तुल्ययोगिता का उदाहरण :—

पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि! हृदन्तः॥४६०॥

[इस श्लोक का अर्थ उत्तर सप्तम उल्लास में लिखा जा चुका है। पृष्ठ २७५.]

[केवल अप्रस्तुत विषय के धर्मों का एक बार कथनरूप तुल्ययोगिता का उदाहरण:—]

कुमुदकमलिनीलनीरजालिर्ललितविलासजुषोर्दृशोः पुरः का।
अमृतममृतरश्मिरम्बुजन्म प्रतिहतमेकपदे तवाननस्य ॥४६१॥

अर्थ—हे सुन्दरि ! मनोहर विलासशील तुम्हारी आँखों की तुलना में किसी लाल या नीले कमल की क्या गिनती है ? अमृत, चन्द्रमा और सरोज—ये भी तुम्हारे मुख के सामने तुच्छ ही प्रतीत होते हैं।

[व्यतिरेक नामक अलङ्कार का लक्षण:—]

(सू० १५९) उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।

अर्थ—उपमान की अपेक्षा तद्भिन्न (उपमेय) का जो विशेष गुणरूप उत्कर्ष कहा जाता है, वही व्यतिरेक नामक अलंकार है।

अन्यस्योपमेयस्य व्यतिरेक आधिक्यम्।

मूल कारिका में अन्य का उपमेय से और व्यतिरेक का आधिक्य या विशेष गुण कथनरूप उत्कर्ष से तात्पर्य है।

[उपमान की अपेक्षा उपमेय में जहाँ आधिक्य का कथन हो वहीं पर व्यतिरेक नामक अलङ्कार होता है न कि इसके विपरीत जहाँ पर उपमेय की अपेक्षा उपमान का आधिक्य कहा जाय वहाँ भी व्यतिरेक को मानना उचित है। उदाहरण:—]

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्द्धते सत्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि ! यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥४६२॥

अर्थ—हे सुन्दरि ! यह बात तो सच है कि चन्द्रमा बारम्बार घट-घट कर फिर-फिर बढ़ता है, परन्तु युवावस्था जो एक बार व्यतीत हो गई सो फिर नहीं लौटती, (अतएव मान का परित्याग करके) क्रोध को छोड़कर मुझ पर प्रसन्न हो जाओ।

इत्यादा वुपमानस्योपमेयादाधिक्यमिति केनचिदुक्तं स्थैर्याधिक्य हि विवक्षितम्।

इत्यादि उदाहरण द्वारा (रुय्यक ने) जो कहा है कि उपमान मे उपमेय की अपेक्षा आधिक्य कथनरूप व्यतिरेक अलङ्कार है वह ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यहाँ पर युवावस्था उपमेय ही मे अस्थिरता-रूप आधिक्य का कथन इष्ट है।

व्यतिरेक अलङ्कार के चौबीस प्रकार के भेदों का निरूपण:—]

(सू० १६०) हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते।
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत्त्रिरष्ट तत् ॥१०५॥

अर्थ—व्यतिरेक के दोनों हेतु जब कहे जायँ, अथवा दोनो हेतुओं में से कोई एक वा दोनों न कहे जायँ—ऐसे अनुक्त हेतुवाले तीन भेद मिलाकर व्यतिरेक के चार भेद हुए। इन चारों मे यदि समता (उपमा-नोपमेयभाव), शब्द की शक्ति, अर्थ की शक्ति वा आक्षेप द्वारा प्रकट हो तो चारों के तीन प्रकार के भेदों से व्यतिरेक के बारह भेद हुये—ये बारहों भी कभी श्लिष्ट और कभी अश्लिष्ट भेदों से दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार के कुल मिलाकर बारह के दुगुने अर्थात् चौबीस भेद हुए।

व्यतिरेकस्य हेतुः उपमेयगतमुत्कर्षनिमित्तम् उपमानगतमपकर्षकारणम् तयोर्द्वयोरुक्तिः एकतरस्य द्वयोर्वा अनुक्तिरित्यनुक्तित्रयम्। एतद्भेदचतुष्टयमुपमानोपमेयभावे शब्देन प्रतिपादिते आर्थेन च क्रमेणोक्ताश्चत्वार एव भेदाः आक्षिप्ते चौपम्ये तावन्त एव, एवं द्वादश। एते श्लेषेऽपि भवन्तीति चतुर्विंशतिर्भेदाः। क्रमेणोदाहरणम्—

व्यतिरेक अलङ्कार के हेतु दो प्रकार के हो सकते हैं। उपमेयगत उत्कर्ष निबन्ध और उपमानगत अपकर्ष निबन्ध। फिर इन दोनों हेतुओं का शब्द द्वारा जहाँ पर उल्लेख किया गया हो वह एक तथा इन हेतुओं मे से किसी एक का वा बारी-बारी से दोनों का अनुल्लेख हो

तो तीन भेद हुये। उक्त रीति से एक उक्त हेतुवाला और तीन अनुक्त हेतुवाले को मिलाकर व्यतिरेक के चार भेद हुए। पुनः इस अलङ्कार में उपमानोपमेय भाव कहीं शब्दों द्वारा, कहीं अर्थ द्वारा और कहीं आक्षेप द्वारा भी सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार पूर्व के चारों भेद पिछले तीनों भेदों समेत सम्मिलित होकर व्यतिरेक के बारह भेद बनाते हैं। ये बारहों भेद भी अश्लिष्ट शब्द विशिष्ट वाक्यों की भाँति श्लिष्ट शब्द विशिष्ट वाक्यों में भी हो सकते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर व्यतिरेक के चौबीस भेद हुये। क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं।

[प्रथम व्यतिरेक के उस भेद का उदाहरण दिया जाता है, जिसमें शब्द अश्लिष्ट हैं तथा दोनों हेतु कथित हैं और समता का ज्ञान शब्द शक्ति के द्वारा होता है।]

असिमात्रसहायस्य प्रभूतारिपराभवे
अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महाधृतेः ॥४६३॥

अर्थ—केवल तलवार को अपने साथ लिये हुये इस अत्यन्त धीर स्वभाव राजा को बहुत से शत्रुओं को पराजित कर लेने पर भी अन्य तुच्छ मनुष्यों की भाँति घमण्ड नहीं होता।

अत्र च तुच्छेति महाधृतेरिति च पर्यायेण उपपद्यादानुपादानेऽन्यच भेदत्रयम्। एवमन्येष्वपि द्रष्टव्यम्। अत्र इव शब्दस्य सद्भावाच्छाब्दमौपम्य

[अब व्यतिरेक के उस भेद का उदाहरण दिया जाता है, जिसमे शब्द अश्लिष्ट है और दोनों हेतु भी कथित हैं ; परन्तु समता का ज्ञान अर्थ-शक्ति द्वारा होता है ।]

असिमात्रसहायोऽपि प्रभूतारिपराभवे ।
नैवान्यतुच्छजनवत्सगर्वोऽयं महाद्युतिः ॥४६४॥

अर्थ—शाब्दी उपमावाले श्लोक ही की भाँति होगा ।

अत्र तुल्यार्थे वतिरित्यार्थमौपम्यम् ।

यहाँ पर तुल्यार्थता बोधक 'वतिप्' प्रत्यय 'तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः' इस पाणिनिसूत्रानुसार हुआ है । अतएव इसमे उपमा आर्थी है, यहाँ पर भी पूर्व श्लोक की भाँति—'नूनं नैवान्यजनवत् सगर्वोऽयंमहाधृतिः।' मे उपमानगत अपकर्ष हेतु अनुक्त है । 'नैवान्यतुच्छजनवत् सगर्वोऽयं महीपतिः।' यहाँ पर उपमेयगत उत्कर्ष हेतु अनुक्त है । 'नूनं नैवान्य जनवत् सगर्वोऽयं महीपतिः।' यहाँ पर दोनों हेतु अनुक्त हैं । इस प्रकार 'तुच्छ' और 'महाधृति' शब्दों के क्रमशः वा इकट्ठा हटा देने से हेत्वनुक्ति के तीनों भेद दिखाये जा चुके ।

[अब व्यतिरेक के उस भेद का उदाहरण दिया जाता है, जिसमें शब्द अश्लिष्ट हों, दोनों हेतु भी कथित हों; परन्तु समता आक्षिप्त (व्यंग्य) हो ।]

इय सुनयना दासीकृततामरसश्रिया ।
आननेनाकलङ्केन जयतीन्दुं कलङ्किनम् ॥४६५॥

अर्थ—यह सुन्दर नेत्रोंवाली नायिका, जिसने अपने मुख की शोभा से कमल के सौन्दर्य को जीत लिया है, अपने निष्कलङ्क मुख से कलङ्की चन्द्रमा को जीत लेती है ।

अत्रेवादितुल्यादिपदविरहेण आक्षिप्तैवोपमा ।

इस श्लोक में इव आदि वा तुल्य आदि पदों के न होने से उपमान तो शाब्दी है, न आर्थी, किन्तु जयति शब्द से आक्षिप्त (व्यग्य) होती है । यहाँ पर भी पूर्व की भाँति—'आननेनाकलङ्केन जयत्यमृत-

दीधितम्। आननेन मनोज्ञेन जयतीन्दुं कलङ्किनम्।' और 'आननेन मनोज्ञेन जयत्यमृतदीधितिम्।' इन तीनों उदाहरणों में क्रमशः उपमानगतापकर्ष हेतु, उपमेयगतोत्कर्षहेतु और उभय हेतुओं के अकथित रह जाने से आर्थिक उपमावाले अनुक्तहेतुक तीनों उदाहरण प्रदर्शित हुए। इस प्रकार अश्लिष्ट भेदवाले व्यतिरेकालङ्कार के बारहों उदाहरण दिखाये जा चुके।]

[अब श्लिष्ट शब्दवाले व्यतिरेक के बारहों उदाहरणों में से प्रथम वह उदाहरण दिखलाया जाता है, जहाँ दोनों हेतु कथित और उपमा शाब्दी है।]

जितेन्द्रियतया सम्यग्विद्यावृद्धनिषेविणः।
अतिगाढगुणस्यास्य नाब्जवद्भङ्गुरा गुणाः ॥४६६॥

अर्थ—जितेन्द्रिय होने के कारण भली भाँति पण्डितों की सेवा करनेवाले इस राजा के दृढ़ता विशिष्ट धैर्य आदि गुण कमल पुष्प के गुणों (तन्तुओं) की भाँति विनाशशील नहीं है।

अत्र वार्थे वति गुणशब्द श्लिष्टः शाब्दमौपम्यम्।

यहाँ पर 'तत्र तस्येव' इस सूत्र से 'वति' प्रत्यय हुआ है, और गुण शब्द (धैर्य आदि एवं रस्सी या तन्तु वाचक होने से) श्लिष्ट है। उपमा शाब्दी है। [इसमें भी पूर्व की भाँति 'अतिगाढ़गुणस्य' और 'अब्जवद्भङ्गुराः' इन शब्दों के क्रमशः वा इकट्ठा हटा देने से अनुक्त हेतु के तीनों भेद हो जाते हैं।]

[श्लिष्ट शब्दवाले व्यतिरेक के उदाहरणों में से जहाँ दोनों हेतु कथित हैं और उपमा आर्थी है—ऐसा उदाहरण :—

अखण्डमण्डलः श्रीमान् पश्यैष पृथिवीपतिः।
न निशाकरवज्जातु कलावैकल्यमागतः ॥४६७॥

अर्थ—देखो, शोभा सम्पन्न विशिष्ट पूर्णमण्डल वाला यह राजा कभी भी चन्द्रमा की भाँति अपनी कलाओं (चित्रकला आदि चतुरा-ष्टी या सोलहों कला) के नाश को नहीं पाता।

अत्र तुल्यार्थे वतिः कलाशब्दः श्लिष्टः ।

यहाँ पर 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्र से तुल्यार्थक् 'वतिप्' होने से उपमा आर्थी है और कला शब्द श्लिष्ट है। [इसमे भी पूर्व की भाँति हेतुओं में से किसी एक वा दोनों के अकथित होने पर अनुक्त हेतुवाले तीनों भेद हो सकते हैं।]

मालाप्रतिवस्तूपमावत् मालाव्यतिरेकोऽपि सम्भवति । तस्यापि भेदा एव मूह्याः । दिङमात्रमुदाह्रियते । यथा

माला प्रतिवस्तूपमालङ्कार की भाँति माला व्यतिरेकालङ्कार के उदाहरण भी हो सकते हैं और उक्त प्रकार से इसके भी भेद ऊहय अथवा प्रतिपाद्य हैं। दिग्दर्शन के लिये थोड़े से उदाहरण यहाँ लिखे जाते हैं।

[श्लिष्ट भेदवाले आर्थी उपमा के मालारूप व्यतिरेकालङ्कार का उदाहरण :—]

हरवन्न विषमदृष्टिर्हरिवन्न विभो विधूतविततवृषः ।
रविवन्न चातिदुःसहकरतापितभूः कदाचिदसि ॥४६८॥

अर्थ—हे राजन् ! आप न तो शिव जी की भाँति विषमलोचन (त्रिनेत्र वा विषमदर्शी) हैं, न श्रीकृष्ण जी की भाँति आपने बड़े वृष (वृषासुर व धर्म) को पृथक् फेंक दिया है और न कभी आप सूर्यदेव के समान अपने करों (किरणों वा आदेय धन) द्वारा पृथ्वी को सन्ताप देनेवाले हैं।

अत्र तुल्यार्थे वतिः विषमादयश्च शब्दाः श्लिष्टाः ।

यहाँ पर तुल्य अर्थ में 'वतिप्' प्रत्यय है ; अतएव उपमा आर्थी है और विषम आदि शब्दों में श्लेष है।

[अब श्लिष्ट शब्दवाले व्यतिरेक के उदाहरणों में से वह उदाहरण दिखलाया जाता है, जहाँ दोनों हेतु कथित हैं और उपमा आक्षिप्त है।

नित्योदितप्रतापेन त्रियामामीलितप्रभः ।
भास्वताऽनेन भूपेन भास्वानेष विनिर्जितः ॥४६९॥

अर्थ—सदा उदित पराक्रम द्वारा तपनेवाले इस प्रकाशशील राजा ने रात्रि में जिसकी चमक नष्ट हो जाती है, ऐसे सूर्य को जीत लिया है।

अत्र आक्षिप्तैवोपमा भास्वतेति श्लिष्टः यथा वा

यहाँ पर 'विनिर्जित' शब्द से राजा और सूर्य की उपमा आक्षिप्त है और 'भास्वता' पद श्लिष्ट है। [यहाँ पर भी पूर्व की भाँति हेतुओं के क्रमशः वा इकट्ठा अनुक्त होने से तीनों भेद प्रदर्शित हो सकते हैं। आक्षिप्तोपमा का एक अन्य उदाहरण :—

स्वच्छात्मतागुणसमुल्लसितेन्दुबिम्बं बिम्बप्रभाधरमकृत्रिमहृद्यगन्धम्।
यूनामतीव पिबतां रजनीषु यत्र तृष्णां जहार मधु नाननमङ्गनानाम् ॥४७०॥

अर्थ—जहाँ पर वसन्त ऋतु की रात्रियों मे युवा पुरुषों की इच्छा अत्यन्त मधुपान से संतुष्ट हो गई है; परन्तु स्त्री मुखपान (चुम्बन) से नहीं। जो मधु और स्त्रीमुख निर्मल स्वरूप चन्द्रबिम्ब की तरह विकसित (शोभित वा प्रतिबिम्बित) थे, जिनकी मूर्ति (वा अधर) कुंदरू के फल की शोभा धारण करती थी और जिनका गन्ध स्वाभाविक रीति से हृदयङ्गम (चित्त को लुभानेवाला वा मनोज्ञ) था।

अत्रेवादीनां तुल्यादीनां च पदानामभावेऽपि श्लिष्टविशेषणैराक्षिप्तैवोपमा प्रतीयते। एवञ्जातीयकाः श्लिष्टोक्तियोग्यस्य पदस्य पृथगुपादानेऽपि भेदाः सम्भवन्ति। तेऽप्यनयैव दिशा द्रष्टव्याः।

यहाँ पर भी 'इव' और 'तुल्य' आदि शब्दों के न होने से तथा विशेषण शब्दों के श्लिष्ट होने से उपमा आक्षिप्त (व्यंग्य) ही प्रतीत होती है। इसी प्रकार श्लिष्ट (उभयार्थवाची) उक्ति योग्य पदों के पृथक् [illegible] अनेक भेद हो [illegible]। [illegible]।

[आक्षेप अलंकार का लक्षण :—]

(सू० [illegible]) निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥१०६॥

अर्थ—जो प्रकरणप्राप्त कहने योग्य विषय है उसके विशेष (अशक्य कथन योग्यता, व अत्यन्त प्रसिद्धि) के कथन की इच्छा से जहाँ पर उसका निषेध (कथन का अभाव) किया जाय, वहाँ पर आक्षेप नामक अलङ्कार होता है। वह आक्षेप वक्ष्यमाण विषय और उक्त विषय के भेद से दो प्रकार का होता है।

विवक्षितस्य प्राकरणिकत्वादनुपसर्जनीकार्यस्य अशक्यवक्तव्यत्वमतिप्रसिद्धत्वं वा विशेषं वक्तुं निषेधो निषेध इव यः स वक्ष्यमाणविषय उक्तविषयश्चेति द्विधा आक्षेपः। क्रमेणोदाहरणम्—

प्रकरण द्वारा प्राप्त जो कथनीय विषय उपेक्षा (छोड देने) के योग्य नहीं है, उसके कथन न कर सकने के कारण अथवा अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण यदि उसके कथन का निषेध हो (अर्थात् वह न कहा जाय) तो निषेध (अकथन) के सदृश होने से वक्ष्यमाण विषय और उक्त विषय के भेद से, जो दो प्रकार का होता है वह आक्षेप नामक अलङ्कार कहलाता है। क्रमशः नीचे उदाहरण दिये जाते हैं।

[वक्ष्यमाण विषय निषेधरूप आक्षेप का उदाहरण :—]

ए एहि किंपि कीएवि कएण णिक्किव भणामि अलमह वा।
अविआरिअकज्जारम्भआरिणी मरउ ण भणिस्सम ॥४७१॥

[छाया—ए एहि किमपि कस्या अपि कृते निष्कृप! भणामि अलमथवा
अविचारितकार्यारम्भकारिणी म्रियतां न भणिष्यामि ॥]

अर्थ—[नायक से नायिका की सखी कहती है—] अरे ओ निर्दय पुरुष! तनिक इधर तो आ। मैं किसी स्त्री के लिए कुछ कहना चाहती हूँ। परन्तु वह बिना विचारे कार्य आरम्भ करनेवाली चाहे मर भी जाय पर मैं तो कुछ न कहूँगी।

[यहाँ पर नायिका की विरह जनित कठोर पीडा नहीं कही जा सकती, अतएव उसके कथन का निषेध (अकथन) ही किया गया है]

[उक्त विषयक निषेधरूप आक्षेप का उदाहरण :—]

ज्योत्स्ना मौक्तिकदाम चन्दनरसः शीतांशुकान्तद्रवः
कर्पूरं कदलीमृणालवलयान्यम्भोजिनीपल्लवाः।
अन्तर्मानसमास्त्वया प्रभवता तस्याः स्फुलिंगोत्कर-
व्यापाराय भवन्ति हन्त किमनेनोक्तेन न ब्रूमहे ॥४७२॥

अर्थ—[नायक से दूती कहती है—] अरे! इस नायिका के हृदय में जब से तुम बलपूर्वक प्रविष्ट हुए हो तब से चन्द्रिका, मोतियों का हार, चन्दन का लेप, चन्द्रकान्तमणि का रस, कपूर, केला, कमल के नाल, कङ्कण और कमलिनी के नये-नये चिकने पत्ते—ये सभी आग की चिनगारी का कार्य करने लगे हैं। अथवा इन सब के कथन का प्रयोजन ही क्या है? हम तो कुछ भी न कहेंगी।

[विभावना नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १६२) क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥१०७॥

अर्थ—क्रिया (हेतुरूप) के बिना कहे ही जहाँ पर फल का प्रकट होना कहा जाय वहाँ पर विभावना अलङ्कार होता है।

हेतुरूपक्रियाया निषेधेऽपि तत्फलप्रकाशनं विभावना। यथा

हेतुरूप क्रिया का बिना कथन किये ही जहाँ उसके फल का प्रकाश किया जाय, वहाँ विभावना अलङ्कार समझना चाहिये उदाहरणः—

कुसुमितलताभिरहताप्यधत्त रुजमलिकुलैरदष्टापि।
परिवर्तते स्म नलिनीलहरीभिरलोलिताप्यघूर्णत सा ॥४७३॥

अभाव का कथन किया जाय तो विशेषोक्ति नामक अलङ्कार होता है।

मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथन विशेषोक्तिः। अनुक्तनिमित्ता उक्त निमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता च। क्रमेणोदाहरणम्

सब कारणों के एकत्र हो जाने पर भी यदि कार्य (फल) का कथन न किया जाय तो विशेषोक्ति अलकार समझना चाहिये। यह विशेषोक्ति तीन प्रकार की होती है। (१) अनुक्तनिमित्ता (२) उक्तनिमित्ता और (३) अचिन्त्यनिमित्ता। इनमें से प्रथम तो वह है, जहाँ प्रकरण आदि के द्वारा ज्ञात निमित्त का कथन न हो। द्वितीय वह है, जहाँ पर निमित्त प्रकट रूप से कह दिया जाय, तृतीय वह है जहाँ सोचने से भी निमित्त का पता न लग सके। तीनो के उदाहरण क्रमशः लिखे जाते हैं—

[अनुक्तनिमित्ता का उदाहरण :—]

निद्रानिवृत्तावुदिते द्युरत्ने सखीजने द्वारपदं पराप्ते।
श्लथीकृताश्लेषरसे भुजगे चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सा ४७४॥

अर्थ—जब नींद खुल गई, और सूर्योदय हो गया, सखियाँ भी गृह द्वार पर आ पहुँची तथा उपपति ने आकर आलिङ्गन को भी शिथिल कर दिया तब भी वह सुन्दरी नायिका अपने प्यारे पति के परिरम्भण से नहीं टली।

[उक्तनिमित्ता का उदाहरण :—]

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ॥४७५॥

अर्थ—जो कपूर के समान जला देने के पश्चात् भी प्रत्येक मनुष्य पर अपनी शक्ति को प्रकट करता ही है उस अमोघशक्ति मकरध्वज श्री कामदेव को प्रणाम है।

[अचिन्त्यनिमित्ता का उदाहरण :—]

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न बलं हृतम् ॥४७६॥

अर्थ—वह कामदेव अकेले ही त्रिभुवन का विजय करता है, जिसके शरीर को तो शिवजी ने अवश्य नष्ट कर दिया; परन्तु शक्ति को नहीं नष्ट कर सके।

[यथासंख्य नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १६४) यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥१०८॥

अर्थ—जहाँ क्रमपूर्वक कहे गये पदार्थों के साथ क्रमपूर्वक कहे गये पिछले पदार्थों का यथोचित सम्बन्ध कहा जाय, वहाँ यथासंख्यालङ्कार जानना चाहिये। उदाहरण :—

एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र देव ! द्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च।
तापं च सम्मदरसं च रतिं च पुष्णन् शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥४७७॥

अर्थ—हे राजन् ! यह बड़ी अद्भुत बात है कि आप एक ही होकर के शत्रुओं, पण्डितों और मृगनयनी स्त्रियों के चित्त में तीन प्रकार के सन्ताप, आनन्द और प्रीति का पोषण करते हुए वीरता के प्रताप से युक्त, विनयपूर्ण और विलासशील बनकर निवास करते हैं।

[अर्थान्तरन्यास नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १६५) सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥१०९॥

अर्थ—जहाँ पर सामान्य वा विशेष वस्तु, अपने से भिन्न द्वारा प्रतिपादित वा सिद्ध की जाय—वह चाहे समान धर्मवाले गुणों अथवा विलग धर्मवाले गुणों द्वारा प्रकाशित हो, वहाँ उसी अवस्था में अर्थान्तरन्यास नामक अलङ्कार होता है।

साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण यत् समर्थ्यते विशेषो वा सामान्येन सोऽर्थान्तरन्यासः। क्रमेणोदाहरणम्

चाहे साधर्म्य द्वारा हो अथवा वैधर्म्यद्वारा, जहाँ पर सामान्य वस्तु विशेष के द्वारा प्रतिपादित हो, अथवा विशेष वस्तु सामान्य के द्वारा प्रतिपादित हो, सभी अवस्थाओं में अर्थान्तरन्यास नामक अलङ्कार

स्वीकार किया जाता है। इनके क्रमशः उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

[साधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थन रूप उदाहरण:—]

निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम्।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शंखमपि पीतम ॥४७८॥

अर्थ—जिन मनुष्यों का चित्त स्वयं अपने ही दोष से परिपूरित है, वे लोग अत्यन्त रमणीक वस्तु को भी उलटी-सी देखते हैं। जो मनुष्य कामला रोग से पीड़ित हैं, उसे चन्द्रमा सदृश श्वेतवर्णवाला शङ्ख भी पीला ही दिखाई पड़ता है।

[साधर्म्य द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन रूप उदाहरण:—]

सुसितवसनालंकारायां कदाचन कौमुदी
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ताशंका क्व नासि शुभप्रदः ॥४७९॥

[इस श्लोक का अर्थ ऊपर सप्तम उल्लास में लिखा जा चुका है देखिये पृष्ठ २३८,।]

[वैधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थन रूप उदाहरण :—]

गुणानामेव दौरात्म्यात् धुरि धुर्यो नियुज्यते।
असंजातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गलिः ॥४८०॥

अर्थ—गुणों ही के दोष के कारण बोझा ढोने योग्य बैल गाड़ी के जुए में जोता जाता है और दुष्ट बैल चैन से सोता है, उसके गले पर लकड़ी के घट्ठे का चिह्न भी नहीं लगने पाता।

[वैधर्म्य द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन रूप उदाहरण :—]

अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा यदप्रियं वाच्यमिदं मयेदृशम्।
त एव धन्याः सुहृदः पराभवं जगत्यदृष्ट्वैव हि ये क्षयं गताः ॥४८१॥

अर्थ—[आपत्तिग्रस्त मित्र को उसकी अवस्था के अनुरूप कड़ी बातें कहने की इच्छा रखनेवाला कोई अति खेद मे अपने ही जीवन की निन्दा करता हुआ कह रहा है—] हाय! मैंने अपने दीर्घजीवन

द्वारा बड़ा ही अपराध किया जो ऐसी अप्रिय बात मुख से निकालनी पड़ी। निश्चय ही वे लोग ससार में धन्य हैं; जिन्होंने अपने मित्र की आपत्ति को बिना देखे ही मृत्यु प्राप्त कर ली।

[विरोधाभास नामक अलङ्कार का लक्षण:—]

(सू० १६६) विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः।

अर्थ—वस्तुस्थिति के अनुसार जिन दो वस्तुओं मे परस्पर विरोध न हो और वे विरुद्ध वस्तुओं की भाँति कथन की जायँ तो विरोधाभास नामक अलङ्कार समझना चाहिये।

वस्तुवृत्ते नाविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव यदभिधानं स विरोधः।

वस्तु की स्वाभाविक दशा के अनुसार जहाँ पर वस्तुओं में विरोध न भी हो तथापि परस्पर विरुद्ध की भाँति यदि उनका कथन किया जाय तो विरोधाभास नामक अलङ्कार होगा।

[दस प्रकार के विरोधाभास अलङ्कार का विवरण :—]

(सू० १६७) जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद्गुणैस्त्रिभिः ॥११०॥
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्य द्रव्येणैवेति ते दश।

अर्थ—यदि जाति का जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यों के साथ विरोध हो; गुण का गुण, क्रिया और द्रव्यों के साथ विरोध हो, क्रिया का क्रिया और द्रव्यो के साथ विरोध हो। तथा द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध हो तो वे दस प्रकार के विरोधाभास अलङ्कार के उदाहरण होंगे।

क्रमेणोदाहरणम्—

उनके क्रमशः उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं :—

[जाति के साथ जाति के विरोध का उदाहरण :—]

अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयादि दवदहनराशिः।
सुभग ? कुरंगदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगपविपाते ॥४८२॥

अर्थ—हे सुन्दर ! इस मृगाक्षी पर दैवयोग से आपका वियोगरूप वज्रपात हुआ उससे नयी कमलिनी, नये पत्ते, कमलनाल और कङ्कण आदि भी उसके लिये दावानलपुञ्ज के समान दाहक हो गये।

[यहाँ कमलिनीत्व जाति के साथ अग्नित्व जाति का विरोध है।]

[जाति के साथ गुण के विरोध का उदाहरण :—]

गिरयोऽप्यनुन्नतियुजो मरुदप्यचलोऽब्धयोऽप्यगम्भीराः।
विश्वभराऽप्यतिलघुर्नरनाथ! तवान्तिके नियतम् ॥४८३॥

अर्थ—हे नरेन्द्र! आपके समीप तो यह नियम बँधता है कि पहाड़ कम ऊँचे हैं, वायु मन्दवेग है, समुद्र छिछला है और पृथ्वी अत्यन्त लघु प्रतीत होती है।

[यहाँ पर पहाड़ आदि की जाति का बहुत ऊँचे न होने आदि गुणों के साथ विरोध पड़ता है। जाति के साथ क्रिया के विरोध का उदाहरण :—]

येषां कंठपरिग्रहप्रणयिता संप्राप्य धाराधर-
स्तीक्ष्णःसोऽप्यनुरज्यते च किमपि स्नेहं पराप्नोति च।
तेषां संगरसंगसक्तमनसां राज्ञां त्वया भूपते!
पांसूनां पटलैः प्रसाधनविधिर्निर्वर्त्यते कौतुकम् ॥४८४॥

अर्थ—हे राजन्! यह तो बड़े आश्चर्य की बात है कि युद्ध में प्रीति रखनेवाले जिन राजाओं के गलों से मिलने के लिये आपकी तीक्ष्ण तलवार अनुरक्त (लाल वर्णवाली) और अकथनीय स्नेह विशिष्ट (चिकनी) हो जाती है, उन वीरों के शरीर को आप धूलि समूह से धूसरित कर विभूषित कर देते हैं।

[यहाँ पर धाराधर (खड्ग) जाति का अनुरक्त और स्नेहयुक्त होना रूप क्रिया के साथ परस्पर विरोध पड़ता है। जाति से द्रव्य के विरोध का उदाहरण :—]

सृजति च जगदिदमवति च संहरति च हेलयैव यो नियतम्।
अवसरवशतः शफरो जनार्दनः सोऽपि चित्रमिदम् ॥४८५॥

अर्थ—जो भगवान् विष्णु सहज ही सदा इस संसार की सृष्टि, रक्षा और प्रलय का विधान करते हैं वे ही समय के फेर से मछली के रूप में उत्पन्न होते हैं। यह आश्चर्य की बात है।

[यहाँ पर शफरी (मछली) की जाति का जनार्दन रूप द्रव्य के साथ विरोध प्रकाशित होता है। गुण के साथ गुण के विरोध का उदाहरण:—

सततं मुसलासक्ता बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते !
द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ! ॥४८६॥

अर्थ—हे राजन् ! सदा मूसल उठानेवाले और गृहस्थी के अनेक प्रकार के कार्य सम्पादन द्वारा कठोरता को प्राप्त हुए ब्राह्मण स्त्रियों के हाथ, आप सदृश दाताओं के विद्यमान रहने पर कमल के समान कोमल हो जाते हैं।

[यहाँ पर कठोरता को प्राप्त रूप गुण कोमल रूप गुण के विरोधी हैं। गुण का क्रिया के साथ विरोध का उदाहरण :—

पेशलमपि खलवचनं दहतितरां मानस सतत्त्वविदाम् ।
परुषमपि सुजनवाक्यं मलयजरसवत्प्रमोदयति ॥४८७॥

अर्थ—खलों का कोमल वचन भी तत्त्वज्ञ पण्डितों के हृदय को बहुत ही जलाता है; परन्तु सज्जनो का कठोर वाक्य भी चन्दन-रस के समान लोगो को सुखदायक ठण्डा ही बनाये रहता है।

[यहाँ पर कोमलता और कठोरता रूप गुणों से जलाना और ठण्डा करना रूप क्रियाओं का विरोध है। गुण के साथ द्रव्य के विरोध का उदाहरण :—

क्रौञ्चाद्रिरुद्दामदृषद्दृढोऽसौ यन्मार्गणानर्गलशातपाते ।
अभून्नवाम्भोजदलाभिजातः स भार्गवः सत्यमपूर्वसर्गः ॥४८८॥

अर्थ—जिस परशुराम जी के बाण की निरन्तर पड़नेवाली तीखी चोट से बड़ी-बड़ी चट्टानों से पुष्ट क्रौञ्चपर्वत भी नवीन कमल के पत्तों की भाँति (कोमल) हो गया, वे परशुराम जी किसी अद्भुत प्रकार के स्पष्ट पदार्थ हैं।

[यहाँ कोमलता गुण का क्रौञ्च पर्वतरूप द्रव्य के साथ विरोध है। क्रिया के साथ क्रिया के विरोध का उदाहरण :—]

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारःकोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥४८६॥

[इस श्लोक का अर्थ ऊपर चतुर्थ उल्लास में लिखा जा चुका है। देखिये पृष्ठ ११७ । यहाँ पर 'जडयति' (जड़ बनाता है) और 'तापं च कुरुते' (सन्ताप भी उत्पन्न करता है) इन दोनों क्रियाओं में परस्पर विरोध है। क्रिया के साथ द्रव्य के विरोध का उदाहरण :—]

अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः ।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ॥४९०॥

अर्थ—यह समुद्र ही एक जल का स्थान तथा रत्नों का आकर है—ऐसा समझ तृष्णा से चञ्चल चित्त हो हम लोगों ने इसका आश्रय ग्रहण किया। भला यह कौन जानता था कि इसी समुद्र को, जिसमें मत्स्य तथा मकर आदि जीव पीड़ित हो रहे होंगे, अपने हाथों के चिल्लू में भर कर अगस्त्य मुनि पी डालेंगे ?

[यहाँ 'पी डालना' रूप क्रिया का मुनिरूप द्रव्य के साथ विरोध है।]

[द्रव्य के साथ द्रव्य के विरोध का उदाहरण :—]

समदमतङ्गजमदजलनिस्यन्दतरङ्गिणीपरिष्वङ्गात् ।
क्षितितिलक ! त्वयि तटजुषि शंकरचूडापगाऽपिकालिन्दी ॥४९१॥

अर्थ—हे राजन् ! जब आप गङ्गा जी के तीर पर पहुँचते हैं तब आपके मतवाले हाथियों के मदजलस्राव रूप नदी के मिल जाने के कारण शिव जी के सिर पर से उतर कर बहनेवाली श्वेत जलधारा विशिष्ट श्री गङ्गा जी भी यमुना (सी काली) बन जाती हैं।

[यहाँ पर गङ्गा नदी द्रव्य के साथ यमुना नदी रूप द्रव्य का विरोध है।]

[स्वभावोक्ति नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १६८) स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥ १११॥

अर्थ—स्वभावोक्ति उस अलङ्कार को कहते हैं, जिसमें बच्चों आदि की आत्मगत क्रिया तथा रूप आदि का वर्णन किया गया हो।

स्वयोस्तदेकाश्रययोः। रूपं वर्णः संस्थानं च। उदाहरणम्

मूल कारिका में जो 'स्वक्रियारूपवर्णन' पद आया है उसमें 'स्व' का तात्पर्य आत्मगत (जो उन्हीं बच्चों आदि में पाया जाय अन्यत्र नहीं) से तथा रूप शब्द वर्ण तथा आकार दोनों के लिये है। उदाहरण :—

पश्चादङ्घ्री प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्राघयित्वाऽङ्गमुच्चै-
रासज्याभुग्नकण्ठो मुखमुरसि सटां धूलिधूम्रां विधूय।
घासग्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोथतुण्डस्तुरङ्गो
मन्दं शब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थितः क्ष्मां खुरेण ॥४६२॥

अर्थ—निद्रा से उठा हुआ घोड़ा अपने पिछले पैरों को फैला कर, रीढ़ की हड्डी को झुका कर, अपने शरीर को लम्बा कर, गले को कुछ तिरछा फेर, छाती से मुख को सटाकर, धूल से भरे हुए (धूमिल) कन्धे के बालों को झाड़कर, घास खाने की इच्छा से निरन्तर अपने ओठों के अग्रभाग को हिलाता हुआ, मन्द मन्द हिन-हिनाता हुआ अपने खुर से भूमि को खोद रहा है।

[व्याजस्तुति नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १६९) व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा।

अर्थ—व्याजस्तुति उस अलङ्कार को कहते हैं जिससे आरम्भ में तो निन्दा वा स्तुति प्रकट हो; परन्तु परिणाम में तद्विपरीत अर्थ से उसका तात्पर्य हो।

व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुतिः। क्रमेणोदाहरणम्

'व्याजस्तुति' पद के दो अर्थ हैं। 'व्याजरूपा स्तुतिः' अर्थात् स्तुति का बहाना मात्र 'व्याजेन वा स्तुतिः' अर्थात् निन्दा के बहाने स्तुति

करना। जहाँ निन्दा से स्तुति व्यंग्य होती है वहाँ पहिला अर्थ और जहाँ स्तुति से निन्दा व्यंग्य होती है वहाँ दूसरा अर्थ समझना चाहिये। क्रमशः उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

[परिणाम में स्तुतिरूप निन्दा का उदाहरण :—]

हित्वा त्वामुपरोधवन्ध्यमनसां मन्ये न मौलिः परो
लज्जावर्जनमन्तरेण न रमामन्यत्र संदृश्यते।
यस्त्यागं तनुतेतरां मुखशतैरेत्याश्रितायाः श्रियः
प्राप्य त्यागकृतावमाननमपि त्वय्येव यस्याः स्थितिः ॥४६३॥

अर्थ—हे राजन्! आश्रित जनों की रक्षा को स्वीकार करने में शून्यचित्त और कृतघ्न शिरोमणि आप सरीखा और कोई भी नहीं होगा और न तो लक्ष्मी से बढ़कर मुझे कोई लज्जा-रहित स्त्री व्यक्ति ही दिखलाई देती है, क्योंकि आप तो अपने आश्रित लक्ष्मी का सैकड़ों प्रकार से परित्याग करते रहते हैं, परन्तु वह लक्ष्मी अपने त्यागरूप अनादर की उपेक्षा करके आप ही में आकर स्थिरतापूर्वक टिकना चाहती है।

[यहाँ पर आपाततः राजा और लक्ष्मी जी की निन्दा प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव मे इसका परिणाम स्तुतिरूप मे है। परिणाम में निन्दारूप स्तुति का उदाहरण :—]

हे हेलाजितबोधिसत्त्व! वचसां किं विस्तरैः तोयधे
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः।
तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो-
भारप्रोद्वहने करोपि कृपया साहायकं यन्मरोः ॥४६४॥

अर्थ—दया के विषय मे अनायास ही बुद्ध जी को विजय करने-वाले हे समुद्र! मैं शब्दों में तुम्हारी विशेष प्रशंसा क्या करूँ? तुम्हारे सदृश नियम पूर्वक परोपकार व्रत का निबाहनेवाला और कोई नहीं। तुम तो अपनी कृपा द्वारा मरुस्थल का भी—प्यासे पथिकों के साथ उपकार न करने रूप अपयश की पेटारी वा गठरी ढोने में—सहायक

होते हो।

[यहाँ पर आपाततः समुद्र की परोपकारिता रूप प्रशंसा प्रतीत होती है; परन्तु वास्तव में तात्पर्य मरुस्थल के सहायक होने से निन्दा ही में परिणत होता है।]

सहोक्ति नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १७०) सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ।।११२।।

अर्थ—सहोक्ति उस अलङ्कार का नाम है, जहाँ पर एक ही पद सह आदि शब्दों के संयोग से अनेक अर्थ का बोधक हो।

एकार्थाभिधायकमपि सहार्थबलात् यत् उभयस्याप्यवगमकं सा सहोक्तिः। यथा

एक ही अर्थ का वाचक शब्द यदि सह इत्यादि शब्दों के अर्थ-बल से दोनों प्रकार के अर्थों का बोधक हो जाय तो वहाँ पर सहोक्ति नामक अलङ्कार होता है। उदाहरण :—

सह दिअहणिसाहिं दीहरा सासदण्डा
सह मणिवलयेहिं वाप्प धारा गलन्ति।
तुह सुहअ विओए तीअ उव्विग्गिरीए
सह अतणुलदाए दुब्बला जीविदासा ।।४६१।।

[छाया—सह दिवसनिशाभिर्दीर्घः श्वासदण्डाः
सह मणिवलयैर्वाष्पधारा गलन्ति।
तव सुभग वियोगे तस्या उद्विग्नायाः
सह च तनुलतया दुर्बला जीविताशा ।।]

अर्थ—[नायिका की विरह दशा का वर्णन है—] हे सुन्दर युवक! आपके वियोग से व्याकुल चित्त उस नायिका की साँस दिन-रात के साथ दण्डाकार लम्बी-लम्बी (चिरकाल व्यापिनी निकल रही है, तथा उसकी आँखों से आँसूओं की बूँदे रत्नकङ्कणों समेत झड़ी पड़ती हैं और उसकी देहलता के साथ जीवन (प्राण धारण) की आशा भी दुबली (मन्द) होती चली जाती है।

श्वासदण्डादिगतं दीर्घत्वादि शाब्दम् दिवसनिशादिगतं तु सहार्थसामर्थ्यात्प्रतिपद्यते ।

यहाँ पर श्वासदण्डादि गत जो दीर्घता है वह सह शब्द के अर्थबल द्वारा सिद्ध होती है ।

[अब विनोक्ति नामक अलङ्कार का निरूपण उसके भेदों समेत किया जाता है:—]

(सू० १७१) विनोक्तिः सा विनान्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ।

अर्थ—विनोक्ति वह अलङ्कार है, जहाँ पर एक के विना दूसरा अच्छा न लगे अथवा (एक के विना) दूसरा अच्छा ही लगे ।

क्वचिदशोभनः क्वचिच्छोभनः । क्रमेणोदाहरणम्—

कहीं पर तो एक के विना दूसरा अशोभन लगे और कहीं पर एक के विना दूसरा शोभन प्रतीत हो । क्रमशः दोनों प्रकार के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं ।

अरुचिर्निशया विना शशी शशिना सापि विना महत्तमः ।
उभयेन विना मनोभवस्स्फुरितं नैव चकास्ति कामिनोः ॥४६६॥

अर्थ—रात्रि के विना चन्द्रमा की शोभा नहीं होती और चन्द्रमा के विना रात्रि का अँधेरा भी बहुत बढ़ जाता है, तथा उन्हीं रात्रि और चन्द्रमा के विना कामीजनों की विलास चेष्टा भी नहीं शोभित हो पाती ।

[उक्त उदाहरण अशोभन का है । शोभन का उदाहरण :—]

मृगलोचनया विना विचित्रव्यवहारप्रतिभाप्रभाप्रगल्भः ।
अमृतद्युतिसुन्दराशयोऽयं सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसूनुः ॥४६७॥

अर्थ—यह राजकुमार विना मृगनयनी स्त्री के अद्भुत व्यवहार विषयक बुद्धि की चमक के कारण चतुर हो गया है और उस मित्र के विना चन्द्रमा सदृश निर्मल अन्तःकरणविशिष्ट भी हो गया है ।

[परिवृत्ति नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १७२) परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः ॥११३॥

अर्थ— जहाँ पर सम और असम वस्तुओं द्वारा पदार्थों का विनिमय (लेन-देन) हो वहाँ पर परिवृत्ति नामक अलङ्कार समझना चाहिये।

परिवृत्तिरलङ्कारः। उदाहरणम्—

'परिवृत्ति' यह अलङ्कार का नाम है। उदाहरण :—

लतानामेतासामुदितकुसुमानां मरुदयं
मतं लास्यं दत्वा श्रयति भृशमामोदमसमम्।
लतास्त्वध्वन्यानामहह दृशमादाय सहसा
ददत्याधिव्याधिभ्रमिरुदितमोहव्यतिकरम् ॥४६८॥

अर्थ—यह वायु इन फूलों से भरी हुई लताओं को मनोहर नाच नचाकर उनकी विचित्र सुगन्धि को भलीभाँति उड़ा ले जाती है और ये लताएँ पथिकजन की दृष्टि आकृष्ट करके उन्हें मानसिक और शारीरिक पीडा, चक्कर, रोदन तथा मूर्च्छा आदि के खेल दिखलाती हैं।

अत्र प्रथमेऽर्धे समेन समस्य द्वितीये उत्तमेन न्यूनस्य।

यहाँ पर पूर्वार्द्ध मे सम के साथ सम का और उत्तरार्द्ध में उत्तम के साथ न्यून का विनिमय प्रकट किया गया है।

[न्यून के साथ उत्तम के विनिमय का उदाहरण :—]

नानाविधप्रहरणैर्नृप सम्प्रहारे स्वीकृत्यदारुणनिनादवतः प्रहारान्।
दृप्तारिवीरविसरेण वसुन्धरेयं निर्विप्रलम्भपरिरम्भविधिर्वितीर्णा ॥४६९॥

अर्थ—हे राजन्! घमण्ड से भरे आपके वीर शत्रुओं के समूह नें युद्ध-स्थल मे हथियारों के अनेक प्रकार के शब्दवाले प्रहारों को सहकर आपको वह भूमि समर्पित की, जिसके आलिङ्गन का वे कभी परित्याग नहीं करते।

अत्र न्यूनेनोत्तमस्य।

यहाँ पर न्यून के साथ उत्तम का विनिमय प्रकट किया गया है।

[भाविक नामक अलकार का लक्षण :—]

(सू० १७३) प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः।

तद्भाविकम्

अर्थ—भाविक उस अलङ्कार का नाम है, जहाँ पर पूर्वकालिक और भविष्यत्कालिक भी पदार्थ वर्तमान काल के प्रत्यक्ष पदार्थ के समान प्रकट किये जायँ।

भूताश्च भाविनश्चेति द्वन्द्वः। भावः कवेरभिप्रायोऽत्रास्तीति भाविकम्। उदाहरणम्

मूल कारिका मे 'भूतभाविनः' यह शब्द, भूत (जो पूर्व में हो चुका) और भावी (जो भविष्य मे होनेवाला) —इन दोनों शब्दों के द्वन्द्व समास करने पर बना है। भाव अर्थात् कवि का अभिप्राय जिसमें रहता है वह भाविक कहलाता है। उदाहरण :—

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने।
भाविभूषणसंभारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥२००॥

अर्थ—हे प्यारी! मै तुम्हारी आँखे ऐसी देखता हूँ कि उनमे अञ्जन लगाया गया था और तुम्हारी उस मूर्ति का भी साक्षात्कार करता हूँ जो भावी भूषणों (भविष्य मे पहिनाये जानेवाले अलङ्कारो) से युक्त होनेवाली है।

आद्ये भूतस्य द्वितीये भाविनो दर्शनम्।

यहाँ पर श्लोक के पूर्वार्द्ध में भूत और उत्तरार्द्ध में भावी मूर्ति का प्रत्यक्षवत् दर्शन अभिप्रेत है।

[काव्यलिङ्ग नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १७४) काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता

अर्थ—जहाँ पर वाक्यार्थ अथवा (एक वा अनेक) पदार्थरूप से हेतु (कारण) का कथन किया जाय, वहाँ पर काव्यलिङ्ग नामक अलङ्कार होता है।

वाक्यार्थता यथा

वाक्यार्थरूप हेतु का प्रदर्शक उदाहरण :—

वपुः प्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे! न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान्।

लसन्मुक्तः सम्प्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक्
महेश ! क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि ॥२०१॥

अर्थ—हे त्रिपुरासुर के शत्रु महादेव जी ! मैंने इस शरीर के प्रकट होने ही से इस बात का अनुमान कर लिया था कि पूर्वजन्म में मैंने कभी आपको प्रणाम नहीं किया था और अब जो इस जन्म में मैं आपको प्रणाम करता हूँ तो अब मोक्ष पा जाऊँगा, और फिर शरीर ग्रहण नहीं कर सकूँगा कि आपको प्रणाम कर सकूँ। अतः हे देवादि देव ! मेरे इन दोनों अपराधों को क्षमा कीजिये।

[यहाँ पर भूत और भविष्यत् दोनों जन्मों में महादेव जी को प्रणाम न करना दोनों अपराधों का कारण प्रकट किया गया है।]

अनेकपदार्थता यथा—

अनेक शब्दों द्वारा प्रकट होनेवाले हेतु का प्रदर्शक उदाहरणः—

प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै
र्मृदुलशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत्।
वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः
पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुजः ॥२०२॥

अर्थ—[मालती माधव के पंचम अंक में मालती के वध के लिए उद्यत अघोरघंट से माधव कह रहा है—] प्रेमयुक्त सखियों के खेल में परिहास भरे कोमल शिरीष फूलों की मार से भी जो पीड़ित हो जाती है, उस कोमलाङ्गी (मालती) के वध के लिए शस्त्र प्रहार करनेवाले तुम्हारे दुष्ट मनुष्य के शिर पर यमदण्ड की भाँति उपस्थित होकर यह मेरी भुजा अचानक प्रहार करे।

[यहाँ मालती के शरीर पर प्रहार करने के लिए अघोरघंट का शस्त्र उठाना माधव के भुजपात का कारण व्यक्त किया गया है।]

एकपदार्थता यथा

एक ही शब्द से प्रकट होनेवाले हेतु का प्रदर्शक उदाहरणः—

भस्मोद्धूलन भद्रमस्तु भवते रुद्राक्षमाले शुभं
हा सोपान परम्परां गिरिसुताकान्तालयालंकृतिम् ॥
अद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखा-
लोकोच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे निधीयामहे ॥५०३॥

अर्थ—[सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर लेने पर कोई शिवभक्त कर रहा है—] हे भस्मों का रमाना! तुम्हारा कल्याण हो, हे रुद्राक्ष की माला! तुम्हारा भला हो, हा गौरीपति शिवजी के मंदिर की शोभा बढानेवाली सोपान की पंक्तियों! मुझे तुम लोगों का वियोग दुःखदायी प्रतीत हो रहा है। आज मेरी सेवा से प्रपन्न होकर सामर्थ्यशाली महादेव जी मुझे मोक्ष नामक उस गाढे मोहरूप महा अन्धकार में पहुँचा रहे हैं जहाँ तुम लोगों के सेवन का सुखरूप प्रकाश उच्छिन्न हो जायगा।

[यहाँ पर सुखरूप आलोक के उच्छेद का कारण महामोह रूप अन्धकार कल्पित किया गया है।]

एषु अपराधद्वये पूर्वापरजन्मनोरनमनम् भुजपाते शस्त्रोपक्षेपः महामोहे सुखालोकोच्छेदित्वं च यथाक्रममुक्तरूपो हेतुः।

ऊपर के इन तीनों उदाहरणों में क्रमशः भूत और भावी जन्मों में प्रणाम न करना दो अपराधों का कारण, प्रहार के लिये शस्त्र उठाना भुजपात का कारण और सुखालोक का उच्छेद महामोह का कारण कहा गया है।

[पर्यायोक्त नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १७५) पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः।

अर्थ—जहाँ पर वाच्य अर्थ की सिद्धि वाच्य वाचक भाव से न होकर व्यञ्जना व्यापार द्वारा होती है, वहाँ पर पर्यायोक्त नामक अलङ्कार होता है।

वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत्प्रतिपादनं यत्पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेण कथनात्पर्यायोक्तम्। उदाहरणम्—

वाच्य-वाचक भाव से भिन्न अवगमन अथवा व्यञ्जना रूप व्यापार

द्वारा यदि किसी अर्थ का बोध हो तो पर्याय अर्थात् दूसरी भङ्गी (अन्य किसी प्रकार) द्वारा कथन किये जाने से इस अलङ्कार का नाम पर्यायोक्त पड़ा। उदाहरण :—

यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः ॥५०४॥

अर्थ—जिस (रावण नामक राक्षसराज) को देखकर मद ने ऐरावत के मुख मे और घमण्ड ने इन्द्र के हृदय मे चिरकाल तक पुष्टि पाकर भी वहाँ के निवास का प्रेम परित्याग कर दिया।

अत्रैरावणशक्रौ मदमानमुक्तौ जाताविति व्यंग्यमपि शब्देनोच्यते तेन यदेवोच्यते तदेव व्यंग्यम् यथा तु व्यंग्यन्न तथोच्यते। यथा गवि शुक्ले चलति दृष्टे 'गौः शुक्लश्चलति' इति विकल्पः। यदेव दृष्टं तदेव विकल्पयति न तु यथा दृष्टं तथा। यतोऽभिन्नासंसृष्टत्वेन दृष्टम् भेदसंसर्गाभ्यां विकल्पयति।

यहाँ पर ऐरावत और इन्द्र मद तथा मान से रहित हो गये—ऐसा व्यग्य अर्थ भी शब्द की शक्ति द्वारा प्रकट हो रहा है। अतः जो कुछ शब्दों से प्रकट हुआ वही व्यंग्य अर्थ भी है; परन्तु उस व्यग्य अर्थ की रीति से भिन्न है। जैसे श्वेतरङ्गवाली चलती हुई गाय को देखकर पहिले निर्विकल्पक (विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्धरहित) ज्ञान उत्पन्न होता है, तदनन्तर 'वह श्वेतरङ्गवाली गाय चलती है'—ऐसा सविकल्पक (विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध विशिष्ट) ज्ञान उदय होता है। ऐसी अवस्था में देखने पर जिसका निर्विकल्पक ज्ञान हुआ था उसी का पीछे से सविकल्पक ज्ञान हुआ है। परन्तु दोनों ज्ञान एक ही प्रकार के नहीं हैं। अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान के समय मे जिस प्रकार देखा गया था, सविकल्पक ज्ञान के समय मे उसे उसी प्रकार का नहीं देखा गया; क्योंकि पहिले (निर्विकल्पक ज्ञान के अवसर मे) भिन्न और असंसृष्ट के रूप मे देखा था, पीछे विशेषण विशेष्य सम्बन्धी ज्ञान द्वारा भेद और संसृष्टि से युक्त ज्ञान प्राप्त हुआ।

[उदात्त नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १७६) उदात्तं वस्तुनः सम्पत् ।

अर्थ—उदात्त अलङ्कार वहाँ पर होता है जहाँ किसी वस्तु की सम्पत् (बड़प्पन) का वर्णन किया जाय।

सम्पत्समृद्धियोगः ।यथा

सम्पत् से तात्पर्य समृद्धियोग अथवा बड़प्पन के संयोग से है। उदाहरण :—

> मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः
> प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालांघ्रिलाक्षारुणाः।
> दूराद्दाडिमबीजशंकितधियः कर्षन्ति केलीशुकाः
> यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम् ॥५०५॥

अर्थ—हे राजा भोज ! आपकी सभा के विद्वान् पण्डितों के घर में आपकी उदारता के कारण ऐसा खेल मचता है कि सुन्दरी स्त्रियों के साथ युवकों के क्रीडाकाल में टूटे हुए हारों से गिरे हुए मोती के दाने झाड़ू से बटोर दिये जाते हैं और प्रातःकाल घर के आँगन के कोने में मन्द-मन्द चलती सोलह वर्ष की युवतियों के पैर के महावर से रँग जाने के कारण वे (मोती के दाने) लाल रंग के हो जाते हैं। घर में क्रीडा के लिये पाले गये सुग्गे दूर से उन्हें देखकर अनार के बीज समझ कर खींचा करते हैं। हे राजन् ! आपकी उदारता का यह परिणाम देखने में आता है।

[उदात्त अलङ्कार का एक और भेद भी है।]

(सू० १७७) महतां चोपलक्षणम् ॥११५॥

अर्थ—जहाँ वर्णनीय विषय मे बड़ों का उपलक्षण (अङ्ग भाव) करके वर्णन किया जाय वहाँ भी उदात्तालङ्कार होता है।

उपलक्षणमङ्गभावः अर्थादुपलक्षणीयेऽर्थे। उदाहरणम्—

उपलक्षण से तात्पर्य अङ्गभाव से है। तात्पर्य यह है कि जहाँ पर उपलक्षणीय अर्थात् वर्ण्य विषय में बड़ों का वर्णन अङ्ग रूप से

किया जाय वहाँ पर भी उदात्तालङ्कार ही होता है। यह एक अन्य भेद है। उदाहरण :—

तदिदमरण्यं यस्मिन्दशरथवचनानुपालनव्यसनी।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥५०६॥

अर्थ—यह तो वह वन है, जहाँ पर महाराज दशरथ जी की आज्ञा का आग्रहपूर्वक पालन करके निवास करते हुए श्री रामचन्द्र जी ने केवल अपनी भुजा की सहायता से राक्षसों का विनाश किया था।

न चात्र वीरो रसः तस्येहाङ्गत्वात्।

यहाँ पर वीर रस नहीं है, क्योंकि वह तो वन के माहात्म्य वर्णन करने का अङ्ग बनकर अप्रधान हो गया है।

[समुच्चय नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १७८) तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत्।
समुच्चयोऽसौ

तस्य प्रस्तुतस्य कार्यस्य एकस्मिन्साधके स्थिते साधकान्तराणि यत्र सम्भववन्ति स समुच्चयः। उदाहरणम्—

अर्थ—प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के एक हेतु के उपस्थित रहने पर भी जहाँ (उसकी सिद्धि के लिये) और भी अनेक कारण कहे गये हों, वहाँ समुच्चय नामक अलंकार होता है। उदाहरण :—

दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽप्युत्सुकं
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम्।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमो
नो सख्यश्चतुराः कथन्तु विरहः सोढव्य इत्थं शठः ॥५०७॥

अर्थ—कामदेव के बाण तो निवारित नहीं किये जा सकते, प्रियतम भी दूर है, हृदय अत्यन्त उत्कण्ठित है, पति पर मेरा प्रेम भी बहुत अधिक है, अवस्था भी नये चढ़ते युवापन की है, प्राण भी अत्यन्त दृढ़ हैं, कुल भी निर्मल है, स्त्री होने की दशा भी धीरज धरने के प्रतिकूल अधीरता की है, समय भी वसन्त ऋतु का है, यमराज क्षमा

करनेवाला नहीं और मेरे समीप चतुर सखियाँ भी नहीं हैं। हाय! ऐसी दशा मे प्यारे का यह पीड़ादायक वियोग किस प्रकार से सहा जाय?

अत्र विरहासहत्वं स्मरमार्गणा एव कुर्वन्ति तदुपरि प्रियतमदूर-स्थित्यादि उपात्तम्। एष एव समुच्चयः सद्योगेऽसद्योगे सदसद्योगे च पर्यवस्यतीति न पृथक् लक्ष्यते। तथाहि

यहाँ कामदेव के बाण ही विरह को न सहने योग्य बना रखे हैं और ऊपर से प्रियतम का दूर रहना इत्यादि कतिपय और-और कारण भी उपस्थित कहे गये हैं। यही समुच्चय नामक अलङ्कार सद्वस्तुओं के एकत्र होने पर, असद्वस्तुओं के एकत्र होने पर अथवा सत् और असत् दोनों के एकत्र होने पर भी हो सकता है, विलग-विलग करके नहीं दिखाया गया है।

[सद्गुणों के योगवाले समुच्चय का उदाहरण :---]

कुलममलिनं भद्रामूर्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी
भुजबलमलं स्फीता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम्।
प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा अमीभिरयं जनो
व्रजति सुतरां दर्पं राजन्! त एव तवांकुशाः ॥५०८॥

अर्थ—हे राजन्! निष्कलङ्क कुल, सुन्दर मूर्ति, वेदाभ्यास से प्रतिष्ठित बुद्धि, विपुल बाहुबल, प्रचुर धनसम्पत्ति, अखण्ड प्रभुता—ये सभी भाव स्वभाव से उत्तम होते हैं। अन्य लोग तो इन्ही गुणों को प्राप्त करके घमण्ड मे चूर हो जाते हैं, किन्तु आपके लिये ये घमण्ड मे हो जाते हैं, किन्तु आपके लिए ये घमण्ड के बाधक हैं।

अत्र सतां योगः। उक्तोदाहरणे त्वसतां योगः।

यहाँ पर सद्वस्तुओं का एकत्र होना कहा गया है। इसके ऊपरवाले पहले उदाहरण में असद्वस्तुओं का संयोग कहा गया था।

[सत् और असत् इन दोनो वस्तुओं के योगवाले समुच्चय का उदाहरणः—]

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥५०९॥

अर्थ—मेरे मन मे ये सात वस्तुएँ बाण के अग्रभाग की भाँति चुभती हैं। दिन के समय मे मलिन चन्द्रमा, ढलती हुई युवावस्था-वाली स्त्री, विना कमलो का सुन्दर सरोवर, सुन्दर आकृति के अनुकूल विद्या का अभाव, धनसंग्रही और लोभी स्वामी, सर्वदा दुर्दशाग्रस्त सज्जन और राजा के आँगन मे उपस्थित खल मनुष्य।

अत्र शशिनि धूसरे शल्ये शल्यान्तराणीति शोभनाशोभनयोगः।

यहाँ पर चन्द्रमा शोभन और उसका धूसरत्व अशोभन है—यह एक शल्य है, ऐसे ही अन्यान्य शल्यों मे भी शोभन और अशोभन का मेल दिखाई पड़ता है।

[एक और भिन्न प्रकार के समुच्चय का लक्षणः—]

(सू० १७९) स त्वन्यो युगपद्या गुणक्रियाः ॥११६॥

अर्थ—एक और प्रकार का समुच्चयालङ्कार वह है, जहाँ गुण और क्रिया दोनों का यौगपद्य (एक साथ होना) हो।

गुणौ च क्रिये च गुणक्रिया च गुणक्रियाः। क्रमेणोदाहरणम्—

यह समुच्चय भी तीन प्रकार का होता है। एक तो वह जहाँ पर दो गुण एक साथ हो, दूसरे वह जहाँ पर दो क्रियाएँ एक साथ हों और तीसरे वह जहाँ पर एक गुण और एक क्रिया साथ हो। उन सबों के क्रमशः उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

[दो गुणों के एक साथ होने का उदाहरणः—]

विदलितसकलारिकुल तव बलमिदमभवदाशु विमलं च।
प्रखलमुखानि नराधिप मलिनानि च तानि जातानि ॥५१०॥

अर्थ— हे राजन्! सब शत्रुओं का विनाश करके आपकी यह सेना शीघ्र ही निर्मल हो गई और अत्यन्त खलजनों के मुख भी मलिन

पड़ गये।

[यहाँ पर निर्मलत्व और मलिनत्व इन दोनों गुणों का एक साथ होना प्रकाशित किया गया है। दो क्रियाओं के एक साथ होने का उदाहरण:—]

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥५११॥

अर्थ— एक ओर तो उस प्रियतमा के दुःसह विरह सहने का समय उपस्थित हुआ और दूसरी ओर वे दिन आ गये, जो नवीन मेघ के उदय से रौद्र ताप (प्रचण्ड धूप) रहित होकर (वर्षा ऋतु के कारण) मन को मुग्ध करने वाले होंगे।

[यहाँ पर 'उपस्थित हुआ' और 'होंगे' इन दोनों क्रियाओं का एक ही साथ होना विवक्षित है। गुण और क्रिया के एकत्र होने का उदाहरण :—]

कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात्सितपङ्केरुहसोदरश्रि चक्षुः।
पतितं च महीपतीन्द्र! तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षैः ॥५१२॥

अर्थ—हे महाराजाधिराज! श्वेत कमल के समान शोभा विशिष्ट आपके नेत्र अकस्मात् शत्रुओं पर पहुँचकर लाल हो गये और उनके शरीर पर विपत्तियों के कटाक्ष (क्रूर दृष्टियाँ) स्पष्टतया जाकर गिरे।

[यहाँ पर कलुष गुण और पतन क्रिया—इन दोनों का एक साथ होना अभिप्रेत है।]

'धुनोति चासिं तनुते च कीर्तिम्' इत्यादेः, 'कृपाणपाणिश्च भवान् रणक्षितौ ससाधुवादाश्च सुराः सुरालये' इत्यादेश्च दर्शनात् 'व्यधिकरणे' इति 'एकस्मिन् देशे' इति च न वाच्यम्।

यह यौगपद्य (एक साथ होना) रूप समुच्चय केवल एक ही अधिकरण (आश्रय) वालों में अथवा केवल भिन्न भिन्न अधिकरणवालों ही में होता है—ऐसा मत स्वीकार करने योग्य नहीं है; क्योंकि 'धुनोति चासिं तनुते च कीर्त्तिं' अर्थात् वह राजा अपनी तलवार भी फटकारता

है और कीर्ति भी फैलाता है इत्यादि उदाहरणों मे समान अधिकरण-वाला समुच्चय दिखलाई पड़ता है। और 'कृपाणपाणिश्च भवान् रणक्षितौ ससाधुवादाश्च सुराः सुरालये' अर्थात् हे राजन्! आपने युद्धस्थल में अपने हाथ से तलवार उठाई और स्वर्ग मे देवता लोग धन्य-धन्य शब्द करने लगे। यहाँ पर भिन्न-भिन्न अधिकरणों मे समुच्चय का उदाहरण भी दिखलाई पड़ता है। इसलिये सामानाधिकरण्य तथा वैयधिकरण्य दोनों दशाओं मे समुच्चयालंकार के उदाहरण दिखाई पड़ते हैं और केवल एक ही मे होते हैं, यह नियम सिद्ध नहीं होता है।

[पर्याय नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १८०) **एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः**

अर्थ—एक ही वस्तु यदि क्रमशः अनेक मे पाई जाय तो पर्याय नामक अलङ्कार होता है।

एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन्भवति क्रियते वा स पर्यायः। क्रमेणोदाहरणम्—

यदि एक ही वस्तु क्रमपूर्वक अनेक मे हो (पाई जाय) अथवा की (उत्पन्न की) जाय तो पर्यायालङ्कार होता है। उनके क्रमशः उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा।
प्रागर्णवस्यहृदयेवृपलक्ष्मणोऽथ कण्ठेऽधुनावससिवाचिपुन खलानाम्॥५१३॥

अर्थ— हे उत्कट विष! तुझे यह उपदेश किसने दिया कि जिससे तू क्रमशः एक से एक बढ़कर विशिष्ट पदों का आश्रय ग्रहण करता है? पहिले तो तू समुद्र के हृदय मे निवास करता था, फिर महादेव जी के गले में और अब दुष्टों के वचन में भी निवास करने लगा है।

यथा वा—

अथवा इसी पर्यायालङ्कार का एक अन्य उदाहरण :—

बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि पूर्वमदृश्यत।
अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि! लक्ष्यते॥५१४॥

अर्थ—हे कृशाङ्गि ! पहिले तो कुँदरू के फल के समान तेरे ओठ में राग (रंग) दिखाई पड़ता था, परन्तु हे मृगशावाक्षि ! अब तो वह (प्रेम) तेरे हृदय में भी लक्षित होता है।

रागस्य वस्तुतो भेदेऽप्येकतयाऽध्यवसितत्वाद्रेकत्वमविरुद्धम् ।

यहाँ पर वास्तव में ये दोनों राग (लाल रङ्ग और प्रेम) भिन्न-भिन्न हैं, तथापि दोनों एक ही प्रकार से कहे जाने के कारण अभिन्नवत् प्रतीत होते हुए उन दोनों का एकत्व प्रकट करते हैं तथा परस्पर भिन्न वत् प्रतीत भी नहीं होते हैं।

[जहाँ पर एक से अनेक किया जाय—ऐसे पर्याय का उदाहरण —]

तं ताण सिरिसहोअरटअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसं ।
बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमबाणेण ॥५१५॥

[छाया—तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाभरणे हृदयमेकरसम ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥]

अर्थ—लक्ष्मी जी का सहोदर भाई कौस्तुभ नामक रत्न जिसके अङ्ग का भूषण है, उस भगवान् विष्णु में तल्लीन होनेवाले उन राक्षसों के हृदय को मोहिनी रूप प्यारी स्त्री के बिम्बाफल के समान अधर में कामदेव ने रख दिया।

[यहाँ पर एक ही हृदय अनेक आधार में अर्थात् श्रीविष्णु जी में और (कामदेवरूप प्रयोजक द्वारा) अधर में स्थित हुआ, यह तात्पर्य है।]

[एक अन्य प्रकार के पर्याय नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १८१) **अन्यस्ततोऽन्यथा ।**

अनेकमेकस्मिन् क्रमेण भवति क्रियते वा सोऽन्यः । क्रमेणोदाहरणम्

[पूर्व कथित पर्यायालङ्कार से भिन्न लक्षणवाला] एक और भी पर्यायालङ्कार होता है, जिसमें अनेक वस्तु एक ही आधार पर क्रमपूर्वक कालभेद से हों अथवा की जायँ। इनके उदाहरण क्रमशः आगे दिये जाते हैं।

[अनेक वस्तु के एक ही अधार पर होने का उदाहरण :—]

मधुरिमरुचिरं वचः खलानाममृतमहो प्रथमं पृथु व्यनक्ति।
अथ कथयति मोहहेतुमन्तर्गतमिव हालहलं विषं तदेव॥५१६॥

अर्थ—अहो! बड़े आश्चर्य की बात है कि मीठे होने के कारण खलों के मनोहर वचन पहले तो परिपूर्ण अमृत रस टपकाते हैं परन्तु पीछे से पेट मे पड़े कठोर विष की भाँति मोह (मूर्च्छा) का कारण बन जाते हैं।

[अनेक वस्तु के एक ही आधार पर किये जाने का उदाहरणः—]

तद्गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः
सा धेनुर्जरती नदन्ति करिणामेता घनाभा घटाः।
स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं संगीतकं योषिता-
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः॥५१७॥

अर्थ—[सुदामा का नया घर देखकर कोई कहता है] कहाँ तो वह झुकी दीवालवाली झोपड़ी और कहाँ यह आकाश मे विस्तृत विशाल मन्दिर! कहाँ वह बूढी गाय और कहाँ ये काले काले मेघ सदृश चिग्घाड़ते हुए हाथियों के झुण्ड! कहाँ वे मन्द-मन्द मूसल के शब्द और कहाँ ये सुन्दियों के मधुर गान! यह तो बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने ही थोड़े दिनो मे यह (सुदामा नामक) ब्राह्मण कितनी बड़ी समृद्धि का पात्र बना दिया गया।

अत्रैकस्यैव हानोपादानयोरविवक्षितत्वान्न परिवृत्तिः।

यहाँ एक ही कर्ता के लेन-देन की विवक्षा प्रकाशित न रहने के कारण परिवृत्ति नामक अलङ्कार नहीं माना गया।

[अनुमान नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १८३) अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः॥११७॥

अर्थ—जहाँ साध्य (सिद्ध करने योग्य वस्तु) और साधक (सिद्ध करनेवाला हेतु) का कथन किया जाय वहाँ अनुमान नामक अलङ्कार होता है।

पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकित्वेन त्रिरूपो हेतुः साधनम्। धर्मिणि अयोगव्यवच्छेदो व्यापकस्य साध्यत्वम्। यथा

जिस आधार में कोई वस्तु सिद्ध की जाती है उसे पक्ष कहते हैं। जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' अर्थात् 'धुँए के होने से पहाड़ अग्निवाला है' (अथवा पहाड़ मे अग्नि होने का अनुमान धुँए को देखकर किया जाता है) इत्यादि उदाहरणों में पर्वत आदि पक्ष कहलाता है। हेत (कारण धूमादि) का पक्ष (पर्वतादि) में रहना पक्षधर्मता कहलाती है। सपक्ष (जहाँ पर साध्य अग्नि का रहना निश्चय हो, जैसे :—रसोई आदि) मे हेतु (धूमादि) का नियत रूप से पाया जाना अन्वय कहलाता है। विपक्ष (जहाँ पर साध्य का अभाव निश्चित है, जैसे :—जलकुण्डादि) मे नियत रूप से हेतु का न रहना व्यतिरेक कहा जाता है। इस प्रकार से अनुमान का साधन (हेतु) तीन प्रकार का होता है। अर्थात् वह पक्ष में हो, सपक्ष मे नियत रूप से पाया जाय, विपक्ष में नियतरूप से न पाया जाय। पक्ष (पर्वतादि) मे व्यापाक हेतु (धूम) की अपेक्षा अनल्प स्थान मे स्थित (अग्नि आदि का) अयोगव्यवच्छेद अर्थात् नियत रूप से सम्बन्ध रखना साध्यत्व है। जैसे:—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यादि उदाहरणों में पर्वत तो पक्ष है, उसमे धूम का होना पक्षधर्मता है। जहाँ पर साध्य (वह्नि) का होना निश्चय है—ऐसे सपक्ष रसोई घर आदि मे धूम होता ही है, तथा जहाँ पर वह्निरूप साध्य के अभाव का निश्चय है ऐसे विपक्ष जलकुण्ड में धूम नहीं ही होता है। इस प्रकार तीन रूप से धूम की स्थिति द्वारा पर्वतरूप पक्ष में साध्यरूप वह्नि (अग्नि) का अनुमान किया जाता है। इसी को अनुमान कहते हैं। परन्तु इस प्रकार के अनुमान मे किसी विशेष प्रकार के चमत्कार के न होने से केवल कवि की बुद्धि द्वारा कल्पित किसी एक धर्मी में किसी साधन (हेतु) द्वारा किसी साध्य की कल्पना प्रतिपादित की जाय तो उसको सविशेष चमत्कारोत्पादक होने के कारण अनुमान नामक अलङ्कार कहते हैं। उदाहरण:—

यत्रैता लहरी चलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवं
यत्तत्रैव पतन्ति सन्ततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः।
तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो
धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्य सदासां स्मरः ॥५१८॥

अर्थ—ये अत्यन्त चञ्चल नेत्रोंवाली स्त्रियाँ जहाँ-जहाँ अपनी भौंहें फेरती हैं सदैव वहाँ-वहाँ ये मर्मघाती बाण भी जा जाकर गिरते हैं; क्योंकि उन स्त्रियों की आज्ञा के अनुकूल चलनेवाला अत्यन्त क्रोधी कामदेव सचमुच खींचकर घुमाये गये, धनुष पर चढ़ाये हुए बाणों पर हाथों को फेरता हुआ सदा इनके आगे-आगे दौड़ता चलता है।

[यहाँ पर पूर्वार्द्ध मे भृकुटि व्यापार रूप साधन (हेतु) द्वारा उत्तरार्द्ध मे कामदेव का दौड़ना रूप साध्य का कथन किया गया है। तथा जहाँ-जहाँ और वहाँ-वहाँ से व्याप्ति का प्रकाश इङ्गित है।

साध्यसाधनयोः पौर्वापर्यविकल्पे न किंचिद्वैचित्र्यमिति न तथा दर्शितम्।

इस अलङ्कार में साध्य-साधन के आगे-पीछे उल्लेख किये जाने पर उलट-फेर हो जाता है, यह कोई बड़ी विचित्रता की बात नहीं है। अतएव उसके कोई उदाहरण प्रदर्शित नहीं किये गये।

[परिकरालङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १८३) विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः।

अर्थ—जहाँ पर अभिप्रायविशिष्ट विशेषणों के साथ (विशेष्य) की उक्ति की जाती है, वहाँ परिकर नामक अलङ्कार होता है।

अर्थाद्विशेष्यस्य। उदाहरणम्—

किसकी उक्ति अर्थात् विशेष्य की। उदाहरण :—

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः।
न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥५१९॥

अर्थ—[किरातार्जुनीय काव्य के प्रथम सर्ग में दूत युधिष्ठिर से कह रहा है—] बड़े तेजस्वी, स्वाभिमानी, धन से भली भाँति पूजित,

जो परायों के वशवर्ती नहीं हैं और परस्पर एकमतवाले हैं तथा युद्ध-स्थल मे कीर्ति को पाये हुए धनुर्द्धर वीर हैं, वे उस राजा दुर्योधन का इष्ट कार्य करने के लिये अपने प्राणों तक का समर्पण करने को उद्यत हैं।

[यहाँ पर महातेजस्वी आदि विशेषणों में दूसरों से न पराजित होने योग्य—ऐसा अभिप्राय धनुर्द्धर रूप विशेष्य को विशेष पुष्ट करता है। इससे दुर्योधन का परमोत्कर्ष प्रतीत होता है, यही परिकरालङ्कार की विशेषता है।]

यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात्तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यलंकार-मध्ये गणितः।

यद्यपि ऊपर सप्तम उल्लास मे अपुष्ट अर्थ को दोष रूप से निरूपित कर आये हैं और उसके खण्डन द्वारा पुष्टार्थता की स्वीकृति भी हो चुकी है, तथापि एक वस्तु मे रहनेवाले ऐसे अनेक विशेषणों के कथन द्वारा सहृदय व्यक्तियों के चित्त मे कोई विशेष चमत्कार उत्पन्न होता ही है, इस कारण से इस पुष्टार्थता को परिकर नामक अलङ्कार के बीच गिन लेते हैं।[1]

[व्याजोक्ति नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १८४) व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्॥११८॥

अर्थ—जो कोई वस्तु प्रकट हो गई हो, छल से उसका छिपाया जाना व्याजोक्ति नामक अलङ्कार कहलाता है।

---

[1] निदर्शनकार का कहना है कि वाग्देवतावतार श्री मम्मट भट्ट जी यहीं तक ग्रन्थ रचना कर पाये थे। शेष भाग को अल्लट सूरि ने रचकर यह ग्रन्थ पूर्ण किया है। अपने वचन के प्रमाण में उन्होंने यह श्लोक दिया है,—

'तक्तः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः। प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायालट्टसूरिणा।

निगूढमपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रभिन्नं केनापि व्यपदेशेन यदपह्नूयते सा व्याजोक्तिः। न चैषाऽपह्नुतिः प्रकृताप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासम्भवात्। उदाहरणम्

यदि किसी छिपी हुई वस्तु का रूप किसी प्रकार से प्रकट हो जाय और वह किसी और वस्तु के बहाने से छिपाया जाय तो व्याजोक्ति नामक अलङ्कार होगा। इसे अपह्नुति न समझना चाहिये, क्योंकि उसमें प्रकृत अप्रकृत वस्तुओं की समता का भी कथन रहा करता है। इसमें तो समता की विवक्षा असम्भव है। उदाहरण :—

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लसद्-
रोमाञ्चादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः।
हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः॥५२०॥

अर्थ—जब पर्वतराज हिमालय शिव जी के हाथ में पार्वती जी को समर्पण करने लगे, तब उन (पार्वती जी) के हस्त-स्पर्श के कारण प्रकट हुए रोमाञ्च आदि से उत्पन्न कम्पन द्वारा चञ्चलहस्त होकर, विवाह संस्कार के सभी कार्यों के सम्पादन के बिगड़ने से घबड़ाकर जिस महादेव जी ने कहा कि 'अहो! हिमालय के दोनों हाथों में कितनी शीतलता है?' और ऐसा कहने पर जिन्हें हिमालय के रनिवास की माताओं और नन्दी आदि गणों ने मुसकराकर देखा, वे महादेव जी तुम लोगों का कल्याण करें।

अत्र पुलकवेपथू सात्त्विकरूपतया प्रसृतौ शैत्यकारणतया प्रकाशितत्वादपलपितस्वरूपौ व्याजोक्तिं प्रयोजयतः।

यहाँ पर रोमाञ्च और कम्पन नामक व्यापार को, जो पार्वती जी के करस्पर्श द्वारा उत्पन्न सात्त्विक अनुभाव के रूप में प्रकट हो रहे थे, शीतलतामूलक प्रकट किया गया है। अतएव सच्चे सात्त्विक भाव को छिपाने के कारण ये रोमाञ्च और कम्पन व्याजोक्ति नामक अलङ्कार के प्रयोजक (कारण) हैं।

[परिसंख्या नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १८५) किञ्चित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते।

ताहगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ॥११९॥

प्रमाणान्तरावगतमपि वस्तु शब्देन प्रतिपादित प्रयोजनान्तराभावात्सदृशवस्त्वन्तरव्यवच्छेदाय यत्पर्यवस्यति सा भवेत्परिसंख्या। अत्र च कथनं प्रश्नपूर्वकं तदन्यथा च परिदृष्टम्। तथोभयत्र व्यपोह्यमानस्य प्रतीयमानता वाच्यत्व चेति चत्वारो भेदाः। क्रमेणोदाहरणम्

जो कोई बात पूछी गई हो या न पूछी गई हो, परन्तु शब्दों द्वारा प्रकट की गई हो तथा किसी अन्य प्रयोजन के न होने से उसके तुल्य किसी अन्य वस्तु के व्यवच्छेद (अपलाप) रूप मे परिणत हो तो वहाँ पर परिसख्या नामक अलङ्कार होता है। यहाँ पर वस्तु का कथन प्रश्न द्वारा अथवा विना प्रश्न किये हुये भी हा सकता है और दोनो दशाओ मे अपलपित वस्तु व्यग्य या वाच्य द्वारा कही जा सकती है। इस प्रकार परिसंख्या के चार भेद हुए। आगे इन सभी भेदों के क्रमशः उदाहरण दिए जाते हैं।

[प्रश्नपूर्वक व्यग्य द्वारा अपलपित वस्तु प्रकाशक उदाहरण :—]

किमासेव्यं पुंसां सविधमनवद्यं द्युसरितः
किमेकान्ते ध्येयं चरणयुगल कौस्तुभभृतः।
किमाराध्य पुण्य किमभिलषणीय च करुणा।
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥५२१॥

अर्थ—मनुष्यों के सेवन योग्य क्या है? गङ्गा जी का निर्दोप तट। एकान्त मे ध्यान धारण करने योग्य वस्तु क्या है? कौस्तुभमणि से विभूषित होनेवाले भगवान् विष्णु के दोनों चरण। आराधना योग्य क्या है? पुण्य। चाहने योग्य वस्तु क्या है? दया। जिन सब (उपर्युक्त पदार्थों) में आसक्ति के द्वारा मनुष्य का चित्त शाश्वत मुक्ति-पद-प्राप्ति का अधिकारी होता है।

[प्रश्नपूर्वक वाच्यद्वारा अपलाप्य वस्तुसूचक उदाहरण:—]

किं भूषण सुदृढमत्र यशो न रत्नं किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः ।
किं चक्षुरप्रतिहत धिषणा न नेत्रं जानाति कस्त्वदपरःसदसद्विवेकम् ॥५२२॥

अर्थ—कभी नष्ट न होनेवाला भूषण क्या है ? यश, न कि रत्न । करने योग्य कर्म क्या है ? शिष्टों से आचरित पुण्यकर्म, न कि दोष । जिनकी पहुँच का कहीं भी रोक नहीं—ऐसी आँखें कौन सी हैं ? बुद्धि, न कि नेत्र । अकेले आपको छोड़कर और कौन है जो ऐसा सत् और असत् का विवेक कर सके ?

[बिना प्रश्न किये व्यंग्य द्वारा अपलपित वस्तु सूचक उदाहरणः—]

कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥५२३॥

अर्थ—हे प्रिये ! तुम्हारी केशराशि में कुटिलता, हाथ, पाँव और होठों मे लालिमा, दोनों स्तनो मे कठोरता और दोनों आँखों में चञ्चलता का निवास है ।

[बिना प्रश्न किए केवल वाच्य द्वारा अपलपित वस्तुसूचक उदाहरणः—]

भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे ।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥५२४॥

अर्थ—प्रायः महापुरुषों के विषय मे यह देखने में आता है कि उनकी प्रीति महादेव जी में रहती है, धन-सम्पत्ति मे नहीं, आसक्ति शास्त्रों में रहती है, स्त्री-रूप काम के बाणों मे नहीं, चिन्ता यश के सम्बन्ध मे रहती है, शरीर पोषण के सम्बन्ध मे नहीं ।

[कारणमाला नामक अलङ्कार का लक्षणः—]

(सू० १८६) यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता ।
तदा कारणमाला स्यात्

अर्थ—कारणमाला नामक अलङ्कार वहाँ पर होता है, जहाँ क्रमशः किसी बात का कारण उसके पूर्व पूर्व की कही गई बात हो ।

उत्तरमुत्तरम्प्रति यथोत्तरम् । उदाहरणम्—

यथोत्तरम् अर्थात् प्रत्येक पिछले के प्रति। उदाहरण :—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥५२५॥

[इस श्लोक का अर्थ सप्तम उल्लास में लिखा जा चुका है।]

'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः' इति हेत्वलंकारो न न लक्षितः। आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात्।

जो लोग इस मत के पोषक हैं कि 'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः' अर्थात् कार्य के साथ कारण का विना भेद किये हुए जो कथन है वह हेत्वलङ्कार कहलाता है' उनके मत में जो एक हेतु नामक पृथक् अलङ्कार है, यहाँ पर उसका निरूपण नहीं किया गया है; क्योंकि 'आयुर्घृतम्' अर्थात् घी दीर्घ जीवन का कारण है, इस वाक्य में किसी प्रकार का चमत्कार नहीं है, अतएव यहाँ पर कोई अलङ्कार भी नहीं माना जा सकता।

अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः।
रम्योऽयमेति सम्प्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥५२६॥

अर्थ—निरन्तर कमलों को विकासित करनेवाला, सब भ्रमरों को उन्मत्त कर देनेवाला, कोकिलों के लिये आनन्ददायी, लोगों के चित्तों में उत्कण्ठा उत्पन्न करनेवाला यह वसन्त ऋतु अब आ रहा है।

इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव समाम्नासिषुर्न पुनर्हेत्वालंकारकल्पनयेति पूर्वोक्तकाव्यलिंगमेव हेतुः।

उपर्युक्त श्लोक में जो काव्यरूपता स्वीकार की गई है वह केवल कोमलानुप्रास ही की महिमा द्वारा, न कि हेतु नामक किसी अन्य अलङ्कार की कल्पना से। जो हेतु यहाँ पर कहा गया है वह तो काव्य-लिङ्ग नामक अलङ्कार के अन्तर्गत माना जाता है।

[अन्योन्य नामक अलङ्कार का लक्षण:—]

(सू० १८७) क्रियया तु परस्परम् ॥१२०॥

वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्

अर्थ—क्रिया द्वारा दो वस्तुओं का परस्पर एक दूसरे के उत्पन्न करने में जो चमत्कार लक्षित होता है वह अन्योन्य नामक अलङ्कार कहलाता है।

अर्थयोरेकक्रियामुखेन परस्परं कारणत्वे सति अन्योन्यनामा अलंकारः।

उदाहरणम्—

एक ही क्रिया द्वारा दो पदार्थों की परस्पर एक दूसरे की कारणता कही जाय तो अन्योन्य नामक अलङ्कार जानना चाहिये। उदाहरण:—

हंसाण सरेहि सिरी सारिज्जइ अह सराण हंसेहिं।
अण्णोण्णं विअ एए अप्पाणं णवर गरुअन्ति ॥५२७॥

[छाया—हंसानां सरोभिः श्रीः सार्यते अथ सरसां हंसैः।
अन्योन्यमेव एते आत्मानं केवलं गरयन्ति ॥]

अर्थ—हंसों द्वारा सरोवरों, और सरोवरों द्वारा हंसों की शोभा अधिक उत्कृष्ट हो जाती है। ये दोनों एक दूसरे के द्वारा अपनी-अपनी शोभा को अधिक गौरवयुक्त बना देते हैं।

अत्रोभयेपामपि परस्परजनकता मिथःश्रीसारतासम्पादनद्वारेण।

यहाँ पर हंस और सरोवर दोनों का मिलकर शोभा बढ़ाना रूप कार्य में परस्पर एक दूसरे की कारणता है।

[उत्तर नामक अलङ्कार का लक्षण:—]

(सू० १८८) उत्तरश्रुतिमात्रतः।

प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ॥१२१॥
असकृद्यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम् ॥

अर्थ—केवल उत्तर ही के सुनने से जहाँ पर प्रश्न की कल्पना कर ली जाय अथवा बारंबार प्रश्न करने पर भी जहाँ उत्तर असम्भव जान पड़े वहाँ उत्तर नामक अलङ्कार होता है।

प्रतिवचनोपलम्भादेव पूर्ववाक्यं यत्र कल्प्यते तदेकं तावदुत्तरम्।

उदाहरणम्—

उत्तर वचन के सुनने मात्र से जहाँ पर पूर्व वाक्य अर्थात् प्रश्न की कल्पना कर ली जाय वहाँ एक प्रकार का उत्तरालङ्कार है। उदाहरण :—

वाणिअअ हत्थिदन्ता कुत्तो अम्हाण वग्घकित्ती अ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सोण्हा ॥५२८॥

छाया—वाणिजक हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा ॥]

अर्थ—[मोल लेनेवाले वाणिक से बूढा व्याधा कहता है—] हे महाजन ! हम लोगों के यहाँ हाथी दाँत और बाघ के चमड़े तब तक कहाँ से जुट सकते हैं जब तक चञ्चल केशसमूहों से शोभित मुखवाली पतोहू हमारे घर मे घूमती रहेगी। [नव वधू के प्रेम मे आसक्त होकर हमारा पुत्र अब शिकार के लिये वन को नहीं जाता, यह व्यंग्य है।]

हस्तिदन्तव्याघ्रकृत्तीनामर्थी ताः मूल्येन प्रयच्छेति क्रेतुर्वचनम् अमुना वाक्ये समुन्नीयते।

यहाँ पर 'मैं हाथी दाँत और बाघ के चमड़े लेना चाहता हूँ, उन्हे मूल्य लेकर दे दो' ऐसा ग्राहक वणिक का कथित वचन, इस उत्तर वाक्य के द्वारा कल्पित कर लिया जाता है।

नचैतत् काव्यलिङ्गम् उत्तरस्य ताद्रूप्यानुपपत्तेः। नहि प्रश्नस्य प्रतिवचनं जनको हेतुः। नापीदमनुमानम् एकधर्मिनिष्ठतया साध्यसाधनयोरनिर्देशादि त्यलंकारान्तरमेवोत्तरं साधीयः।

इस को काव्यलिङ्ग नामक अलङ्कार न समझना चाहिये ; क्योंकि उत्तररूप वाक्य हेतु नही सिद्ध होता। उत्तर प्रश्न के उत्पन्न करने का हेतु (निमित्त कारण) भी नहीं है। और यह अनुमान मे भी नहीं गिना जा सकता, क्योंकि एक ही धर्मी में रहने पर साध्य (प्रतिपाद्य वस्तु) और साधन (हेतु) का भी निर्देश नहीं किया गया है। इन कारणो से उत्तर को एक पृथक् अलङ्कार ही मानना चाहिये।

प्रश्नादनन्तरं लोकातिक्रान्तगोचरतया यदसंभाव्यरूपं प्रतिवचनं स्यात्तदपरमुत्तरम्। अनयोश्च सकृदुपादाने न चारुताप्रतीतिरित्यसकृदित्युक्तम्। उदाहरणम्—

प्रश्न के पीछे जनसाधारण के ज्ञानगम्य न होने के कारण जो असम्भव उत्तर हो तो वह उत्तरालङ्कार का एक और भेद है। ये प्रश्न तथा उत्तर यदि एक ही बार कहे जाँय तो कोई चमत्कार नहीं है, इसलिये बारबार कहा गया। द्वितीय प्रकार के उत्तर नामक अलङ्कार का उदाहरण :—

का विसमा देव्वगई किं लद्धं जं जणो गुणग्गाही।
किं सोक्खं सुकलत्तं किं दुक्खं जं खलो लोओ ॥५२६॥

[छाया—का विषमा दैवगतिः किं दुर्लभं यज्जनो गुणग्राही।
किं सौख्यं सुकलत्रं किं दुःखं यत्खलो लोकः ॥]

अर्थ—कौन-सी विस्तु विषम है? दैवगति। दुर्लभ कौन है? गुण का ग्राहक मनुष्य। आनन्द क्या है? अच्छी स्त्री। दुःख क्या है? दुष्टजनों का वर्तमान रहना।

प्रश्नपरिसंख्यासन्यव्यपोहे एव तात्पर्यम्। इह तु वाच्ये एव विश्रान्तिरित्यनयोर्विवेकः।

प्रश्नपूर्वक परिसंख्यालङ्कार में तत्तुल्य किसी अन्य वस्तु के अपलाप से तात्पर्य रहता है। यहाँ उत्तरालङ्कार प्रकरण में तो अर्थ ही में तात्पर्य की समाप्ति हो जाती है और यही इन दोनों उत्तर और परिसंख्या नामक अलङ्कारों का भेद है।

[सूक्ष्म नामक अलङ्कार का लक्षण:—]

(सू० १८६) कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते १२२॥
धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते।

अर्थ—जहाँ पर किसी ज्ञापक कारण (आकार अथवा सङ्केत) द्वारा कोई सूक्ष्म (केवल सहृदय व्यक्ति के जानने योग्य) वस्तु किसी धर्म से अन्य के प्रति प्रकट हो जाय वहाँ पर सूक्ष्म नामक अलङ्कार होता है।

कुतोऽपि आकारादिङ्गिताद्वा सूक्ष्मस्तीक्ष्णमतिसंवेद्यः। उदाहरणम्

किसी 'ज्ञापक कारण' से तात्पर्य आकार या सङ्केत से है। 'सूक्ष्म' शब्द से तात्पर्य उस अर्थ से है जिसे अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धिवाले अर्थात् सहृदय लोग ही समझ सके।

[आकार से लक्षित होनेवाले सूक्ष्मालंकार का उदाहरण :—]

वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुंकुमं कापि कंठे।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख ॥५३०॥

अर्थ—किसी चतुर सखी ने नायिका के मुख पर बहनेवाले पसीने की बूँदों की धारा से गले के कुंकुम को भिन्न हुआ देख मुस्कराकर उस नायिका के (विपरीत रति-सूचक) पुरुषत्व को सूचित करने के लिए उसके हाथ में तलवार का चित्र खींच दिया।

अत्राकृतिमवलोक्य कयापि वितर्कितं पुरुषायितं असिलतालेखनेन वैदग्ध्यादभिव्यक्तिमुपनीतम्। पुंसामेव कृपाणपाणिताया योग्यत्वात्। यथा वा-

यहाँ पर आकार को देखकर स्त्री का पुरुषवदाचरण अनुमान कर लिया गया और तलवार का चित्र खींचकर चतुरता से उसे प्रकट भी कर दिया, क्योंकि तलवार का तो पुरुषों ही के हाथ में रहना उचित है। [संकेत द्वारा लक्षित सूक्ष्म का उदाहरणः—]

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
ईषन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥५३१॥

अर्थ—आँखों द्वारा अपना कुछ थोड़ा-सा गुप्त भेद प्रकट करनेवाले जार को संकेतकाल का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाला समझकर किसी चतुर उपनायिका ने अपने क्रीडा-कमल को संकुचित कर लिया।

अत्र जिज्ञासितः संकेतकालः कयाचिदिङ्गितमात्रेण विदितो निशासमयशंसिना कमलनिमीलनेन लीलया प्रतिपादितः।

यहाँ पर पूछे गये संकेतकाल को कोई स्त्री केवल इङ्गित (संकेत) द्वारा पहिचान गई है और उसने कमल के संकुचित करने के द्वारा खेल

ही खेल मे रात्रि को संकेतकाल भी बतला दिया है।

[सार नामक अलङ्कार का लक्षणः—]

(सू० १९०) उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः ॥१२३॥

परः पर्यन्तभागोऽवधिर्यस्य धाराधिरोहितया तत्रैवोत्कर्षस्य विश्रान्तेः। उदाहरणम्—

जहाँ एक के अनन्तर दूसरे का क्रमशः उत्कर्ष (बड़प्पन) अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया जाय वहाँ सार नामक अलङ्कार होता है। उदाहरण :—

राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं पुरे सौधम्।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम् ॥५३२॥

अर्थ—राज्य मे सारभूत पृथ्वी है और पृथ्वी मे सारभूत नगर है। एवं नगर मे अटारी और अटारी मे पलग पर कामसर्वस्व सुन्दरी स्त्री सारभूत है।

[असगति नामक अलङ्कार का लक्षणः—]

(सू०१९१) भिन्नदेशतयात्यन्त कार्यकारणभूतयोः।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः ॥१२४॥

अर्थ—कार्य और कारणभूत धर्मों का, जो कि अत्यन्त भिन्न-भिन्न देशो मे स्थित हैं, एक ही समय मे कथन असंगति नामक अलङ्कार है।

इह यद्देशं कारणं तद्देशमेव कार्यमुत्पद्यमानं दृष्टं यथा धूमादि। यत्र तु हेतुफलरूपयोरपि धर्मयोः केनाप्यतिशयेन नानादेशतया युगपदवभासनम् सा तयोः स्वभावोत्पन्नपरस्परसंगतित्यागादसंगतिः। उदाहरणम्—

संसार मे ऐसा देखा जाता है कि जिस स्थान पर कारण रहता है वहीं पर कार्य भी उत्पन्न होता है। जैसे जहाँ पर अग्नि आदि पदार्थ रहते हैं वहीं पर धूम इत्यादि दिखाई पड़ते हैं, परन्तु जहाँ पर कार्य-कारणरूप धर्मो का किसी विशेष कारण द्वारा अनेक देशों मे स्थित रहने पर भी एक साथ ही आविर्भाव हो तो उनकी स्वभावोत्पन्न परस्पर की संगति (साहचर्य नियम) के परित्याग कर देने से इस अलङ्कारका नाम असंगति

हुआ। उदाहरण :—

जस्सेअ खणो तस्सेअ वेअणा भणइ त जणो अलिअम्।
दन्तक्खअं कवोले वहूए वेअणा सवत्तीणम् ॥५३३॥

[छाया—यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति तज्जनोऽलीकम्।
दन्तक्षतं कपोलेवध्वाः वेदना सपत्नीनाम् ॥]

अर्थ—लोगों का यह कहना कि जिसके घाव होता है उसी को पीड़ा भी होती है, झूठ है। भला देखो तो! दाँतों से काटे जाने का घाव तो वहू के गालों पर वर्तमान है, परन्तु पीडा उसकी सपत्नियों को होती है।

एषा च विरोधबाधिनी न विरोधः भिन्नाधारतयैव द्वयोरिह विरोधितायाः प्रतिभासात्। विरोधे तु विरोधित्व एकाश्रयनिष्ठमनुक्तमपि पर्यवसितम् अदवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य व्यवस्थितेः। तथा चैवं निदर्शितम्।

यह अलङ्कार विरोधाभास का बाधक होने से विरोधाभास नहीं है, क्योंकि वहाँ जो विराध प्रकट होता है वह दोनों धर्मियों के भिन्न-भिन्न आधार द्वारा होता है। विरोधाभास नामक अलङ्कार में उन (दोनों धर्मियों) का एक ही आधार पर रहना आवश्यक है, चाहे ऊपर (विरोधाभास के लक्षण में) ऐसा कहने से छूट भी गया हो। विशेष नियमों के परित्याग द्वारा ही सामान्य नियमों की स्थिति ठीक होती है। अतएव भिन्न-भिन्न आधारवाले धर्मियों के विरोध कथन को (विरोधाभास नामक अलङ्कार में न गिनकर) पृथक् असगति नामक अलकार मे गिन लिया गया है।

[समाधि नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १९२) समाधि. सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगत.।

अर्थ—समाधि उस अलङ्कार का नाम है, जहाँ पर कतिपय अन्य कारणों के योग से कार्य का होना सुगम हो जाय।

साधनान्तरोपकृतेन कर्त्रा यदक्लेशेन कार्यमारभ्य समाधीयते स

समाधिर्नाम । उदाहरणम्

अन्यान्य हेतुओं की सहायता द्वारा जहाँ पर आरम्भ किये हुए कार्य को कर्ता विना यत्न के ही सम्पादन करे, वहाँ पर समाधि नामक अलङ्कार होता है। उदाहरण :—

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥५३४॥

अर्थ—[कोई विलासी युवा पुरुष अपने किसी मित्र से कहता है—] उस नायिका के मान के निवारणार्थ ज्योंही मै उसके चरणों पर (प्रणामार्थ) झुकना चाहता था, त्योंही मेरे सौभाग्य से घन-गर्जन ध्वनि गूँज उठी।

[सम नामक अलङ्कार का लक्षण:—]

(सू०१६३) समं योग्यतया योगो यदि सम्भावित. क्वचित् ॥१२५॥

अर्थ—यदि कहीं पर दो वस्तुओं का संयोग यथोचित जानकर स्वीकार कर लिया जाय तो वहाँ सम नामक अलङ्कार होता है।

इदमनयोः श्लाघ्यमिति योग्यतया सम्बन्धस्य नियतविषयमध्यवसान चेत्तदा समम् तत्सद्योगेऽसद्योगे च । उदाहरणम्

इन दोनो के बीच मे यह प्रशंसनीय है, यदि ऐसे औचित्य के सम्बन्ध की निश्चय रूप से कहीं पर प्रतीति हो तो वहाँ पर सम नामक अलङ्कार होता है। यह अलङ्कार दो सत्पदार्थों वा दो असत्पदार्थों के द्वारा भी प्रकट किया जा सकता है।

[सत्पदार्थों के योगवाले समालङ्कार का उदाहरण:—]

धातुः शिल्पातिशयनिकषस्थानमेषा मृगाक्षी
रूपे देवोऽप्ययमनुपमो दत्तपत्रः स्मरस्य ।
जातं दैवात्सदृशमनयोः संगतं यत्तदेतत्
शृङ्गारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रम् ॥५४५॥

अर्थ—यह मृगलोचनी नायिका ब्रह्मा के विधान नैपुण्य (रचना चातुरी) के माहात्म्य की कसौटी है (परम सुन्दरी है)। और अनुपम

सौन्दर्यशाली महाराज (उसके पति भी स्वरूप में कामदेव से विजयपत्र पा चुके हैं। (कामदेव से भी अधिक सुन्दर हैं।) इन दोनों स्त्री-पुरुषों का जो दैवात् संयोग हो गया है, सो इस समय शृंगार रस का एकच्छत्र राज्य स्थापित हुआ है।

[असत्पदार्थों के योगवाले समालङ्कार का उदाहरण :—]

चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद्विचित्रम्
जातो दैवादुचितरचनासंविधाता विधाता।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः ॥५३६॥

अर्थ—अहो! यह अत्यन्त अद्भुत बात है कि दैव सयोग से विधाता यथोचित कार्य का करनेवाला बन गया है। बात तो यह है कि नीम के पके हुए फलों (निम कौड़ियों) की समृद्धि तो आस्वादन करने योग्य है ही तथा उन फलों के चखने की विद्या में निपुण कौवों की भी भली रचना की गई है।

[विषमालङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १६४) क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥१२६॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत्स विषमो मतः १२७॥

अर्थ—(१) जो कहीं अति वैधर्म्य के कारण पूरा-पूरा सम्बन्ध ही न बैठे, (२) कर्ता की इष्टसिद्धि तो न हो, प्रत्युत एक अनर्थ खड़ा हो जाय; (३) कार्य का गुण कारण के गुण से विरुद्ध पडे और (४) जो कार्य की क्रिया के साथ कारण की क्रिया का विरोध पड़े—तो इन चारों दशाओं में विषम नामक अलङ्कार होता है।

द्वयोरत्यन्तविलक्षणतया यत् अनुपपद्यमानतयैव योगः प्रतीयते (१) यच्च किंचिदारभमाणः कर्त्ता क्रियायाः प्रणाशात् न केवलमभीष्टं यत्फलं न लभेत यावदप्रार्थितमप्यनर्थं विषयमासादयेत् (२) तथा सत्यपि कार्यस्य कारण-

रूपानुकारे यत् तयोर्गुणौ क्रिये च परस्परं विरुद्धतां व्रजतः (३ । ४) स समविपर्ययात्मा चतूरूपो विषमः । क्रमेणोदाहरणम् ।

भाव यह है कि जहाँ दो पदार्थों के परस्पर अत्यन्त विलक्षण होने से जो (१) उनके परस्पर के योग की प्रतीति ही न होती हो वा (२) जहाँ किसी कार्य का प्रारम्भ करनेवाला कर्ता क्रिया के नष्ट हो जाने से केवल अभीष्ट फल ही को न प्राप्त करे, किन्तु न चाहे हुए अनर्थ को भी पहुँच जाय, अथवा वैसे ही कार्य की उपस्थिति दशा में कारण रूप के अनुसार होनेवाले जो उनके गुण (३) तथा क्रिया हो तो (४) समता से विपरीत होने के कारण उक्त चार प्रकार का विषमालङ्कार होता है। उनके क्रमशः उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

शिरीषादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायतलोचना ।
अयं क्वच कुकूलाग्निककर्शो मदनानलः॥५३७॥

अर्थ—कहाँ शिरीष पुष्प से भी अधिक कोमल बड़ी-बड़ी आँखोंवाली यह नायिका और कहाँ कण्डे की आग के समान दुःखदायिनी यह काम की प्रबल अग्नि !

सिंहिकासुतसंत्रस्तः शशः शीतांशुमाश्रितः ।
जग्रसे साश्रयं तत्र तमन्यः सिंहिकासुतः ॥५३८॥

अर्थ—सिंहिका सुत (सिंहिनी के पुत्र), के भय से शशक (खरगोश) चन्द्रमा के पास आश्रय के लिये गया; परन्तु वहाँ पर दूसरे सिंहिकासुत (राहु) ने आश्रयदाता (चन्द्रमा) समेत उसको ग्रस लिया ।

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते ॥५३९।

अर्थ—आश्चर्य की बात यह है कि इस राजा की तमाल वर्णवाली (काली) तलवार की धारा उसके करस्पर्श को पाकर तुरन्त ही त्रिलोकी-भूषणस्वरूप शरच्चन्द्रिका के समान श्वेत रङ्गवाली कीर्ति का प्रसव प्रत्येक युद्ध में करती है ।

आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ददासि त्वम् ।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥५४०॥

अर्थ—हे नीलकमल के दल के समान नेत्रोंवाली प्रिये ! तुम तो मुझे (अपने समागम द्वारा) बड़ा भारी आनन्द प्रदान करती हो; परन्तु तुम से ही उत्पन्न होनेवाला विरह मेरे शरीर को अत्यधिक सन्ताप देता है ।

अत्रानन्ददानं शरीरतापेन विरुध्यते । एवम्—

यहाँ पर समागम द्वारा शरीर को आनन्द प्रदान, विरहजनित सन्ताप प्रदान की क्रिया से विरुद्ध पड़ता है । इसी प्रकार—

विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥५४१॥

अर्थ—समुद्र में शयन करते समय जिसके विशाल उदर द्वारा चौदहों भुवन पी लिये जाते हैं, उस भगवान् विष्णु को किसी मदमाती नागरिक स्त्री ने केवल अपने एक नयन के प्रान्त भागों मे पान कर लिया ।

इत्यादावपि विषमत्वं यथायोगमवगन्तव्यम् ।

इत्यादि उदाहरणों में भी विषमालङ्कार ही समझना चाहिये ।

[अधिक नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १९५) महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥१२८॥

अर्थ—बड़े-बड़े आश्रित और आधारों के आधार तथा आश्रित, जो क्रमशः छोटे होने पर भी बड़े ही की भाँति वर्णन किये जायँ तो वहाँ पर 'अधिक' नामक अलङ्कार होता है ।

आश्रितम् आधेयम् आश्रयस्तदाधारः तयोर्महतोरपि विषये तदपेक्षया तनू अप्याश्रयाश्रयिणौ प्रस्तुतवस्तुप्रकर्षविवक्षया यथाक्रमं यत् अधिकतरतां व्रजतः तदिदं द्विविधम् अधिकं नाम । क्रमेणोदाहरणम्—

मूलकारिका में आश्रित से तात्पर्य आधेय (जो रखा जाय) से है

और आश्रय से तात्पर्य आधार (जिसमें कुछ रखा जाय) से है। इन दोनों आधार और आधेय के बड़े होनेपर उनकी अपेक्षा छोटे भी आधार और आधेय प्रस्तुत वस्तु का बड़प्पन बखानने के लिये यदि क्रम से अधिकता को पहुँचा दिए जायँ तो इस तरह दो प्रकार का 'अधिक' नामक अलंकार होता है। उन दोनों के क्रमशः उदाहरण :—

अहो विशालं भूपाल ! भुवनत्रितयोदरम्।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥५४२॥

अर्थ—हे राजन् ! तीनों भुवन का पेट बहुत ही बड़ा है; क्योंकि उसमें न मापने योग्य आपका यश समूह भी समा जाता है।

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासत।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥५४३॥

अर्थ—[माघ काव्य के प्रथम सर्ग में नारद के आगमन पर श्री कृष्ण जी की प्रसन्नता का वर्णन है—] प्रलयकाल में जिस भगवान् श्रीकृष्ण जी की सूक्ष्म की गई आत्मा में अनेक जगत् स्थान प्राप्त करके समा जाते थे, कैटभ के शत्रु उसी भगवान् के शरीर में तपोधन श्री नारद जी के भेंट का सुख नहीं समा सका।

[प्रत्यनीक नामक अलंकार का लक्षण :—]

(सू० १६६) प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥१२६॥

अर्थ—जब कोई अशक्त जन अपने शत्रु को हानि न पहुँचा सके; परन्तु उसी प्रतिपक्ष (शत्रु की स्तुति के लिये उसके किसी अन्य सम्बन्धी का तिरस्कार करे तो प्रत्यनीक नामक अलंकार होता है।

न्यक्कृतिपरमपि विपक्षं साक्षान्निरसितुमशक्तेन केनापि यत् तमेव प्रतिपक्षमुत्कर्षयितुं तदाश्रितस्य तिरस्करणम् तदनीकप्रतिनिधितुल्यत्वात्प्रत्यनीकमभिधीयते। यथाऽनीकेऽभियोज्ये तत्प्रतिनिधिभूतमपरं मूढतया केनचिदभियुज्यते तथेह प्रतियोगिनि विजेये तदीयोऽन्यो विजीयत इत्यर्थः। उदाहरणम्—

तिरस्कार करनेवाले शत्रु का भी जो साक्षात् पराभव नहीं कर सकता है, किन्तु उसी शत्रु की बड़ाई के लिये उसके किसी आश्रित का तिरस्कार करता है तो सेना के प्रतिनिधि तुल्य होने के कारण इस अलंकार को प्रत्यनीक कहते हैं। जैसे किसी सेना पर चढ़ाई करने के स्थान मे उसके प्रतिनिधि (मित्रादि) पर कोई मूर्खता से चढाई कर बैठता है वैसे ही यद्यपि जीतने योग्य तो प्रतियोगी (शत्रु) ही है तथापि उसी का सम्बन्धी कोई और ही जीता जाता है। उदाहरण :—

त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः सा च सुन्दर ! भवत्यनुरक्ता ।
पञ्चभिर्युगपदेव शरैस्तां तापयत्यनुशयादिव कामः ॥५४४॥

अर्थ—हे सुन्दर ! आपने तो लावण्य मे कामदेव के रूप को जीत लिया है और वह नायिका आप ही में अनुरक्त है, अतएव द्वेष के कारण कामदेव अपने पाँचों बाणों से एक साथ ही उसे उत्पीड़ित कर रहा है।

यथा वा—

एक और उदाहरण :—

यस्य किंचिदपकर्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः ।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनाऽपि बाधते ॥५४५॥

अर्थ—शिरश्छेद के कारण वैर माननेवाला चतुर राहु विष्णु भगवान का कुछ भी अपकार करने में असमर्थ होकर उनके मुख के समान आकारवाले चन्द्रमा को अभी तक पीड़ा दिया करता है।

इन्दोरत्र तदीयता सम्बन्धिसम्बन्धात् ।

यहाँ विष्णु जी के साथ चन्द्रमा का सम्बन्ध; विष्णु जी के मुख के सौन्दर्य के समान सौन्दर्य धारण करना है।

[मीलित नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १९७) समेन लक्षमणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते ।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥१२०॥

अर्थ—अपने स्वाभाविक अथवा कारण विशेष द्वारा उत्पन्न किसी

साधारण गुण से यदि एक वस्तु किसी अन्य वस्तु से छिपा दी जाय तो वहाँ मीलित नामक अलङ्कार होता है।

सहजमागन्तुकम्वा किमपि साधारणं यत् लक्षणं तद्द्वारेण यत्किंचित् केनचिद्वस्तु वस्तुस्थित्यैव बलीयस्तया तिरोधीयते तन्मीलितमिति द्विधा-स्मरन्ति क्रमेणोदाहरणम्

सहज (स्वाभाविक) अथवा आगन्तुक (कारण विशेष द्वारा जनित) जो कोई लक्षण (गुण) हो उसके द्वारा जो कोई वस्तु किसी और वस्तु के द्वारा स्वाभाविक रीति से छिपा दी जाय तो वहाँ दो प्रकार का मीलित अलङ्कार स्मरण किया जाता है। दोनों के क्रमशः उदाहरण :—

अपाङ्गतरले दृशौ मधुरवक्रवर्णा गिरो
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम्।
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशः स्वतो लीलया
तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते ॥५४६॥

अर्थ—इस मृगलोचनी नायिका की नेत्रप्रान्त तक फैली हुई चञ्चल आँखें, मीठे और गूढ़ अर्थवाले शब्द, विशेष विलास के कारण मन्द-गति, तथा अत्यन्त सुन्दर मुख—ये सब गुण स्वभाव ही से उसके लघु शरीर मे प्रस्फुटित हो रहे हैं फिर अब मदपान ने वहाँ पहुँचकर भी कोई और लक्षण नहीं दिखलाया।

अत्र दृक्तरलतादिकमङ्गस्य लिङ्गं स्वाभाविकं साधारणं च मदोदयेन तत्राप्येतस्य दर्शनात्।

यहाँ पर आँखों की चञ्चलता आदि युवती शरीर के स्वाभाविक लक्षण हैं, और व मदोदय के साथ साधारण हैं; क्योंकि मदोदय काल में भी ये ही लक्षण दिखाई पड़ते हैं।

[आगन्तुक लक्षण द्वारा मीलित अलङ्कार का उदाहरण:—]

ये कन्दरासु निवसन्ति सदा हिमाद्रेस्त्वत्पातशंकितधियो विवशा द्विषस्ते
अप्यङ्गमुत्पुलकमुद्वहतां सकम्पं तेषामहो बत भियां न बुधोऽप्यभिज्ञः॥५४७

अर्थ—हे राजन्! आपकी चढाई के भय से सशङ्क बुद्धि आपके शत्रुगण, जो व्याकुल होकर सदा हिमालय की कन्दरा मे निवास करते हैं, सो उनके शरीर के सदा रोमाञ्चित और कम्पित रहने के कारण उनके भय की दशा को पण्डित लोग भी नहीं पहचान सकते।

अत्र तु सामर्थ्यादवसितस्य शैत्यस्य आगन्तुकत्वात्तत्प्रभवयोरपि कम्प-पुलकयोस्ताद्रूप्यं समानता च भयेष्वपि तयोरुपलक्षितत्वात्।

यहाँ पर पर्वतगुहा निवास के सामर्थ्य से जानी गई, जो शीतलता है उसके कारण विशेष जनित शैत्य से उत्पन्न होनेवाले रोमाञ्च और कम्पन की तद्रूपता और समता भय में भी हो सकती है; क्योंकि भय मे भी ये लक्षण (कम्पन और रोमाञ्च) दिखलाई पड़ते हैं।

[एकावली नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १४८) स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥१२१॥

अर्थ—जिस अलङ्कार में पूर्व-पूर्व वाली वस्तु पिछली-पिछली वस्तु के विशेषण के रूप से स्थापित की जाय अथवा निषिद्ध हो वह एकावली नामक अलङ्कार है, जो दो प्रकार का होता है।

पूर्वं पूर्वं प्रति यथोत्तरस्य वस्तुनो वीप्सया विशेषणभावेन यत्स्थापनं निषेधो वा सम्भवति सा द्विधा बुधैरेकावली भण्यते। क्रमेणोदाहरणम्

पहिली-पहिली वस्तुओं के प्रति पिछली-पिछली वस्तुओं की स्थापना वीप्सा (पुनरुक्ति) द्वारा जहाँ विशेषण रूप से स्थापित की जाय अथवा निषेध किया जाय पण्डित लोग उसे दो प्रकार की एकावली नामक अलङ्कार कहते हैं। क्रमशः उदाहरण :—

पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्ग्यः।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासम् अस्त्रं विलासः कुसुमायुधस्य ॥५४८॥

अर्थ—[पद्मगुप्त प्रणीत नवसाहसांक चरित के प्रथम सर्ग में राजा विक्रमादित्य की नगरी उज्जयिनी का वर्णन है—] जहाँ के भवन सुंदरी स्त्रियों से परिपूर्ण हैं और स्त्रियों के अङ्ग सुन्दर स्वरूप से अलकृत हैं,

सुन्दरता भी ऐसी है जिससे विलास के रस टपकते हैं और विलास भी कामदेव के अस्त्र बने हुए हैं।

[यह विधिविशिष्ट एकावली का उदाहरण है। निषेधयुक्त एकावली का उदाहरण :—]

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौकलगुञ्जितो न यो न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥५४६।

अर्थ—[भट्टि काव्य के द्वितीय सर्ग में शरत्काल का यह वर्णन है—] ऐसा कोई जल (जलाशय सरोवर) नहीं था जिसमें सुन्दर कमल न हों, और ऐसा कोई सुन्दर कमल नहीं था जिस पर भौंरे न बैठे हों। एवम् ऐसा कोई भ्रमर नहीं था जिसका गुञ्जार मनोहर न लग रहा हो और ऐसा कोई गुञ्जार नहीं था जो लोगों के मन को मोहित न कर रहा हो।

पूर्वत्र पुराणां वराङ्गनाः, तासामङ्गविशेषणमुखेन रूपम् तस्यविलासाः तेषामप्यस्त्रमित्यमुना क्रमेण विशेषणं विधीयते। उत्तरत्र प्रतिषेधेऽप्येवं-योज्यम्।

प्रथम उदाहरण में पुरों की वराङ्गनाएँ, वराङ्गनाओं के अङ्ग के विशेषण भावों से रूप, रूप के विलास और विलास के अस्त्र—इस क्रम से विशेषण बनाये गए हैं। पिछले उदाहरण में निषेधरूप से ऐसी ही अर्थयोजना कर लेनी चाहिये।

[स्मरण नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० १९९) यथाऽनुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः।

स्मरणम्

अर्थ—स्मरणालङ्कार उसका नाम है, जहाँ पूर्व में कोई पदार्थ अनुभवगोचर हो चुका है और उसी के समान अन्य पदार्थ के दिखाई पड़ने पर उसी पूर्वानुभूत पदार्थ का फिर से स्मरण हो जाय।

यः पदार्थःकेनचिदाकारेण नियतः यदा कदाचिदनुभूतोऽभूत् स

स कालान्तरे स्मृति प्रतिबोधाधायिनि तत्समाने वस्तुनि दृष्टे सति यत्तथैव स्मर्यते तद्भवेत्स्मरणम् । उदाहरणम्

जो पदार्थ किसी नियत आकार से विशिष्ट जब कभी अनुभूत हुआ हो, वह किसी अन्य समय में स्मरणशक्ति को जगानेवाले तत्सदृश किसी अन्य वस्तु के दिखाई देने पर यदि वैसे ही स्मरण किया जाता है तो ऐसी दशा में स्मरणालङ्कार माना जाता है। [यह स्मरण कहीं तो एक ही जन्म के अनुभूत पदार्थों के और कहीं जन्मान्तर के अनुभूत पदार्थों के स्मरण द्वारा भी होता है।]

[एक ही जन्म के अनुभूत विषय के स्मरण का उदाहरण :—]

निम्ननाभिकुहरेषु यदम्भः प्लावितं चलदृशां लहरीभिः ।
तद्भवैः कुहरुतैः सुरनार्यः स्मारिताः सुरतकण्ठरुतानाम् ॥५५०॥

अर्थ—जलक्रीडा के समय चञ्चल नेत्रोंवाली अप्सराओं के गम्भीर नाभिच्छिद्र में जब तरङ्गों द्वारा प्रेरित जल भर गया तब उसकी 'कुह' इस प्रकार की ध्वनि से अप्सराओं को सुरतकाल की कण्ठध्वनियों का स्मरण हो आया।

यथा वा—

[जन्मान्तर के अनुभूत विषय के स्मरण का उदाहरण :—]

करजुअगहिअजसोआत्थणमुहविणिवेसिआहरपुडस्स ।
सम्भरिअपञ्चजण्णस्स णमह कण्हस्स रोमाञ्चम् ॥५५१॥

[छाया—करयुगगृहीतयशोदास्तनमुखविनिवेशिताधरपुटस्य ।
संस्मृतपाञ्चजन्यस्य नमत कृष्णस्य रोमाञ्चम् ॥]

अर्थ—दोनों हाथों से यशोदा जी के स्तनों के अग्रभागों को पकड़ कर अपने ओठों में लगाते हुए, जिन भगवान् श्रीकृष्ण जी ने पाञ्चजन्य नामक शङ्ख का स्मरण किया उन श्रीकृष्ण जी के रोमाञ्चित होने को प्रणाम कीजिये।

[भ्रान्तिमान् नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू०२००) भ्रान्तिमान् अन्य संवित्तत्तुल्यदर्शने ॥१३२॥

अर्थ—अप्रकृत पदार्थ के तुल्य किसी प्रकृत पदार्थ के देखने से जब उस अप्रकृत पदार्थ का ज्ञान हो तो वह भ्रान्तिमान् नामक अलंकार है।

तदिति अन्यदप्राकरणिकं निर्दिश्यते। तेन समानम् अर्थादिह प्राकरणिकम् आश्रीयते। तस्य तथाविधस्य दृष्टौ सत्यां यदप्राकरणिकतया संवेदनं स भ्रान्तिमान्। न चैष रूपकं प्रथमातिशयोक्तिर्वा तत्र वस्तुतो भ्रमस्याभावात् इह च अर्थानुगमनेन संज्ञायाः प्रवृत्तेः तस्य स्पष्टमेव प्रतिपन्नत्वात् उदाहरणम्

मूल कारिका मे तत् से तात्पर्य अप्राकरणिक (प्रकरण प्राप्त से भिन्न और कोई पदार्थ) से है, उसके समान अर्थात् यहाँ प्रकरण द्वारा प्राप्त पदार्थ ग्रहण किया जाय, वह प्रकरण प्राप्त पदार्थ जो वैसा (अप्राकरणिक की भाँति) दिखाई पड़े तो उस प्रकरण प्राप्त पदार्थ का अप्राकरणिक पदार्थ की भाँति दिखाई पड़ना ही भ्रान्तिमान् नामक अलङ्कार है। यह (भ्रान्तिमान्) न तो रूपक है और न प्रथम प्रकार की अतिशयोक्ति, क्योंकि उक्त दोनों प्रकार के अलङ्कारों मे वास्तव मे भ्रम नहीं रहता और यहाँ भ्रान्तिमान् नामक अलङ्कार मे शब्द की अर्थ-प्रतीत तथा नाम के व्यवहार से भी स्पष्टतया भ्रम की सिद्धि होती है।

उदाहरण :—

कपाले मार्जारः पय इति करान् लेढि शशिनः
तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी सकलयति।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति ॥५.९२॥

अर्थ—चन्द्रमा की किरणों को खोपड़ी मे पड़ी हुई देखकर बिलार उसे दूध समझ कर चाटने लगता है। वृक्षों के छिद्रों मे धंसी उन्हीं किरणों को हाथी कमल की डण्टल समझ कर छूने लगता है? पलङ्ग पर फैली हुई उन्हीं किरणों को सुरत व्यापार मे निवृत्त नग्नयुवती स्वच्छ वस्त्र समझ कर उठाने लगती है। बड़े आश्चर्य की बात है कि चन्द्रमा

अपनी ज्योति के कारण मतवाला होकर संसार के सभी लोगों के चित्त में भ्रम ही उत्पन्न करता रहता है।

[यहाँ पर स्वच्छता के कारण अप्रकृत दुग्ध आदि के तुल्य प्रकृत चन्द्र किरणों के दर्शन से दुग्ध आदि का ज्ञान सादृश्यजन्य भ्रान्ति है।]

[प्रतीप नामक अलङ्कार का लक्षण :—

(सू० २०१) आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।

तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥१३३॥

अर्थ—उपमान का यदि आक्षेप (निन्दावाद) किया जाय अथवा उसी उपमान के अनादर के लिए यदि उसकी उपमेयता कल्पित कर ली जाय तो इन दोनों दशाओं में प्रतीप नामक अलङ्कार होता है।

अस्य धुरं सुतरामुपमेयमेव वोढुं प्रौढमिति कैमर्थ्येन यदुपमानमाक्षिप्यते यदपि तस्यैवोपमानतया प्रसिद्धस्य उपमानान्तरविवक्षयाऽनादरार्थमुपमेयभावः कल्प्यते तदुपमेयस्योपमानप्रतिकूलवर्तित्वादुभयरूपं प्रतीपम्। क्रमेणोदाहरणम्—

इस उपमान के प्रयोजन का निर्वाह उपमेय ही के द्वारा भलीभाँति हो सकता है, अतएव इसका क्या प्रयोजन है? ऐसा कहकर जो उपमान का आक्षेप किया जाता है, यह एक प्रकार का प्रतीप है। उसी संसार प्रसिद्ध उपमान को किसी अन्य वस्तु का उपमान बनाने की इच्छा से अनादर के कारण जो उपमेय कल्पित कर लेते हैं—यह एक दूसरे प्रकार का प्रतीप हुआ। उक्त दोनों दशाओं में उपमेय के उपमान से प्रतिकूल (विरोधी) होने के कारण दो प्रकार का प्रतीप नामक अलङ्कार होता है। इनके क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं।

[प्रथम का उदाहरण :—]

लावण्यौकसि सप्रतापगरिमण्यग्रेसरे त्यागिनां
देव! त्वय्यवनीभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा।
इन्दुः किं घटितः किमेष विहितः पूषा किमुत्पादितं
चिन्तारत्नमहो मुधैव किममी सृष्टाः कुलक्ष्माभृतः ॥४४३॥

अर्थ—हे राजन्! सौन्दर्य के निवास-स्थान प्रतापी लोगों के बीच विशेष गौरवयुक्त और दानियों के शिरोमणि पृथ्वी का बोझ सँभालने के लिये समर्थ भुजदण्डवाले आपको जब विधाता ने उत्पन्न किया तो फिर चन्द्रमा को क्यो बनाया? सूर्य ही को क्यों रचा। चिन्तामणि नामक रत्न को क्यो उत्पन्न किया? अथवा व्यर्थ ही इन (महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान, ऋक्ष, विन्ध्य तथा पारियात्र नामक) सातों कुल पर्वतों के निर्माण का ही परिश्रम क्यों उठाया?

[यहाँ पर सौन्दर्य आदि गुणयुक्त राजा रूप उपमेय के रहते चन्द्रमा आदि उपमानों का निर्माण निरर्थक है—ऐसा आक्षेप प्रकट करने से पहला भेद हुआ। द्वितीय प्रकार के प्रतीपालङ्कार का उदाहरण :—

ए एहि दाव सुन्दरि कण्णं दाऊण सुणसु वअणिज्जम्।
तुज्ज मुहेण किसोअरि चंदो उअमिज्जइ जणेण ॥२२४॥

[छाया—अयि एहि तावत्सुन्दरि! कर्णं दत्वा श्रृणुष्व वचनीयम्।
तव मुखेन कृशोदरि! चन्द्र उपमीयते जनेन।]

अर्थ—हे सुन्दरि! तनिक इधर तो आओ! हे कृशोदरि! इस कलङ्क की बात को कान लगा कर सुनो। लोग तुम्हारे मुख की उपमा चन्द्रमा से देते हैं।

अत्र मुखेनोपमीयमानस्य शशिनः स्वल्पतरगुणत्वादुपमित्यनिष्पत्त्या 'वअणिज्जम इति' वचनीयपदाभिव्यंग्यस्तिरस्कारः।

यहाँ मुख के साथ जिसकी उपमा दी गई है, उस चन्द्रमा के अल्पगुण विशिष्ट होने से उपमिति (सादृश्य) की सिद्धि ही नहीं होती; अतएव वअणिज्जं [अर्थात् वचनीयं (कलङ्क वा अपवाद) इस पद से पूर्णतया अनादर प्रतीत होना है।

क्वचित्तु निष्पन्नैवोपमितिक्रिया अनादरनिबन्धनम्। यथा

कहीं-कहीं तो सिद्ध भी उपमिति की क्रिया अनादर का कारण होती है। जैसे निम्नलिखित उदाहरण मे :—

गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन किं वहसि मुग्धे !
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि ॥५५५

अर्थ—हे मूर्ख स्त्री ! तुम अपनी इन दोनो आँखों के कारण इतना अधिक (अपरिमित) घमण्ड क्यों करती हो ? सभी दिशाओं के सरोवरों में ऐसे-ऐसे नीलकमल नही हैं क्या ?

इहोपमेयीकरणमेवोत्पलानामनादरः । अनयैव रीत्या यदसामान्य-गुणयोगात् नोपमानभावमपि अनुभूतपूर्वि तस्य तत्कल्पनायामपि भवति प्रतीपमिति प्रत्येतव्यम् । यथा—

यहाँ पर नील कमलों का उपमेय बनाना ही उनका अनादर करना है । इस प्रकार जहाँ पर असाधारण गुणों के योग से उपमान भाव का पहले अनुभव ही नहीं किया गया है उसकी वैसी कल्पना करना भी प्रतीप नामक अलङ्कार समझना चाहिये । जैसे :—

अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल तात मास्म दृप्यः ।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम्॥५५६।

अर्थ—हे तात ! हालाहल (कालकूट विष) ! आप ऐसा घमण्ड मत कीजिये कि अत्यन्त दारुण पदार्थों मे मैं ही सब से बढ़कर गौरव विशिष्ट हूँ । आपके समान प्राणघातक तो इस ससार मे दुष्टों के अधिकाश वचन विद्यमान् हैं ।

अत्र हालाहलस्योपमानत्वमसम्भाव्यमेवोपनिबद्धम् ।

यहाँ हालाहल (विष) की उपमानता दुर्जनों के कठोर वचन के साथ असम्भव ही मानकर उल्लिखित की गई है और यही तिरस्कार का हेतु है ।

[सामान्य नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० २०२) प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥१३४॥

अर्थ—प्रधानतया वर्णनीय वस्तु के साथ अप्रस्तुत वस्तु का योग यदि इस प्रकार की गुण समता करके दिखाया जाय कि वे दोनों एक

ही से प्रतीत हों तो ऐसे स्थल में सामान्य नामक अलङ्कार स्मरण किया जाता है।

अताद्दशमपि ताद्दशतया विवक्षितुं यत् अप्रस्तुतार्थेन संपृक्तमपरित्यक्तनिजगुणमेव तदेकात्मतया निबध्यते तत्समानगुणनिबन्धनात्सामान्यम्। उदाहरणम्

जहाँ पर वास्तव में अप्रस्तुत वस्तु के समान प्रस्तुत वस्तु न भी हो और अप्रस्तुत वस्तु के समान कहने की इच्छा वक्ता की हो तो अप्रस्तुत वस्तु से सम्बद्ध अपने गुण का परित्याग बिना किये उसके साथ एक स्वरूप की भाँति जो प्रस्तुत वस्तु वर्णन की जाय तो समान गुण होने के कारण उस अलङ्कार का नाम सामान्य रखा गया है। उदाहरण :—

मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिताः
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचोरुचिरामलांशुकाः।
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः
प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः॥५२७॥

अर्थ—जब चन्द्रमा अपने प्रकाश को फैलाकर पृथ्वी को उज्ज्वल वर्ण कर रहा है, उस समय अपने शरीर को चन्दन रस से लिप्त करके नये मोतियो के हार से अलङ्कृत हो, अत्यन्त शुभ्र हाथी दाँत के कुण्डलों द्वारा मुख की चमक को विशेष उद्दीप्त कर, सुन्दर निर्मल वस्त्र पहिने हुए, चाँदनी में लीन हो जाने के कारण देख न पड़ती हुई, अभिसारिका नायिकाएँ निःशङ्क भाव से सुखपूर्वक अपने वल्लभों के निवास-स्थान को चली जा रही हैं।

अत्र प्रस्तुततदन्ययोरन्यूनानतिरिक्ततया निबद्धं धवलत्वमेकात्मताहेतुः अतएव पृथग्भावेन न तयोरुपलक्षणम्। यथा वा

यहाँ पर प्रस्तुत अभिसारिका और अप्रस्तुत चाँदनी – इन दोनों में न्यूनता वा आधिक्य का वर्णन न होने के रूप में कथन किया गया है। धवलत्व ही उन दोनों के एक रूप में कहे जाने का कारण है

अतएव उन दोनों की प्रतीति विलग-विलग करके नहीं होती है। सामान्य अलङ्कार का एक और उदाहरण:—

वेत्रत्वचा तुल्यरुचां वधूनां कर्णाग्रतो गण्डतलागतानि।
भृङ्गाः सहेलं यदि नापतिष्यन् कोऽवेदयिष्यन्नवचम्पकानि ॥५५८

अर्थ—वेत की छाल के समान चमकनेवाले, स्त्रियों के कानों के अग्रभाग से लटककर कपोलों तक पहुँचनेवाले, नये चम्पा के पुष्पों को कौन जान सकता? यदि उन पर खेल ही खेल मे भौंरे आकर न झुकते।

अत्रनिमित्तान्तरजनिताऽपि नानात्वप्रतीतिः प्रथमप्रतिपन्नमभेदं न व्युदसितुमुत्सहते प्रतीतत्वात्तस्य प्रतीतेश्च बाधायोगात्।

यहाँ कारणान्तर (भ्रमरों के झुकने रूप क्रिया) द्वारा अनेकत्व (भेद) की प्रतीति उत्पन्न होने पर भी पहिले जिस अभेद का ज्ञान उत्पन्न हुआ था वह टल नहीं सकता; क्योंकि उसकी प्रतीति हो चुकी है, और उस प्रतीति का बाध (अनुत्पत्ति) भी उपस्थित नहीं है।

[विशेष नामक अलङ्कार का लक्षण :—

(सू० २०३) विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥१३५॥
अन्यत् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥१३६॥

अर्थ—जहाँ पर विना किसी प्रसिद्ध (आधार) आश्रय के आधेय (आश्रित) की स्थिति कही जाय, एक वस्तु का एक ही समय मे समान भाव मे अनेक विषयो मे रहना तथा जब कर्ता कोई अन्य कार्य कर रहा हो उसी समय किसी अन्य अशक्य वस्तु की रचना उसी भाँति हो जाय तो इन तीनों अवस्थाओं मे तीन प्रकार का विशेष नामक अलकार स्मरण किया जाता है।

प्रसिद्धाधारपरिहारेण यत् आधेयस्य विशिष्टा स्थितिरभिधीयते स प्रथमो विशेषः। उदाहरणम्

विशेषालंकार का प्रथम भेद वह है जिसमे प्रसिद्ध आधार का परित्याग करके आधेय वस्तु की विशेपरूप से स्थिति कही जाय। उदाहरण:—

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्प गुणगणा येषाम्।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः ॥५५६॥

अर्थ—स्वर्ग मे चले जाने पर भी जिन की प्रचुर गुणगण विशिष्ट वाणी संसार के लोगो को कल्पपर्यंत मनभावनी बनी रहती है वे कवि वन्दना के योग्य क्यो न हों?

एकमपि वस्तु यत् एकेनैव स्वभावेन युगपदनेकत्र वर्तते स द्वितीयः उदाहरणम्

एक ही वस्तु जब समान भाव से अनेक वस्तुओं मे एक ही साथ रहे तब विशेष अलकार का दूसरा भेद होता है। उदाहरण :—

सा वसइ तुज्झ हिअए सा चिअ अच्छीसु साअ वअणेसु।
अह्मारिसाण सुन्दर ओसाओ कत्थ पावाणम् ॥५६०॥

[छाया—सा वसति तव हृदये सा चैवाक्षिषु सा च वचनेषु।
अस्मादृशीनां सुन्दर ! अवकाशः कुत्र पापानाम् ॥]

अर्थ—हे सुन्दर युवा पुरुष ! वही नायिका तुम्हारे हृदय में, वही तुम्हारी आँखों मे और वही तुम्हारे वचनो मे भी निवास करती है, मुझ सरीखी पापिनी स्त्रियों को वहाँ रहने का स्थान ही कहाँ मिल सकता है?

यदपि किंचिद्रभसेन आरभमाणस्तेनैव यत्नेनाशक्यमपि कार्यान्तर मारभते सोऽपरो विशेषः। यथा—

विशेषालङ्कार का तीसरा भेद वह है जहाँ वेगपूर्वक कोई कार्य आरम्भ किया गया हो और उसी यत्न से कर्त्ता द्वारा कोई अशक्य कार्य भी आरम्भ कर दिया जाय। जैसे :—

स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजताऽनवद्यविद्यम्।
विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च ॥५६१॥

अर्थ—हे राजन् ! चमकीले अद्भुत रूपवाले प्रतापाग्नि से उद्दीप्त शुद्ध विद्याविशिष्ट आपकी रचना करते समय विधाता ने संसार में सचमुच एक नया कामदेव, एक नया सूर्य और एक नया वृहस्पति भी रच डाला।

यथा वा—

[अथवा इसी तीसरे भेद का एक अन्य उदाहरण :—]

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां बत किं न मे हृतम् ॥५६२॥

अर्थ—[रघुवंश काव्य के आठवें सर्ग में इन्द्रमती की मृत्यु हो जाने पर उसी की चिन्ता में व्याकुल राजा अज कह रहे हैं—] हे इन्दुमति ! तू मेरी पत्नी, कल्याण की सम्मति देनेवाली, एकान्त की सहचरी, तथा सुन्दर कलाओं के सीखने में प्यारी शिष्या थी, ऐसी तुझ को, जो निर्दयकाल ने मुझसे छीन लिया तो बताओ उसने मेरा क्या नहीं छीन लिया ?

सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्। अतएवोक्तम्

सर्वत्र ऐसे विषयों में अतिशयोक्ति ही अत्यन्त प्रयोजनीय विषय रहती है; क्योंकि प्रायः विना अतिशयोक्ति के अलङ्कार हुआ ही नहीं करते, इसी कारण से (भामह ने) कहा भी है :—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥" इति

अर्थ—यही अतिशयोक्ति सर्वत्र वक्रोक्ति (विचित्र कथन) के रूप में रहा करती है तथा इसी वक्रोक्ति द्वारा अर्थ अलङ्कृत होता है। निदान कवि को उचित है कि इस विषय में (वक्रोक्ति रचना में) यत्न करे, क्योंकि इसके विना अलङ्कार ही किस काम का ?

[तद्गुण नामक अलङ्कार का लक्षण :—]

(सू० २०४) स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥१३७॥

अर्थ—वह अलङ्कार तद्गुण कहा जाता है जिसमे कोई न्यून गुण वाली प्रस्तुत वस्तु किसी अप्रस्तुत अत्यन्त उज्ज्वल (उत्कृष्ट) गुणवाले, पदार्थ गुणों को ग्रहण कर लेती है ।

वस्तु तिरस्कृतनिजरूपं केनापि समीपगतेन प्रगुणतया स्वगुणसंपदोपरक्तं तत्प्रतिभासमेव यत्समासादयति स तद्गुणः तस्याप्रकृतस्य गुणोऽत्रास्तीति । उदाहरणम्

जहाँ पर कोई वस्तु अपने वास्तविक रूप को छिपाकर किसी समीपस्थ विशेष गुणवाले पदार्थ के आत्मगुण सम्पत्ति द्वारा प्रभावान्वितवा सक्रान्तवर्ण होकर उसी के छायासदृश रूप को प्राप्त करे तो वहाँ पर तद्गुण नामक अलङ्कार होता है; क्योंकि उस अप्रकृत पदार्थ का गुण यहाँ प्रकृत पदार्थ में संक्रान्त हो जाता है, इस कारण से यह तद्गुण कहलाता है। उदाहरण:—

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या ।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥५६३॥

अर्थ—[माघ काव्य के चतुर्थ सर्ग में रैवतक गिरि के वर्णन मे सूर्य के अश्वों का वर्णन है—] जिस रैवतक नामक पर्वत पर पहिले चारों ओर फैलानेवाली अपनी शरीर की कान्ति से सारथी अरुण द्वारा भिन्न (लाल) रङ्गवाले होकर सूर्य के घोड़े, फिर बाँस के अकुर के सदृश नीले रङ्गवाली हरित मणियों के प्रकाश से अपने वास्तवि+ रङ्ग को पहुँचाये गये ।

अत्र रवितुरगापेक्षया गरुडाग्रजस्य तदपेक्षया च हरिन्मणीनां प्रगुणवर्णता ।

यहाँ सूर्य के घोड़ों की अपेक्षा अरुण का और अरुण की अपेक्षा हरित रङ्ग की मणियों का विशेष उज्ज्वल वर्ण रूप गुण वर्णन किया गया है ।

[अतद्गुण नामक अलङ्कार का लक्षण:—]

(सू० २०५) तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुणः ।

अर्थ—यदि प्रस्तुत पदार्थ उस उज्ज्वल गुण विशिष्ट अप्रस्तुत पदार्थ गुण का ग्रहण न करे तो अतद्गुण नामक अलङ्कार होता है।

यदि तु तदीयं वर्णं सम्भवन्त्यामपि योग्यतायां इदं न्यूनगुण न गृह्णीयात्तदा भवेदतद्गुणो नाम । उदाहरणम्

यदि उस अप्रस्तुत पदार्थ में ग्रहण योग्य अत्युज्ज्वल गुण वर्तमान भी हों और न्यून गुणवाला प्रस्तुत पदार्थ उसके गुण को न ग्रहण करे तो अतद्गुण नामक अलंकार होता है। उदाहरण,—

धवलोसि जहवि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रज्जिअं हिअअम् ।
राअभरिए वि हिअए सूहअ णिहित्तो ण रत्तोसि ॥५६४॥

[छाया—धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर ! तथापि त्वया ममरञ्जितं हृदयम् ।
रागभरितेऽपि हृदये सुभग ! निहितो न रक्तोऽसि ॥]

अर्थ—हे सुन्दर ! यद्यपि तुम गौरवर्ण के हो तथापि तुमने मेरे हृदय को रँग दिया है और हे सुभग ! यद्यपि मैंने तुम्हें राग (प्रेम) से पूरित अपने हृदय मे रख लिया था, तथापि तुम मुझमें अनुरक्त नहीं हुए।

अत्रातिरक्तेनापि मनसा संयुक्तो न रक्ततामुपगत इत्यतद्गुणः । किं च तदिति अप्रकृतम् अस्येति च प्रकृतमत्र निर्दिश्यते। तेन यदप्रकृतस्य रूपं प्रकृतेन कुतोऽपि निमित्तान्नानुविधीयते सोऽतद्गुण इत्यपि प्रतिपत्तव्यम् । यथा

यहाँ पर अत्यन्त रञ्जित (अनुरक्त) चित्त से युक्त होकर भी रक्तत्व (प्रेमान्वितत्व) को न प्राप्त हुआ—यह अतद्गुण अलंकार है। मूल कारिका में 'तत्' पद अप्रकृत के लिये और 'अस्य' पद प्रकृत के लिये भी योज्य हो सकता है। ऐसी दशा मे जो किसी कारण से प्रकृत (प्रस्तुत) पदार्थ ही अप्रकृत (अप्रतुत) पदार्थ के गुणों का अनुकरण न करे तो भी अतद्गुण नामक अलकार ही जानना चाहिये। जैसे:—

गांगमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।
राजहंस ! तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥५६५॥

अर्थ—हे राजहंस । गङ्गा जी का जल श्वेत है और यमुना जी का जल काजल की भाँति काला है; परन्तु इन दोनों नदियों में स्नान करने पर भी तुम्हारी उज्ज्वलता न तो घटती है और न बढ़ती है।

[व्याघात नामक अलंकार का लक्षण:—]

(सू० २०६) यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥१२८॥
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः ।

अर्थ—उस अलंकार का नाम व्याघात स्मरण किया गया है जिसमें किसी वस्तु को किसी कर्ता ने इस प्रकार सिद्ध किया हो और दूसरा कर्ता उसी वस्तु को उसी प्रकार से विजय लाभ की इच्छा से तद्विपरीत बना दे ।

येनोपायेन यत् एकेनोपकल्पितं तस्यान्येन जिगीषुतया तदुपायकमेव यदन्यथाकरणं स साधितवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद् व्याघातः । उदाहरणम्

जिस उपाय के द्वारा जो वस्तु किसी एक कर्ता ने सिद्ध की हो उसी को दूसरे कर्ता ने प्रथम कर्ता को विजित करने की इच्छा से उन्हीं उपायों द्वारा जो उससे विपरीत रूप कर दिया हो उसी को (निज साधित वस्तु के विनाश का कारण होने से) व्याघात नाम से पुकारते हैं । उदाहरण :—

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः ।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः ॥५६६॥

अर्थ—हम उन सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियों की प्रशंसा करते हैं, जो आँख द्वारा जलाये गये कामदेव को आँख ही द्वारा पुनरुज्जीवित करती हैं (अर्थात् भगवान शंकर के मस्तक की अग्नि द्वारा जलाये गये कामदेव को जो अपने कटाक्ष निःक्षेप मात्र से पुनरुज्जीवित कर देती हैं । और इस प्रकार महादेव जी को भी जीत लेनेवाली हैं ।

[इस प्रकार पृथक्-पृथक् शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का निरू-

पण करके अब उन दो प्रकार के मिश्रित अलङ्कारों का निरूपण किया जाता है जो दो वा कई अलङ्कारों के मेल से उत्पन्न होते हैं। उनमे से एक का नाम ससृष्टि और दूसरे का सङ्कर है। संसृष्टि का लक्षण :—]

(सू० २०७) सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ॥१३९॥

अर्थ—यदि कहीं इन अलङ्कारों में दो वा कई एक का ऐसा संयोग किया जाय कि उनमे से प्रत्येक भिन्न भिन्न-से प्रकट हों तो वैसे (तिल-तण्डुल सदृश) मेल का नाम लोगों को ससृष्टि इष्ट (अभिलाषित) है।

एतेषां समनन्तरमेवोक्तस्वरूपाणां यथासम्भवमन्योन्यनिरपेक्षतया यदेकत्र शब्दभागे एव अर्थविषये एव उभयत्रापि वा अवस्थानं सा एकार्थसमवायस्वभावा संसृष्टिः। तत्र शब्दालङ्कारसंसृष्टिर्यथा—

अभी ऊपर नवम और दशम उल्लासों में जिन शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों का स्वरूप कथन किया गया है यदि वे सब परस्पर एक दूसरे के निरपेक्ष (अनाश्रित) भाव से एकत्र हों—चाहे शब्दविषयक हों वा अर्थविषयक ही हों, अथवा शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार इन दोनों ही से युक्त हों तो वे एक ही वस्तु में समवाय (समूहालम्बन) स्वरूप से रहनेवाले स्वभाव के अलङ्कार संसृष्टि कहलाते हैं।

[उनमे से शब्दालङ्कार की संसृष्टि का उदाहरण :—]

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसम्भ्रमसम्भृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशान्यया ॥५६७॥

अर्थ—[माघ काव्य के छठें सर्ग में ऋतु वर्णन के अवसर पर उड़नेवाले भ्रमर से व्याकुल चित्तवाली किसी नायिका का यह वर्णन है—] मुख की सुगन्धि के लोभ से चारों ओर उड़नेवाले भौंरो के भ्रम से शङ्कित होने के कारण जिसके मुख की शोभा और भी बढ़ गई है जिसके चञ्चल नेत्र केशों के बीच झलक रहे थे ऐसी एक अन्य नायिका ने, चलते समय निज करधनी की कलकल ध्वनि की।

[यहाँ वृत्त्यनुप्रास और यमक नामक शब्दालङ्कारों की संसृष्टि है; क्योंकि इसमें ये दोनों अलङ्कार स्वतन्त्ररूप से प्रकट दिखाई देते हैं।]

अर्थालंकारसंसृष्टिस्तु—

अर्थालङ्कारों का संसृष्टि का उदाहरण :—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥५६८॥

[इस श्लोक का अर्थ इसी उल्लास में लिखा जा चुका है, देखिये पृष्ठ ३५४, ३५५,]।

[यहाँ पर परस्पर निरपेक्षभाव से उपमा और उत्प्रेक्षा नामक अर्थालङ्कारों की संसृष्टि है।]

पूर्वत्र परस्परनिरपेक्षौ यमकानुप्रासौ संसृष्टिं प्रयोजयतः उत्तरत्र तु तथा विधे उपमोत्प्रेक्षे। शब्दार्थलंकारयोस्तु संसृष्टिः।

[शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार—इन दोनों की एकत्र संसृष्टि का उदाहरण —]

सो णत्थि एत्थ गामे जो एअं महमहन्तलाअरणम्।
तरुणाण हिअअलूडि परिसक्कन्ती णिवारेइ ॥५६९॥

[छाया—स नास्त्यत्र ग्रामे य एतां सहमहायमानलावण्याम्।
तरुणानां हृदयलुण्ठाकीं परिष्वक्कमाणां निवारयति ॥]

अर्थ—इस ग्राम में ऐसा कोई भी नहीं है जो तरुण जनों के चित्तों को लूट लेनेवाली चटकती तथा चढ़ती युवावस्था की) सुन्दरता से विशिष्ट इधर उधर घूमती हुई इस नायिका का निवारण करे।

अत्रानुप्रासो रूपकं चान्योन्यानपेक्षे। संसर्गश्च तयोरेकत्र वाक्ये छन्दसि वा समवेतत्वात्।

यहाँ श्लोक के पूर्वार्द्ध में णत्थि, एत्थ आदि में 'त्थ' की आवृत्ति रूप छेकानुप्रास तो शब्दगत अलङ्कार है, और 'हृदयलुण्ठाकीं' यह रूपक नामक अर्थगत अलङ्कार। ये दोनों अनुप्रास और रूपक परस्पर निरपेक्ष (स्वतन्त्र) भाव ही से स्थित भी हैं, उनका संसर्ग तो बस इतना ही है कि दोनों एक ही श्लोक अथवा एक ही वाक्य में आ गये हैं।

[संकर नामक अलंकार तीन प्रकार का होता है। (१) अङ्गाङ्गि-

भाव विशिष्ट (अर्थात् एक प्रधान और एक अप्रधान), २) सन्दिग्ध—(कौन प्रधान ", कौन गौण इसका निश्चय जहाँ न हो), और (३) एक पद प्रतिपाद्य दशा विशिष्ट। इनमें से प्रथम अङ्गाङ्गिभाव विशिष्ट संकर अलङ्कार का लक्षण नीचे लिखा जाता है।]

(सू० २०८) अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः।

अर्थ—यदि ये अल ़ार एकत्र होकर भी परस्पर निरपेक्ष न हों; किन्तु अङ्गाङ्गिभाव (मुख्य और गौण अवस्था) को प्राप्त हो जायँ तो सङ्कर नामक अलङ्कार से गिने जावेंगे।

एते एव यत्रात्मनि अनासादितस्वतन्त्रभावाः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकतां दधति स एषां संकीर्यमाणस्वरूपत्वात्सकरः। उदाहरणम्

ऊपर कहे गये ये अलङ्कार जब परस्पर स्वतन्त्र भाव को प्राप्त नहीं करते, किन्तु एक दूसरे के अनुग्राह्यानुग्राहक भाव (उपकार्योपकारक या गौण-मुख्यावस्था) को धारण करते हैं तो परस्पर एक दूसरे से मिल जाने के कारण सङ्कर कहलाते हैं।

दो अलङ्कारों के अङ्गाङ्गिभाव रूप सङ्कर अलङ्कार का उदाहरण :—

आत्ते सीमन्तरत्ने मरकतिनि हृते हेमताटङ्कपत्रे।
लुप्तायां मेखलायां झटिति मणितुलाकोटियुग्मे गृहीते।
शोणं बिम्बोष्ठकान्त्या त्वदरिमृगदृशामित्वरीणामरण्ये।
राजन्! गुञ्जाफलाना स्रज इति शबरा नैव हारंहरन्ति ॥५७०॥

अर्थ—हे राजन्! किरातगण आपके शत्रुओं की स्त्रियों को वन में (आपके भय से इधर-उधर स्वच्छन्द) घूमती हुई पाकर उनके मरकत मणि युक्त सीमन्तरत्न (शिर के आभूषण) का पहले) छीन लेते हैं, (फिर) सुवर्ण के कर्णभूषणों को हर लेते हैं, (तत्पश्चात्) करधनी को तोड़ लेते हैं, (सब से पीछे) दोनो पैरों के नूपुरों को भी लूट लेते हैं, परन्तु उन (स्त्रियों) के हारों को घुंघची का बना हुआ समझकर नहीं झटक लेते; क्योंकि (मुख के नम्र होने से) लाल ओठों की चमक से हारों की गुड़ियाँ लाल घुंघची सी दिखाई पड़ती हैं।

अत्र तद्गुणापेक्ष्य भ्रान्तिमता प्रादुर्भूतं तदाश्रयेण च तद्गुणः सचेतसां प्रभूतचमत्कृतिनिमित्तमित्यनयोरङ्गाङ्गिभावः । यथा वा

यहाँ तद्गुण अलङ्कार के आश्रय पर भ्रान्तिमान् अलङ्कार प्रकट हुआ है और भ्रान्तिमान् अलङ्कार के आश्रय पर तद्गुण अलङ्कार सहृदय पाठकों के चित्त को बहुत चमत्कार से भर देता है; अतएव यहाँ इन दोनों तद्गुण और भ्रान्तिमान् नामक अलङ्कारों का अङ्गाङ्गि-भाव नाम सङ्कर है । इस स्थान पर अलंकार गौण या अङ्ग और भ्रान्तिमान् अलङ्कार मुख्य वा अङ्गी बनाया गया है ।

[अनेक अलंकारों के अङ्गाङ्गिभाव रूप सङ्कर अलङ्कार का अन्य उदाहरण :—]

जटाभाभिर्भाभिः करधृतकलङ्काक्षवलयो
वियोगिव्यापत्तेरिव कलितवैराग्यविशदः ।
परिप्रेङ्खत्तारापरिकरकपालाङ्किततले
शशी भस्मापाण्डुः पितृवन इव व्योम्नि चरति ॥५७१॥

अर्थ—जटाओं की पीली चमक की समान कान्तिधारी, हाथों (वा किरणों) में कलंकरूप रुद्राक्ष की माला लिये, विषयों (वा विरहियों) के विनाश जनित वैराग्य (वा ललाई) को धारणकर, स्वच्छ (वा उज्ज्वल वर्णवाला) चन्द्रमा शरीर में भस्म रमाए, पाण्डुवर्ण हो, योगी बन, चञ्चल ताराओं के समूह रूप कपालो (खोपड़ियों) से चिह्नित श्मशान सदृश आकाश में विचरण कर रहा है ।

उपमा रूपकम् उत्प्रेक्षा श्लेषश्चेति चत्वारोऽत्र पूर्ववत् अङ्गाङ्गितया प्रतीयन्ते ।

यहाँ उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और श्लेष—ये चारों अलंकार पूर्व के उदाहरण की भाँति अङ्गाङ्गिभाव (गौण मुख्य रूप से) से प्रतीत होते हैं ।

कलङ्क एवाक्षवलयमिति रूपकपरिग्रहे करधृतत्वमेव साधकप्रमाणतां प्रतिपद्यते। अस्य हि रूपकत्वे तिरोहितकलंकरूपं अक्षवलयमेव मुख्यतयाऽ

वगम्यते तस्यैव च करग्रहणयोग्यतायां सार्वत्रिकी प्रसिद्धिः। श्लेषच्छायया तु कलंकस्य करधारणं असदेव प्रत्यासत्त्या उपचर्य योज्यते शशांकेन केवल कलंकस्य मूर्त्यैव उद्वहनात्। कलंकोऽक्षवलयमिवेति तु उपमायां कलंकस्योत्कटतया प्रतिपत्तिः। न चास्य करधृतत्वं तत्त्वतोऽस्तीति मुख्येऽप्युपचार एव शरणं स्यात्।

इस श्लोक मे कलङ्क एवाक्षवलयम्' इस प्रकार से यदि रूपकालकार स्वीकार किया जाय तो 'करधृतत्व' (हाथ मे धारण करना) ही उसके साधक का प्रमाण उपस्थित होता है। इस रूपक अलंकार के स्वीकार कर लेने मे मुख्य अर्थ यही प्रतीत होता है कि अक्षवलय (जिसमें कलङ्क लुप्त है) ही की करग्रहण योग्यता (हाथ मे लिये जा सकने की योग्यता) सर्वत्र प्रसिद्ध है। श्लेषाङ्कार की छाया द्वारा कलङ्क का कर मे धारण न होते हुए भी सामीप्य सम्बन्ध से वह आरोपित करके लगाया जाता है (अर्थात् कर शब्द का अर्थ कर या किरणों के आधार भूत चन्द्रमण्डल से लिया जाता है) क्योंकि कलङ्क तो चन्द्रमा के बिम्ब द्वारा धारण किया जाता है कर द्वारा नहीं। यदि 'कलङ्कोऽक्षवलयमिति' ऐसी योजना से रूपक न मानकर उपमा ही स्वीकार करें तो कलङ्क ही की प्रधानतया प्रतीत उपस्थित होती है, परन्तु कलंक में में करधृतत्वरूप गुण वास्तव मे है ही नहीं। अतएव मुख्य शब्द कलंक में भी बिना उपचार (लक्षणा) द्वारा अर्थान्तर ग्रहण किए निर्वाह न होगा, अतः अगत्या रूपक ही स्वीकार करना पड़ेगा।

एवरूपश्च सकरः शब्दालंकारयोरपि परिदृश्यते। यथा

इस प्रकार का अङ्गाङ्गिभाव रूप सङ्कर शब्दालंकारों मे भी दिखाई पड़ता है। उदाहरण:—

राजति तटीयमभिहतदानवरासाऽतिपातिसारावनदा।
गजता च यूथमविरतदानवरा साऽतिपाति सारा वनदा।

अर्थ—[रत्नाकर कवि कृत हरविजय नामक काव्य के पाँचवे सर्ग मे पर्वत वर्णन के अवसर पर यह वर्णन किया गया है—] यह वह

शोणित स्थल है जहाँ राक्षसों के सिंहनाद बन्द हो गये हैं और जहाँ पर बड़े वेग से शब्द करते हुए नद बह रहे हैं। यहाँ पर निरन्तर मदजल के प्रवाहवाले श्रेष्ठ बलिष्ठ और वनों को खण्डित करनेवाले हाथियों का दल भी भली भाँति अपना रक्षा करता है।

अत्र यमकमनुलोमप्रतिलोमश्च चित्रभेदः पादद्वयगते परस्परापेक्षे।

यहाँ पर द्वितीय और चतुर्थ चरण में जो यमक और अनुलोम-प्रतिलोम नामक शब्दालङ्कार के चित्र भेद हैं वे भी परस्पर शोभा बढ़ाने के कारण एक दूसरे के सापेक्ष हैं। क्योंकि उनके स्वतन्त्र रहने में वैसा चमत्कार न आता। अतएव यह अङ्गाङ्गिभाव रूप संकर अलंकार केवल शब्दालंकार रूप उदाहरण है।

[सन्देह संकर का लक्षण:—]

(सू०२०४) एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ॥१४०॥

अर्थ— किसी एक अलंकार का ग्रहण करने में जहाँ साधक और बाधक दोनों प्रमाण नहीं रहते वहाँ अनिश्चय अर्थात् सन्देह रूप संकर नामक अलंकार होता है।

द्वयोर्बहूनां वा अलंकाराणामेकत्र समावेशेऽपि विरोधान्न यत्र युगपदवस्थानम्, न चैकतरस्य परिग्रहे साधकम्, न चेतरस्य वा परिहारे बाधकमस्ति येनैकतर एव परिगृह्येत स निश्चयाभावरूपो द्वितीयः संकरः समुच्चयेन संकरस्यैवाक्षेपात्। उदाहरणम्

दो अथवा बहुतेरे अलंकारों के एकत्र होने पर विरोध के कारण जब दोनों की एकत्र स्थिति नहीं हो सकती तथा उनमें से किसी एक के पक्षग्रहण के साधक प्रमाण नहीं मिलते और न तद्भिन्न के बाधक प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं, जिससे कोई एक पक्ष ग्रहण कर लिया जा सके तो निश्चय न होने से एक दूसरे ही प्रकार का सन्देह संकर नामक अलंकार होता है। मूलकारिका में 'च' शब्द से संकर अलंकार ही का ग्रहण होता है। दो अलंकारों के बीच सन्देह संकर का उदाहरण:—

जह गहिरो जह रअणणिब्भरो जह अ णिम्मलच्छाओ।
तह किं विहिणा एसो सरसवाणीओ जलणिही ण किओ ॥५७३॥

[छाया—यथा गंभीरो यथा रत्ननिर्भरो यथा च निर्मलच्छायः।
तथा किं विधिना एष सरसपानीयो जलनिधिर्न कृतः ॥]

अर्थ—ब्रह्मा ने समुद्र को जैसा गहरा, रत्नपूर्ण और स्वच्छ कान्ति-वाला बनाया है वैसा ही उसे स्वादिष्ट जलवाला नहीं बनाया ?

अत्र समुद्रे प्रस्तुते विशेषणसाम्यादप्रस्तुतार्थप्रतीतेः किमसौ समासोक्तिः किमब्धेरप्रस्तुतस्य मुखेन कस्यापि तत्तुल्यगुणतया प्रस्तुतस्य प्रतीतेः इयमप्रस्तुतप्रशंसा इति सन्देहः। यथा वा

यहाँ पर समुद्रवर्णन प्रस्तुत है, परन्तु विशेषणों की समता से किसी अप्रस्तुत पदार्थ की प्रतीति का उत्पादक यह समासोक्ति नामक अलंकार है अथवा अप्रस्तुत समुद्र पदार्थ के वर्णन द्वारा तत्समान गुणवाले किसी अन्य की प्रतीति का जनक यह अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार तो नहीं है ? इस प्रकार का सन्देह उपस्थित होता है।

[कतिपय अलंकारों के बीच सन्देह संकर का उदाहरण :—]

नयनानन्ददायीन्दोर्बिम्बमेतत्प्रसीदति।
अधुनापि निरुद्धाशमविशीर्णमिदन्तमः॥५७४॥

अर्थ—आँखों को आनन्द देनेवाला यह चन्द्रबिम्ब झलक रहा है; परन्तु अब तक आशाओं (दिशाओं वा मनोरथों) को छेकनेवाला तम (अँधेरा वा मोह) नष्ट नहीं हुआ।

अत्र किं कामस्योद्दीपकः कालो वर्तते इति भङ्ग्यन्तरेणाभिधानात्पर्यायोक्तम् उत वदनस्येन्दुबिम्बतयाऽध्यवसानादतिशयोक्तिः किं वा एतदिति वक्त्रं निर्दिश्य तद्रूपारोपवशाद्रूपकम् अथवा तयोः समुच्चयविवक्षायां दीपकम् अथवा तुल्ययोगिता किमु प्रदोषसमये विशेषणसाम्यादाननस्यावगतौ समासोक्तिः आहोस्विन्मुखनैर्मल्यप्रस्तावादप्रस्तुतप्रशंसा इति बहूनां सन्देहादयमेव संकरः।

क्या यह कामोद्दीपक समय है ? प्रकारान्तर से ऐसा वर्णन करने

के कारण यहाँ पर्यायोक्त नामक अलकार है, अथवा चन्द्रबिम्ब मे मुख पूर्णतया निगीर्ण हो जाने से अतिशयोक्ति है, किंवा 'यह' ऐसा मुख को निर्देश करके चन्द्र मे मुख का आरोपरूप रूपक अलंकार है, वा उन दोनों का एक साथ कथन करने से दीपक अलंकार हो गया है, अथवा सायंकाल के समय मे विशेषण को समता द्वारा मुख का ज्ञान कराने मे समासोक्ति तो नहीं है, वा मुख की निर्मलता का वर्णनरूप अप्रस्तुत-प्रशंसा नामक अलंकार ही तो नहीं है—इस प्रकार अनेक अलंकारों के विषय मे निश्चयाभावरूप सन्देह होने से यह भी सन्देह सकर नामक अलंकार कहा जा सकता है।

यत्र तु न्यायदोषयोरन्यतरस्यावतारः तत्रैकतरस्य निश्चयान्न संशयः। न्यायश्च साधकत्वमनुकूलता दोषोऽपि बाधकत्वं प्रतिकूलता। तत्र

जहाँ पर कि न्याय (साधक) और दोष (बाधक) के प्रमाणों में से किसी एक की भी उपस्थिति हो जाती है वहाँ तो सन्देह नहीं रहता। न्याय=साधक प्रमाणों की अनुकूलता और दोष=बाधक प्रमाणों की प्रतिकूलता। फिर—

'सौभाग्यं वितनोति वक्त्रशशिनो ज्योत्स्नेव हासद्युतिः॥'५७१॥

अर्थ—जैसे चाँदनी चन्द्रमा के लावण्य को छिटकाती है वैसे ही हँसी की चमक मे मुख की शोभा भी बढ़ जाती है।

इत्यत्र मुख्यतयाऽवगम्यमाना हासद्युतिर्वक्त्रे एवानुकूल्यं भजते इत्युपमायाः साधकम् शशिना तु न तथा प्रतिकूलेति रूपक प्रति तस्या अबाधकता।

इस उदाहरण मे यहाँ पर मुख्य रीति से ज्ञानगोचर होनेवाली हँसी की चमक मुख ही की अनुकूलता को प्राप्त होती है। यह 'वक्त्रं शशीव' में उपमा अलंकार के साधक प्रमाण है और 'वक्त्रमेवशशी' मे वैसे ही चन्द्रमा के प्रतिकूल भी नहीं है। अतएव रूपक अलकार की बाधकता भी नहीं है।

[एक अन्य उदाहरण:—]

'वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्यतः ॥'५७६॥

[अर्थ—आपके मुखचन्द्र के वर्तमान रहते हुए भी यह दूसरा शीत किरण वाला (चन्द्रमा) उदय हुआ है।

इत्यत्रापरत्वमिन्दोरनुगुणं न तु वक्त्रस्य प्रतिकूलमिति रूपकस्य साधकतां प्रतिपद्यते न तूपमाया बाधकताम्

यहाँ अपरत्व यह चन्द्रमा के पक्ष में ठीक है और मुख के सम्बन्ध में विरुद्ध भी नहीं पड़ता। अतः यह रूपक अलकार का साधक होता है न कि उपमा का बाधक होता हैं। ऐसे ही—

'राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम् ॥'५७७॥

अर्थ—राजा रूप नारायण के समान आपको लक्ष्मी दृढतापूर्वक आलिङ्गन करती है।

इत्यत्र पुनरालिंगनमुपमां निरस्यति सदृशं प्रति परप्रेयसीप्रयुक्तस्यालिङ्गनस्यासम्भवात्।

उक्त उदाहरण मे आलिङ्गन शब्द उपमा की सिद्धि का बाधक है, क्योंकि नारायण सदृश पुरुष के सम्बन्ध मे नारायण की धर्मपत्नी लक्ष्मी का आलिंगन असम्भव प्रतीत होता है, और,

'पादाम्बुज भवतु नो विजयाय मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः, ॥५७८॥

अर्थ—सुन्दर नूपुरों की झनकार से मनोहर पार्वती जी का चरण कमल हम लोगों को विजय देनेवाला हो।

इत्यत्र मञ्जीरशिंजितम् अम्बुजे प्रतिकूलम् असम्भवादिति रूपकस्य बाधकम् न तु पादेऽनुकूलमित्युपमायाः साधकमभिधीयते विध्युपमर्दिनो बाधकस्य तदपेक्षयोत्कटत्वेन प्रतिपत्तेः। एवमन्यत्रापि सुधीभिः परीक्ष्यम्।

उपर्युक्त उदाहरणों में नूपुरों की झनकार कमल के प्रतिकूल होने से असम्भव है, इसलिए रूपक अलकार की बाधक है और न तो यह चरण के अनुकूल होने से उपमा की साधक ही मानी जा सकती है। क्योंकि विधि के खण्डन करनेवाले रूपकालकार के बाधक कारण को

(उपमा के साधक कारणों की अपेक्षा) अधिक प्रामाणिकता है। इसी रीति से अन्य उदाहरणों में भी चतुर लोग यथोचित जाँच करके निर्णय कर लें।

[तृतीय प्रकार के संकर अलंकार का निरूपण :—]

(सू० २१० स्फुटमेकत्रविषये शब्दार्थालङ्कृतिद्वयम्।
व्यवस्थितं च

अर्थ—जहाँ एक ही अभिन्न पद में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों एक साथ उपस्थित हों वहाँ (अङ्गाङ्गिभाव और सन्देह से भिन्न) एक तीसरे प्रकार का सङ्कर अलङ्कार होता है।

अभिन्ने एव पदे स्फुटतया यदुभावपि शब्दार्थालङ्कारौ व्यवस्थां समासादयतः सोऽप्यपरः संकरः। उदाहरणम्

एक ही अभिन्न पद में जहाँ पर शब्दालङ्कार और अर्थालंकार—दोनों ही स्पष्ट रूप से स्थान पावें वहाँ एक अन्य प्रकार का (तीसरा) संकरालंकार होता है।

[तीसरे प्रकार के संकरालंकार का उदाहरण :—

स्पष्टोल्लसत्किरणकेसरसूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम्।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतारबद्धान्धकारमधुपावलि संचुकोच ॥५७६॥

अर्थ—जिसकी स्पष्ट झलकती हुई किरणें किञ्जल्क (पराग) हैं ऐसा सूर्य का बिम्ब ही जिसका बीजकोश है—वैसा दिन रूप कमल आठों दिशा रूप पत्तों के समूह को परस्पर सटाकर रात्रि आरम्भ के सञ्चार से अन्धकार रूप भ्रमरावली को अपने में बन्द करके मुँद गया।

अत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ।

यहाँ पर एक ही अभिन्न पद (अर्थात् 'किरणकेसरसूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिक' और 'दिग्दलकलाप'—इन दोनों समस्त पदों) में एक साथ ही रूपक नामक अर्थालंकार और अनुप्रास नामक शब्दालंकार भी उपस्थित है।

(सू० २११) तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः ॥१४१॥

अर्थ—इस प्रकार यह संकर अलंकार तीन प्रकार का कहा गया है।

तदयमनुग्राह्यानुग्राहकतया सन्देहेन एकपदप्रतिपाद्यतया च व्यवस्थितत्वास्त्रिप्रकार एव संकरो व्याकृतः। प्रकारान्तरेण तु न शक्यो व्याकर्तुम् आनन्त्यात्तत्प्रभेदानामिति प्रतिपादिताः शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यजुषोऽलंकाराः।

सो यह (१) अनुग्राह्यानुग्राहक रूपविशिष्ट (२) सन्देह विशिष्ट और (३) एकपद प्रतिपाद्य दशा युक्त होकर तीन प्रकार का संकर अलंकार निरूपित किया गया। भिन्न-भिन्न प्रकार से लेखा लगाने पर अगणित प्रकार के भेदों के उपस्थित हो जाने के कारण किसी अन्य प्रकार से इनका निरूपण किया भी नहीं जा सकता। शब्दगत अलङ्कार, अर्थगत अलङ्कार और शब्दार्थोभयगत अलङ्कार। इस प्रकार मिश्रित अलङ्कारों के तीन प्रकार के भेद ऊपर प्रदर्शित कर दिये गये, जो काव्य विषय में निपुण सहृदय व्यक्तियों के समझने योग्य हैं।]

कुतः पुनरेष नियमो यदेतेषां तुल्येऽपि काव्यशोभातिशयहेतुत्वे कश्चिदलंकारः शब्दस्य कश्चिदर्थस्य कश्चिचोभयस्येति चेत् उक्तमत्र यथा काव्ये दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थोभयगतत्वेन व्यवस्थायामन्वयव्यतिरेकावेव प्रभवत निमित्तान्तरस्याभावात्। ततश्च योऽलङ्कारो यदीयान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलङ्कारो व्यवस्थाप्यते इति। एवं च यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयाऽलंकारौ तथा शब्दहेतुकार्थान्तरन्यासप्रभृतयोऽपि द्रष्टव्याः। अर्थस्य तु तत्र वैचित्र्यम् उत्कटतया प्रतिभासते इति वाच्यालंकारमध्ये वस्तुस्थितिमनपेक्ष्यैव लक्षिताः। योऽलंकारो यदाश्रित स तदलंकार इत्यपि कल्पनायाम् अन्वयव्यतिरेकावेव समाश्रयितव्यौ। तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्याभावादित्यलंकाराणां यथोक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्यायान्।

यदि पूछिये कि फिर यह नियम कहाँ से बना कि कोई अलङ्कार तो शब्दगत, कोई अर्थगत और कोई उभयगत माना जाय जब कि काव्य की शोभा बढ़ानेवाले सभी अलङ्कार एक-से होते हैं? इस प्रश्न

का उत्तर तो अभी नवम उल्लास मे दिया जा चुका है कि दोष, गुण और अलङ्कार के सम्बन्ध मे नियमपूर्वक शब्द, अर्थ और दोनों (शब्दार्थों) मे रहने के कारण ही उनका शब्दगत, अर्थगत और उभयगत भेद स्वीकृत हुआ है। निदान शब्द और अर्थ के अन्वय और व्यतिरेक द्वारा नामोल्लेख के प्रकरण मे इनका भेद उपस्थित होता है; क्योंकि इसके अतिरिक्त नाम के भेदों का नियामक कोई और कारण हो ही नहीं सकता। अतएव जिस अलङ्कार के साथ जिस शब्द या अर्थ का अन्वय या व्यतिरेक हो वही उस अलङ्कार के नामकरण का कारण होगा। इसी प्रकार पुनरुक्तवदाभास और परम्परित रूपक नामक अलङ्कारो में दोनों (शब्द और अर्थ) के सम्बन्ध के उपस्थित रहने से दोनों मे प्राप्त अलङ्कारता के कारण—ये उभयालङ्कार माने जाते हैं। ऐसे ही शब्द हेतुक अर्थान्तरन्यास आदि अलङ्कारों को भी समझना चाहिये। वहाँ पर विशेष रूप से अर्थ की विचित्रता प्रकट होती है; अतएव वस्तुस्थिति की अपेक्षा न करके उनकी गणना अर्थालङ्कार ही में कर दी गई है। जो अलङ्कार जिसके आश्रित है वह उसी के नाम से प्रसिद्ध है—ऐसी कल्पना करने पर भी अन्वय और व्यतिरेक ही का सहारा लेना पड़ेगा। उन अन्वय और व्यतिरेक के सहारे से भिन्न कोई और प्रकार का आश्रय आश्रयी सम्बन्ध मिलता ही नहीं है, इस कारण मे यही जो ऊपर अन्वय और व्यतिरेक निबन्धन शब्दगत और अर्थगत अलङ्कारों के नामकरण के नियम परस्पर के भेदों के बतलानेवाले कहे गये हैं, वे ही अधिक समीचीन हैं।

[उक्त रीति से अलङ्कारों का विभाग शब्दगत, अर्थगत और शब्दार्थोभयगत के नाम से तीन प्रकार का सिद्ध हुआ। अब अलङ्कारों के दोषों के विषय मे ग्रन्थकार कहते हैं कि—]

(सू० २१२) एषां दोषा यथायोगं सम्भवन्तोऽपि केचन।
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिताः ॥१४२॥

अर्थ—इन अलकारों के दोष कई प्रकार के हो सकते हैं, ये यथा-

सम्भव सप्तम उल्लास मे निर्दिष्ट दोषों के अन्तर्गत हैं और कहे भी जा चुके हैं। इस कारण से उनका पृथक् निरूपण नहीं किया गया।

तथाहि। अनुप्रासस्य प्रसिद्ध्यभावो वैफल्यं वृत्तिविरोध इति ये त्रयो दोषाः ते प्रसिद्धिविरुद्धताम् अपुष्टार्थत्वम् प्रतिकूलवर्णतां च यथाक्रमं न व्यतिक्रामन्ति तत्स्वभावत्वात्। क्रमेणोदाहरणम्

उदाहरण के लिये जैसे अनुप्रास के तीन दोष हैं (१) प्रसिद्ध्यभाव—(जैसी प्रसिद्धि न हो वैसा कथन, (२) वैफल्य—(जिस कथन में कोई चमत्कार न हो), (३) वृत्तिविरोध—(जिस कथन मे किसी रीति के प्रतिकूल उदाहरण हों)। उक्त तीनों दोष क्रमशः (१) प्रसिद्धिविरुद्ध (२) अपुष्टार्थत्व और (३) प्रतिकूलवर्णता—इन तीनों के अन्तर्गत हैं; क्योंकि उनके तथा इनके लक्षण परस्पर मिलते हैं। क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं।

[प्रसिद्ध्यभाव रूप अनुप्रास दोष का उदाहरण :—]

चक्री चक्रारपंक्तिं हरिरपि च हरीन् धूर्जटिर्धूर्ध्वजाग्रान्
अक्षं नक्षत्रनाथोऽरुणमपि वरुणः कूबराग्रं कुबेरः।
रंहः सङ्घः सुराणां जगदुपकृतये नित्ययुक्तस्य यस्य
स्तौति प्रीतिप्रसन्नोऽन्वहमहिमरुचेःसोऽवतात्स्यन्दनो वः ॥५८०॥

अर्थ—[मयूर कवि कृत सूर्यशतक नामक ग्रन्थ मे सूर्य वर्णन किया गया है—] भगवान् सूर्य का वह रथ तुम्हारी रक्षा करे, जो लोकोपकार के लिये सदा जुता रहता है, जिसके चक्र के अर के पङ्क्ति की प्रशंसा विष्णु, घोडों की इन्द्र, पताका के अग्रभाग की शिव, धुरी की चन्द्रमा, हाँकनेवाले अरुण की वरुण, जुए के अग्रभाग की कुबेर और वेग की देवताओं का समूह सदा प्रसन्न रहकर किया करते हैं।

अत्र कर्तृकर्मप्रतिनियमेन स्तुतिः अनुप्रासानुरोधेनैव कृता न पुराणेतिहासादिषु तथा प्रतीतेति प्रसिद्धिविरोधः।

यहाँ कर्ता और कर्म के क्रमपूर्वक नियम का उल्लेख केवल अनुप्रास के अनुरोध से किया गया है न कि पुराण या इतिहासादि में

इस प्रकार की किसी बात का कहीं पर उल्लेख पाया जाता है, अतएव यह अनुप्रास प्रतीत के विरुद्ध है।

[वैफल्य रूप अनुप्रास के दोष का उदाहरण :—]

भण तरुणि रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि।
यदि सल्लीलोल्लापिनि गच्छसि तत्किं त्वदीयं मे ॥५८१॥
अनणुरणन्मणिमेखलमविरतशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम्
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥५८२॥

अर्थ—[पति गृह को जाने का निश्चय करनेवाली नायिका से उपनायक (जार) कह रहा है—] हे आनन्द का रस टपकानेवाली, मनोहर चन्द्रमा की छवि के समान मुखवाली, मधुरभाषिणि, लाल चरणोंवाली, तरुणी! यदि तू अपने पति के घर को जाती है तो अत्यन्त शब्द करनेवाली मणियों की करधनी के और निरन्तर झन-झनाते हुए नूपुरों के श्रवण तर्पण शब्द से युक्त तुम्हारा यह गमन क्यों अचानक मेरे चित्त में उत्कण्ठा उत्पन्न करता है? इसे बतलाओ।

अत्र वाच्यस्य विचिन्त्यमानं न किंचिदपि चारुत्वं प्रतीयते इत्यपुष्टार्थत्वैवानुप्रासस्य वैफल्यम्।

यहाँ वाच्य अर्थ समझने में कुछ भी चमत्कार नहीं विदित होता। इस प्रकार का अपुष्टार्थत्व ही अनुप्रास के वैफल्य का कारण है।

[वृत्तिविरोधरूप अनुप्रास दोष का उदाहरण :—]

'अकुण्ठोत्कण्ठया' इति। अत्र शृङ्गारे परुषवर्णाडम्बरः पूर्वोक्तरीत्या-विरुध्यत इति परुषानुप्रासोऽत्र प्रतिकूलवर्णतैव वृत्तिविरोधः।

'अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम्। कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर॥' इस श्लोक का अर्थ सप्तम उल्लास में लिखा जा चुका है। यहाँ शृङ्गार रस के प्रकरण में कठोर अक्षरों की भरमार ऊपर कही गई रीति से विरुद्ध पड़ती है। इस प्रकार कठोर अक्षरों का अनुप्रास प्रतिकूलवर्णता के कारण रीति विरोध का उदाहरण है।

यमकस्य पादत्रयगतत्वेन यमनमप्रयुक्तत्वं दोषः । यथा

यदि यमक नामक शब्दालङ्कार श्लोक के केवल तीन ही चरणों में रखा जाय तो वहाँ अप्रयुक्त नामक दोष होता है । जैसे :—

भुजङ्गमस्येव मणिः सदम्भा ग्राहादतीर्णेव नदी सदम्भाः ॥
दुरन्ततां निर्णयतोऽपि जन्तोः कर्षन्ति चेतः प्रसभं सदम्भाः ॥५८३॥

अर्थ—मनोहर कान्तिवाली सर्पमणि, मगरों से भरा हुआ नदी का स्वच्छ जल और कपटी लोग, परिणाम का अनर्थ जाननेवाले जीव के भी चित्त को बल-पूर्वक अपनी ओर खींच लेते हैं ।

उपमायामुपमानस्य जातिप्रमाणगतन्यूनत्वं अधिकता वा तादृशी अनुचितार्थत्वं दोषः । धर्मांशये तु न्यूनाधिकत्वे यथाक्रम हीनपदत्वमधिकपदत्वं च न व्यभिचरतः । क्रमेणोदाहरणम्

यदि उपमा नामक अलङ्कार के प्रकरण में जाति और प्रमाण में न्यूनता वा अधिकता हुई तो अनुचितार्थत्व नामक दोष होता है और यदि साधारण धर्म में कहीं न्यूनाधिक्य हुआ तो क्रम से हीनपदत्व और अधिकपदत्व नामक दोष होता है । आगे क्रमशः इनके उदाहरण दिये जाते हैं ।

[जाति विषयक न्यूनता रूप अनुचितार्थत्व दोष का उदाहरण—]

चण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम् ॥५८४॥

अर्थ—तुम लोगों ने चाण्डालों की भाँति बड़ा साहस किया ।

[प्रमाणगत न्यूनतारूप अनुचितार्थत्व दोष का उदाहरण :—]

वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति ॥५८५॥

अर्थ—यह सूर्य आग की चिनगारी की भाँति चमकता है ।

[जातिगत अधिकता रूप अनुचितार्थत्व दोष का उदाहरण:—]

अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते ।
युगादौ भगवान् वेधा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ॥५८६॥

अर्थ—कमल के आसन पर बैठा हुआ यह चक्रवाक पक्षी इस प्रकार शोभित हो रहा है, मानो युगों के प्रारम्भकाल में प्रजाओं की

सृष्टिरचना की इच्छा से विशिष्ट विधाता (ब्रह्मा) हों।

[प्रमाणगत आधिक्य रूप अनुचितार्थत्व दोष का उदाहरण :—]

पातालमिव ते नाभिः स्तनौ क्षितिधरोपमौ।
वेणीदण्डः पुनरयं कालिन्दीपातसन्निभः ॥२८७॥

अर्थ—यह तुम्हारी नाभि पाताल के समान गहरी है, दोनों स्तन पर्वतों के समान (ऊँचे) हैं और बालों की वेणी यमुना की कालीधारा के समान है।

अत्र चण्डालादिभिरुपमानैः प्रस्तुतोऽर्थोऽत्यर्थमेव कदर्थित इत्यनुचितार्थता।

ऊपर के उदाहरणों मे चण्डाल आदि उपमान के साथ प्रस्तुत पदार्थ की उपमा अत्यन्त तिरस्कृत होने से अनुचित है अतः दोष विशिष्ट है।

[साधारण धर्मगत न्यूनता का हीनपदत्व दोष में समावेश होता है। उदाहरण :—]

स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन्।
व्यराजन्नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवांशुमान् ॥२८८॥

अर्थ—वे मुनि मूँज का जनेऊ पहिने तथा कृष्णसार मृग का चर्म ओढ़े हुए ऐसे सुशोभित हुए जैसे नीले रङ्ग के मेघखण्ड से युक्त सूर्य चमकते हों।

अत्रोपमानस्य मौञ्जीस्थानीयस्तडिल्लक्षणो धर्मः केनापि पदेन न प्रतिपादित इति हीनपदत्वम्।

यहाँ पर उपमान रूप सूर्य मे मूँज के जनेऊ के स्थानापन्न बिजली-रूप धर्म का उल्लेख किसी शब्द द्वारा नहीं किया गया है। अतएव यह हीनपदत्व का उदाहरण हुआ।

[धर्मगत आधिक्य का अधिक पदत्वरूप दोष मे उदाहरण :—]

स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः
शतह्रदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः॥२८९॥

अर्थ—पीताम्बर ओढे और हाथ मे सींग का धनुष लिये भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे मनोहर और भयानक शरीरवाले हो गये मानो बिजली और इन्द्रधनुष से युक्त चन्द्रमा सम्बन्धी मेघ हो।

अत्रपमेयस्य शङ्खादेरनिर्देशे शशिनो ग्रहणमतिरिच्यते इत्यधिकपदत्वम्।

यहाँ पर उपमेय रूप श्रीकृष्ण जी के वर्णन मे शङ्ख का उल्लेख नहीं किया गया और उपमानगत साधारण धर्म मे चन्द्र का उल्लेख अधिक कर दिया गया, अतः साधारण धर्मगत आधिक्यवाला अधिकपदत्वरूप दोष हुआ।

लिङ्गवचनभेदोऽपि उपमानोपमेययोः साधारणं चेत् धर्ममन्यरूपं कुर्यात्तदा एकतरस्यैव तद्धर्मसमन्वयावगतेः सविशेषणस्यैव तस्योपमानत्वमुपमेयत्वं वा प्रतीयमाननेन धर्मेण प्रतीयते इति प्रक्रान्तस्यार्थस्य स्फुटनिर्वाहादस्य सभग्नप्रक्रमरूपत्वम्। यथा

यदि उपमान और उपमेय इन दोनों में प्राप्त साधारण धर्मों में लिङ्ग और वचन का ऐसा भेद हो कि साधारण धर्म का रूप किसी अन्य प्रकार का बन जाय तो एक ही (उपमेय वा उपमान ही) के धर्म के साथ उसके समन्वय का ज्ञान उत्पन्न होने से विशेषणयुक्त उसकी उपमानता वा उपमेयता ही प्रकट होनेवाले धर्म द्वारा विदित हो सकेगी—ऐसी अवस्था मे प्रकृत अर्थ के यथोचित रूप से ज्ञान न होने के कारण यहाँ भग्नप्रक्रम नामक दोष उपस्थित होगा। उनमे से लिङ्गभेद रूप दोष का उदाहरण :—

चिन्तारत्नमिव च्युतोऽसि करतो धिङ्मन्दभाग्यस्य मे ॥२९०॥

अर्थ—हा! तुम मुझ मन्दभाग्य के हाथ से चिन्तामणि की भाँति खिसक पड़े।

[यहाँ पर 'च्युत' विशेषण पुल्लिङ्ग होने के कारण 'त्व' ही के साथ अन्वित होगा न कि रत्न के साथ भी, जो नपुंसक लिङ्ग है।]

[वचनभेद रूप दोष का उदाहरण :—]

सक्तवो भक्षिता देव शुद्धाः कुलवधूरिव ॥२६१॥

अर्थ—हे राजन् ! मैंने शुद्ध आचरणवाली कुलवधू के समान पवित्र सत्तू का भोग किया है।

[यहाँ पर 'भक्षिताः' इस बहुवचन का 'कुलवधू' इस एक वचन के साथ अन्वय ठीक नहीं बैठता।]

यत्र तु नानात्वेऽपि लिङ्गवचनयोः सामान्याभिधायि पदं स्वरूपभेदं नापद्यते न तत्रै तद्दूषणावतारः उभयथापि अस्यानुगमयोग्यस्वभावत्वात्। यथा—

यदि लिङ्ग और वचन का भेद होने पर भी कहीं साधारण धर्म का वाचक पद ऐसा हो कि व्याकरण के नियमानुसार रूप भेद न होता हो तो वहाँ पर दोष उपस्थित न होगा; क्योंकि दोनों अवस्थाओं में एक ही रूप से कार्य निर्वाह होने की योग्यता बनी ही रहती है। लिङ्ग-भेद होने पर भी जहाँ प्रक्रमभङ्गरूप दोष उपस्थित नहीं होता ऐसा उदाहरण :—

गुणैरनर्घ्यैः प्रथितो रत्नैरिव महार्णवः ॥२६२॥

अर्थ—हे महाराज ! आप अपने अमूल्य गुणों से वैसे ही प्रसिद्ध हैं जैसे रत्नों से महासमुद्र।

[यहाँ पर गुण और रत्न शब्द भिन्न-भिन्न लिङ्गवाले होने पर भी तृतीया बहुवचन में एक सदृश रूपवाले हैं इस कारण भग्नप्रक्रम दोष नहीं है। वचन भेद होने पर भी जहाँ प्रक्रमभङ्गरूप दोष उपस्थित न हो—ऐसा उदाहरण :—]

तद्वेशो सदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः।
दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥२६३॥

अर्थ—माधुर्य से परिपूरित उस नायिका के शृङ्गार वेश उसी के हावभाव के समान अत्यन्त शोभायुक्त थे। उन्हें और स्त्रियाँ नहीं पा सकीं।

[यहाँ यदि 'भृ' धातु से 'क' प्रत्यय मानें तो 'भृत' एकवचन हो

सकता है और यदि 'क्विप्' प्रत्यय मानें तो बहुवचन भी हो सकता है। एवं 'दधते' को यदि 'दध धारणे' का रूप माने तो एकवचन और यदि 'डुधाञ्' का रूप मानें तो बहुवचन हो सकता है अतः यहाँ 'तद्वेश' यह उपमेय (एकवचन) और 'विभ्रमाः' यह उपमान (बहुवचन) 'असदृश'. 'मधुरताभृत्' और 'दधते'—इन शब्दों के दोनों वचनों मे एक रूप बने रहने के कारण अन्वय म समर्थ हैं, इस कारण वचनगत भेद रहने पर भी यहाँ भग्नप्रक्रम रूप दोष नहीं हुआ।

कालपुरुषविध्यादिभेदेऽपि न तथा प्रतीतिरस्खलितरूपतया विश्रान्तिमासादयतीत्यसावपि भग्नप्रक्रमतयैव व्याप्तः। यथा

काल, पुरुष, विधिलिङ् और आज्ञा आदि लकारों के भेद के कारण भी निर्दोष रूप से अर्थज्ञान की परिणति नहीं होती, अतएव यहाँ पर भी भग्नप्रक्रम नामक दोष की विद्यमानता माननी चाहिये। कालभेद के कारण भग्नप्रक्रम दोष का उदाहरणः—

अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रं साप कुमुद्वती।
पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥५१४॥

अर्थ—रानी कुमुद्वती ने काकुत्स्थ (कुश) से अतिथि नामक पुत्र को वैसे ही प्राप्त किया जैसे रात के पिछले पहर द्वारा बुद्धि विकास को प्राप्त करती है।

अत्र चेतना प्रसादमाप्नोति न पुनरापेति कालभेदः।

यहाँ पर 'चेतना प्रसाद को प्राप्त करती है' ऐसा वर्तमान काल होना उचित है न कि 'भूलकाल की चेतना ने प्रसाद को प्राप्त किया।' इस प्रकार कालभेद के कारण यहाँ भग्नप्रक्रम नामक दोष हुआ।

[पुरुषभेद के कारण भग्नप्रक्रम दोष का उदाहरण :—]

प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तमूर्त्तिः कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता।
विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती बालप्रवालविटपप्रभवा लतेव ॥५१५॥

अर्थ—हे सखि! नवीन स्नान (जलसेचन) द्वारा पवित्र शरीरवाली, कुसुम्भ के फूल के समान लाल रङ्ग के सुन्दर वस्त्रप्रान्तवाली,

तू मकरकेतन (कामदेव वा समुद्र) की पूजा करती हुई (शोभा बढ़ाती हुई), नये पत्ते फूटते हुए वृक्ष की शाखा में स्थित लता के समान सुशोभित हो रही है।

अत्र लता विभ्राजते न तु विभ्राजसे इति सम्बोध्यमाननिष्ठस्य परभागस्य असम्बोध्यमानविषयतया व्यत्यासात्पुरुषभेदः।

यहा पर 'लता विभ्राजते' इस प्रकार अन्यपुरुष होना उचित था न कि 'विभ्राजसे' ऐसा मध्यमपुरुष का रूप। मध्यमपुरुष का उपयोग सम्बुद्ध पुरुष (त्वं) के लिये तो ठीक है; परन्तु लता के लिये नहीं; क्योंकि लता शब्द का सम्बोध्य न होने से अन्य-पुरुष ही में है। अतएव इन मध्यम और अन्य पुरुषों के विपर्यय से यह पुरुषभेद के कारण भग्नप्रक्रम दोष का उदाहरण प्रदर्शित किया गया।

[विधिभेद रूप दोषवाले प्रक्रमभङ्ग का उदाहरण :—]

गङ्गेव प्रवहतु ते सदैव कीर्तिः ॥५६६॥

अर्थ—आपकी कीर्ति सदा गङ्गा जी की भाँति बहती रहे।

इत्यादौ च गङ्गा प्रवहति न तु प्रवहतु इति अप्रवृत्तप्रवर्त्तनात्मनो विधेः। एवं जातीयकस्यचान्यस्यार्थस्य उपमानगतस्यासम्भवाद्विध्यादिभेदः।

उपर्युक्त उदाहरण मे 'गङ्गा जी बहती हैं' ऐसा होना चाहिये न कि 'गङ्गा जी बहती रहें' ऐसा विधिवाक्य कहना उचित होगा। क्योंकि विधि का विधान वहाँ नहीं होता जहाँ कार्य मे प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार की विधि गङ्गा जी के सम्बन्ध मे नहीं कही जा सकती; क्योंकि वह तो पूर्वकाल ही से (वक्ता के कथन के बहुत पहले ही से) बह रही हैं। इसी प्रकार के अन्यान्य उदाहरणों मे भी उपमानगत गुण की असम्भावना से विधि आदि के भेदों के कारण भग्नप्रक्रम दोष उपस्थित होते है।

ननु सन्तानम् उच्चारित प्रतीयमानं वा धर्मान्तरमुपादाय पर्यवसितायामुपमायामुपमेयस्य प्रकृतधर्माभिसम्बन्धाच्च कश्चित्कालादिभेदोऽ-

स्ति। यत्राप्युपात्तेनैव सामान्यधर्मेण उपमाऽवगम्यते यथा 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति' इति तत्र युधिष्ठिर इव सत्यवाद्यय सत्यं वदतीति प्रतिपत्स्यामहे। सत्यवादी सत्यं वदतीति च न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम् रैपोषं पुष्णातीतिवत् युधिष्ठिर इव सत्यवदनेन सत्यवाद्ययमित्यर्थावगमात्। सत्यमेतत् किन्तु स्थितेषु प्रयोगेषु समर्थनमिदन्नतु सर्वथा निरवद्यम् प्रस्तुतवस्तुप्रतीतिव्याघातादिति सचेतस एवात्र प्रमाणम्।

अब यहाँ पर शङ्का यह उठती है कि जब कुछ साधारण धर्म जो शब्दबोध्य अथवा व्यंग्य हों और जिनके आधार पर उपमा सिद्ध होती है, वे उपमेय मे भी प्रक्रान्त विषय के साधारण धर्म से सम्बद्ध होने के कारण उचित ही समझे जाते हैं तो काल आदि के भेद की कोई अपेक्षा (आवश्यकता) मानना निरर्थक है। जहाँ पर शब्दबोध्य साधारण धर्म द्वारा उपमा की प्रतीति होती है, जैसे इन उदाहरणों में कि 'वह युधिष्ठिर के समान सत्य है' तो वहाँ पर यह तात्पर्य स्वीकार किया जाता है कि 'युधिष्ठिर के समान सत्यवादी वह व्यक्ति सच बोलता है।' यदि कहो कि 'सत्यवादी होकर सच बोलता है' ऐसा कहना पुनरुक्ति दोष युक्त है तो उसका तो यह उत्तर है—'रैपोपं पुष्णाति' अर्थात् (वह) 'धन पोषण द्वारा (उसका) पोषण करता है' इस उदाहरण की भाँति युधिष्ठिर के समान सच बोलने के कारण यह पुरुष सत्यवादी है—ऐसा ही अर्थ निकलता है। बात तो ठीक है, परन्तु ऐसा उन प्रयोगों के समर्थन के लिए कहा जाता है जो पहले से विद्यमान हैं न कि वे नितान्त निर्दोष हैं, क्योंकि प्रस्तुत पदार्थ के ज्ञान में बाधक होते ही हैं। ऐसी अवस्था मे सहृदय लोग ही स्वय (काल, वचन आदि के भेद के कारण भग्नप्रक्रम दोष स्वीकारार्थ) प्रमाण-स्वरूप हैं।

असादृश्यासम्भवावप्युपमायाम् अनुचितार्थायामेव पर्यवस्यतः। यथा

उपमा विषयक असादृश्य और असम्भावना भी अनुचितार्थत्वरूप दोष में परिणत होती है। उदाहरण :—

अथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ॥५६७॥

अर्थ—मैं अर्थरूप किरण फैलानेवाले काव्यरूप चन्द्रमा को ग्रथित करता हूँ।

अत्र काव्यस्य शशिना अर्थानां च रश्मिभिः साधर्म्यं कुत्रापि न प्रतीतमित्यनुचितार्थत्वम्।

यहाँ पर काव्य का चन्द्रमा के साथ और अर्थ का किरणों के साथ साधर्म्य (समान गुण क्रिया होने की अवस्था) कहीं भी ज्ञानगम्य नहीं, अतएव अनुचितार्थ है।

[असम्भावनारूप उपमा में अनुचितार्थत्व का उदाहरण :—]

निपेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः।
जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्धभाजः परिवेषिणोऽर्कात् ॥५६८॥

अर्थ—धनुर्मण्डल के मध्य में स्थित उस राजा के मुख से प्रज्वलित बाण इस प्रकार गिरे जैसे मध्याह्न काल के गोल सूर्य में से जलती हुई जलधारा बह चले।

अत्रापि ज्वलन्त्योऽम्बुधाराः सूर्यमण्डलान्निष्पतन्त्यो न सम्भवन्तीत्युपनिबध्यमानोऽर्थोऽनौचित्यमेव पुष्णाति।

यहाँ पर भी सूर्यमण्डल से जलती हुई जलधारा का बह चलना सम्भव नहीं अतः इस प्रकार वर्णन किया गया विषय अनुचितार्थत्व दोष ही का समर्थक है।

उत्प्रेक्षायामपि सम्भावनं ध्रुवेवादय एव शब्दा वक्तुं सहन्ते न यथाशब्दोऽपि केवलस्यास्य साधर्म्यमेव प्रतिपादयितुं पर्याप्तत्वात् तस्य चास्यासन्निवेशितत्वादिति तत्राशक्तिरस्यावाचकत्वं दोषः। यथा—

उत्प्रेक्षा नामक अलङ्कार में भी ध्रुव, इव इत्यादि शब्द ही सम्भावना का बोध करा सकते हैं न कि यथा शब्द भी, क्योंकि केवल यथादि शब्द साधर्म्य मात्र को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं उत्प्रेक्षा के प्रकरण में उनका कथन निष्प्रयोजन है। अतएव यथा शब्द में उत्प्रेक्षा विषयक सम्भावना के ज्ञान के उत्पन्न करने की शक्ति ही नहीं

है। निदान ऐसे उदाहरणों में 'अवाचकत्व' दोष उपस्थित होता है। जैसे—

उद्ययौ दीर्घिकागर्भान्मुकुलं मेचकोत्पलम्।
नारीलोचनचातुर्यशङ्कासकुचित यथा ॥५९९॥

अर्थ—बावली के भीतर से चिकना कमल ऐसा मुँदा हुआ निकला मानो स्त्री की आँखों की चतुरता के सामने लज्जा से सकुचित हो गया हो।

उत्प्रेक्षितमपि तात्त्विकेन रूपेण परिवर्जितत्वात् निरुपाख्यप्रख्य तत्समर्थनाय यदर्थान्तरन्यासोपादानं तत् आलेख्यमिव गगनतलेऽत्यन्तमसमीचीनमिति निर्विषयत्वमेतस्यानुचितार्थतैव दोषः। यथा—

उत्प्रेक्षा में सम्भावित पदार्थ वास्तव रूप का न होने के कारण शशविषाण (खरगोश की सींग) आदि की भाँति सर्वदा असत्य होता है और यदि उसके समर्थन के लिए अर्थान्तरन्यास की सहायता ली जाय तो वह भी आकाशतल मे चित्रलेखन की भाँति बहुत ही भद्दा होगा; क्योंकि वैसी असम्भावना का कोई आधार ही नहीं है। अतएव यहाँ पर भी अनुचितार्थत्व दोष होता है। उदाहरण :—

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीन दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसामतीव ॥६००॥

अर्थ—[कुमारसम्भव के प्रथम स्वर्ग मे यह हिमालय का वर्णन है—] जो (वह) हिमालय पर्वत दिन मे मानो सूर्य से डरकर अपनी गुफाओं में छिपे हुए अन्धकार की रक्षा करता है। बड़े लोग अपनी शरण में आये हुए क्षुद्र पुरुष पर भी अत्यन्त ममत्व दिखलाते हैं।

अत्राचेतनस्य तमसो दिवाकरात्त्रास एव न सम्भवतीति कुत एव तत्प्रयोजितम द्रिणा परित्राणम्। सम्भावितेन तु रूपेण प्रतिभासमानस्यास्य न काचिदनुपपत्तिरवतरतीति व्यर्थ एव तत्समर्थनायां यत्नः।

यहाँ अचेतन जो अंधकार है उसे सूर्य से भय होना ही सम्भव नहीं, फिर पर्वत के लिये भय से उसके परित्राण की चर्चा कैसी?

सम्भावित रूप से इस अर्थप्रतीति मे तो कोई बाधा उपस्थित नहीं होती; परन्तु उसके समथन करने का प्रयास तो नितान्त निरर्थक है।

साधारणविशेषणवशादेव समासोक्तिरनुक्तमपि उपमानविशेषं प्रकाशयतीति तस्यात्र पुनरुपादाने प्रयोजनाभावात् अनुपादेयत्वं यत्तत् अपुष्टार्थत्वं पुनरुक्तं वा दोषः। यथा

समासोक्ति नामक अलङ्कार के प्रकरण मे साधारण विशेषणों के ही बल से शब्दों द्वारा न कहा गया उपमान विशेष प्रकट हो जाता है फिर उस उपमान विशेष का ग्रहण (शब्द द्वारा कथन) निष्प्रयोजन है, अतः अनुपादेय है। इस (निरर्थक शब्द द्वारा कथन रूप) दोष की गणना अपुष्टार्थता वा पुनरुक्ति में होती है। उदाहरणः—

स्पृशति तिग्मरुचौ ककुभः करैर्दयितयेव विजृम्भिततापया।
अतनुमानपरिग्रहया स्थितं रुचिरया चिरयापि दिनश्रिया॥६०१॥

अर्थ—जब सूर्य ने अपने करों (किरणों) द्वारा दिशाओं का स्पर्श किया तब बढे हुए सन्तापवाली दिवस लक्ष्मी ने प्राणप्यारी नायिका की भाँति चिरकाल तक बड़ा मान ग्रहण कर रखा।

अत्र तिग्मरुचेः ककुभां च यथा सदृशविशेषणवशेन व्यक्तिविशेषपरिग्रहेण च नायकतया नायिकात्वेन च व्यक्तिः तथा ग्रीष्मदिवसश्रियोऽपि प्रतिनायिकात्वेन भविष्यतीति किं दयितयेति स्वशब्दोपादानेन।

यहाँ पर समान विशेषण के कारण सूर्य और दिशाओं का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष पर घटित होने के कारण नायक और नायिका रूप से प्रगट हो रहा है, वैसे ही ग्रीष्म दिवस लक्ष्मी का भी प्रतिनायिकात्व सिद्ध हो जायगा। अतएव 'दयितया' ऐसे शब्द के कहने का कुछ भी प्रयोजन नहीं था।

श्लेषोपमायास्तु स विषयः यत्रोपमानस्योपादानमन्तरेण साधारणेष्वपि विशेषणेषु न तथा प्रतीतिः। यथा

श्लेषोपमा तो प्रकरण में होती है जहाँ उपमान का ग्रहण न किया जाय और साधारण विशेषणों के द्वारा भी उसकी प्रतीति न हो,

जैसा कि पूर्वोदाहरण मे। श्लेषोपमा का उदाहरण:—

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता।
प्रभातसंन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥६०२॥

[इस श्लोक का अर्थ नवम उल्लास में लिखा जा चुका है। देखिये पृष्ठ २५०]

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि उपमेयमनयैव रीत्या प्रतीतं न पुनः प्रयोगेण कदर्थतां नेयम्। यथा

अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार में भी इसी प्रकार उपमेय की प्रतीति हो जाती है, अतः शब्दों का प्रयोग करके उसे बिगाड़ना न चाहिये। जैसे :—

आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते
मध्येवारिधि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां रुचम्।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विना
धिक् सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥६०३॥

अर्थ—वस्तुओं के यथार्थ तत्त्व को न जाननेवाले ज्ञानशून्य प्रभु की भाँति ऐसे सामान्य अर्थात् जाति को धिक्कार है, जिसमे कि पक्षियों को न्यौता देने पर आगे आनेवाला मच्छड़ (पक्षधारी होने के कारण) नहीं रोका जाता, तृणमणि (घुँघची) भी समुद्र मे रहनेवाली मणियों के बीच मणियों की भाँति (मणित्व जाति के कारण) चमकती है, तेजस्वी लोगों के मध्य मे स्थित जुगनू भी (तेजस्वी जाति के कारण) आने में नहीं काँपता।

अत्राचेतनस्य प्रभोरप्रस्तुतविशिष्टसामान्यद्वारेणाभिव्यक्तौ न युक्तमेव पुनः कथनम्।

यहाँ अप्रस्तुत विशेषण युक्त सामान्य के द्वारा ज्ञानशून्य प्रभु रूप उपमान की प्रतीति हो ही जाती है, इसलिये शब्द द्वारा उसका कथन निष्प्रयोजन ही था।

तदेतेऽलङ्कारदोषाः यथासम्भविनोऽन्येऽप्येवंजातीयकाः पूर्वोक्तयैव दोषजात्याऽन्तर्भाविताः न पृथक् प्रतिपादनमर्हन्तीति सम्पूर्णमिदं काव्य-लक्षणम् ॥

उक्त अलङ्कारों के दोष और इसी प्रकार के अन्य दोषों का, जिनका कि होना सम्भव हो सकता है, इन्हीं दोषों मे पहिले कही गई रीति के अनुसार, समावेश हो जाता है। अतएव इनका पृथक् निरूपण नहीं किया गया। इस प्रकार काव्य-लक्षण का निरूपण समाप्त हुआ।

इत्येषमार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता संघटनैव हेतुः ॥१॥

इति काव्यप्रकाशेऽर्थालङ्कारनिर्णयो नाम दशम उल्लासः।

ऊपर कही गई रीति से भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न भी मत, जो अभिन्न (एक ही)-से प्रतीत होते हैं, सो कोई अद्भुत बात नही है। केवल उन भिन्न-भिन्न मतों का एकत्र करके चतुरतापूर्वक जोड़-तोड़ बैठा देना मात्र इसका कारण है। इस प्रकार काव्यप्रकाश नामक ग्रन्थ में अर्थालङ्कार निर्णय नामक दशम उल्लास समाप्त हुआ।

समाप्त